

# बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन

(एकभवावतारी पूज्य आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. कृत बड़ी साधु वन्दना पर विवेचनात्मक प्रवचन)

(प्रथम भाग)

संयम शिरोमणि आगम-विवेचक पण्डितरत्न उपाध्यायप्रवर  
श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. प्रवचन प्रभावक स्वाध्याय एवं १२ व्रतों के प्रेरक  
अणुपेहा ध्यान प्रणेता डॉ. श्री पदमचन्द्र जी म. सा. के महिला बाग, जोधपुर के  
यशस्वी एवं ऐतिहासिक चातुर्मास में प्रदत्त प्रवचन



❀ प्रवचनकार ❀

जयगच्छीय दशम पट्टधर आचार्यप्रवर श्री लालचन्द्र जी म. सा. के सुशिष्य  
डॉ. श्री पदमचन्द्र जी म. सा.

❀ सम्पादक ❀

पुखराज मोहनोत, जोधपुर



❀ प्रकाशक ❀

श्री जयमल जैन पार्श्व-पद्मोदय फाउण्डेशन, चेन्नई

श्री जयमल जैन पार्श्व-पद्मोदय फाउण्डेशन, चेन्नई का प्रथम पुष्प

- बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन (प्रथम भाग)  
विद्वद्मनीषी डॉ. श्री पदमचन्द्र जी म. सा. द्वारा वि. सं. २०५३  
के महिला बाग, जोधपुर चातुर्मास में प्रदत्त प्रवचन
- वरदहस्त :  
जयगच्छाधिपति आचार्यप्रवर श्री शुभचन्द्र जी म. सा.
- प्रेरणा :  
संयम शिरोमणि आगम-विवेचक पण्डितरत्न उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा.
- प्रवचनकार :  
डॉ. श्री पदमचन्द्र जी म. सा. (एम. ए., पी-एच. डी.)
- सम्पादक :  
पुखराज मोहनोत, जोधपुर
- प्रथम संस्करण : वि. सं. २०५५, चैत्र, मार्च १९९८, ३,३०० प्रतियाँ
- द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०६०, वैशाख, मई २००३, २,२०० प्रतियाँ
- तृतीय संस्करण : वि. सं. २०६२, फाल्गुन, मार्च २००६, १,५०० प्रतियाँ
- चतुर्थ संस्करण : वि. सं. २०६६, भाद्रपद सुद, अगस्त २०१२, १,५०० प्रतियाँ
- प्रकाशन एवं प्राप्ति-स्थान :  
श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन ट्रस्ट  
C/o, Vijay Singh Pincha, 9, Travelian Basin Street,  
Sowcarpet, Chennai-600 079. Mob. : 09884497000
- मुद्रण-व्यवस्था :  
संजय सुराना  
द्वारा पद्मोदय प्रकाशन  
ए-7, अवागढ़ हाउस, अंजना सिनेमा के सामने,  
एम. जी. रोड, आगरा-282 002  
फोन : (0562) 2851165, 9319203291
- मूल्य :  
450/- रुपये
- सर्वाधिकार सुरक्षित—श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन, चेन्नई

---

नोट—प्रवचनांश, चित्र आदि की नकल करने पर कानूनी कार्यवाही की जायेगी।

# समर्पण

तप, स्वाध्याय, साहित्यसर्जना में  
सदा अप्रमत्त, निर्मल चारित्र-आराधना में  
सतत जागरूक विनय, सरलता एवं निर्भीकता के  
मूर्तिमान्, स्वरूप चर्चा-चक्रवर्ती, भीष्म प्रतिज्ञाधारी,  
परम श्रद्धेय युगप्रधान एकभवावतारी आचार्यसम्राट्  
**पूज्य श्री जयमल जी म. सा.** एवं उनकी पावन  
पट्ट-परम्परा के प्रभावक **आचार्य श्री रायचन्द जी म.,**  
**आचार्य श्री आसकरण जी म., आचार्य श्री सबलदास**  
**जी म., आचार्य श्री हीराचन्द जी म., आचार्य श्री**  
**करतूरचन्द जी म., आचार्य श्री भीकमचन्द जी म.,**  
**आचार्य श्री कानमल जी म., आचार्य श्री**  
**जीतमल जी म.** तथा जय परम्परा के दशम  
प्रभावक **आचार्य श्री लालचन्द जी म. सा.** की  
पुनीत स्मृति में  
सश्रद्धा-सभक्ति समर्पित ।

विनयावनत—  
**डॉ. मुनि पदमचन्द्र**

**श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन,  
चेन्नई**

**वंश परम्परागत ट्रस्टी :**

<b>अध्यक्ष</b>	:	श्री ज्ञानचन्द जी मुणोत, चेन्नई
<b>उपाध्यक्ष</b>	:	श्री अमरचंद जी बोकडिया, चेन्नई श्री भंवरलाल जी लोढ़ा, चेन्नई श्री नरेन्द्रकुमार जी मरलेचा, चेन्नई
<b>कोषाध्यक्ष</b>	:	श्री विजयसिंह जी पींचा, चेन्नई
<b>मंत्री</b>	:	श्री ए. एन. प्रकाशचंद जी बोहरा, चेन्नई
<b>सहमंत्री</b>	:	श्री शांतिलाल जी बोहरा, चेन्नई श्री निर्मल जी कांकरिया, जोधपुर

**ट्रस्टी**

- |  |   |
|--|---|
| <input type="checkbox"/> श्री चैनराज जी गोटावत, बैंगलोर  | <input type="checkbox"/> श्री रिखबचंद जी बोहरा, चेन्नई    |
| <input type="checkbox"/> श्री धरमचंद जी लूंकड़, चेन्नई   | <input type="checkbox"/> श्री उत्तमचन्द जी बाघमार, ईरोड   |
| <input type="checkbox"/> श्री गौतमचन्द जी रुणवाल, चेन्नई | <input type="checkbox"/> श्री उत्तमचंद जी बोकडिया, चेन्नई |
| <input type="checkbox"/> श्री गौतमचन्द जी बाघमार, ईरोड   |   |



## प्रकाशकीय प्रकाश

एकभवावतारी प्रातः स्मरणीय भीष्म प्रतिज्ञाधारी चर्चा चक्रवर्ती चारित्र चूड़ामणि युग-प्रधान पूज्य गुरुदेव आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित 'बड़ी साधु वन्दना' को आज के युग की अमृत संजीवनी काव्य गुटिका कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। परमारारध्य वीतरागी अध्यात्म-पुँज रूप महापुरुषों का पावन स्मरण करने से किसका मन आह्लादित नहीं होगा ? फिर इतनी भाव-प्रवण कविता और सरस-तरल लय में जब यह गायी जाती है तो एक समा बँध जाता है। भक्तिभाव धारा का प्रवाह उमड़ने लगता है और श्रोताओं का मन-मानस झूमने लगता है।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् परम पूज्य श्री जयमल जी म. सा. के ग्याहरवें पट्टधर आचार्यप्रवर श्री शुभचन्द्र जी म. सा. के आज्ञानुवर्ती संयम शिरोमणि आगम-विवेचक पं. रत्न उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. तथा अणुप्पेहा ध्यान प्रणेता स्वाध्याय एवं १२ व्रतों के प्रबल प्रेरक डॉ. श्री पद्मचन्द्र जी म. सा. ठाणा २ का वि. सं. २०५३, सन् १९९६ का चातुर्मास जोधपुर श्रुताचार्य चौथ भवन, महिला बाग स्थानक में सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में डॉ. श्री पद्मचन्द्र जी म. सा. ने प्रातःकालीन प्रवचन में 'बड़ी साधु वन्दना' पर अपने प्रभावपूर्ण प्रवचन अत्यन्त ही रोचक, आकर्षक तथा प्रवाहपूर्ण शैली में प्रदान किये। इन्हें सुनने के लिए दूर-दूर से श्रोतागण खिंचे हुए से आते थे और प्रवचन सुनकर प्रफुल्लित होकर कहते—“ऐसा आनन्द कभी नहीं आया।” समाज के अनेक वरिष्ठ श्रावकों का कहना था कि हम 'बड़ी साधु वन्दना' का स्वाध्याय तो रोज ही करते हैं, परन्तु इसका भाव और रहस्य पहली बार हृदयंगम कर रहे हैं, ऐसे प्रवचन सुनकर तो लगता है रोज ही इन पावन पुरुषों का स्मरण-पठन करते रहें तो जीवन धन्य हो जाय।

अनेक श्रावक-श्राविकाओं की भावना थी कि इन ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण प्रवचनों का ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन हो तो एक स्थायी साहित्य-निधि बन जायेगी और आने वाले समय में इन प्रवचनों का श्रवण करने से वंचित जो रह गये, वे भी लाभान्वित होंगे। वाणी से कृति का महत्त्व अधिक व्यापक व चिरंतन रूप लेता है। अतः सभी श्रद्धाशील श्रावक समुदाय की भावना का समादर करते हुए श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ, जोधपुर ने श्री पुखराज जी मोहनोत को मुनिश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का महनीय दायित्व सौंपा। मोहनोत जी ने अत्यन्त ध्यानपूर्वक नित्य-प्रति इन प्रवचनों का संकलन कर पूर्ण निष्ठा, उत्कण्ठा

एवं श्रमपूर्वक सम्पादन किया। डॉ. मुनिश्री के प्रवचन तो पूर्ण रूप से आगम आधारित होते हैं, वे आगम के प्रबल पक्षधर हैं। प्रवचन लेखन-संपादन में कहीं त्रुटि रह गयी हो तो वह संकलनकर्ता का प्रमाद समझें तथा सूचित करावें ताकि नयी आवृत्ति में सुधार किया जा सके।

**बड़ी साधु वंदना-प्रवचन** संकलन में श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ महामन्दिर, पीपाड़ एवं सियाट का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा। पाँचों की प्रथम आवृत्ति श्री जयमल जैन मैमोरियल ट्रस्ट ( श्री सुगनचंद जी गुगलिया ), चेन्नई के द्वारा प्रकाशित की गई, जिसकी माँग अत्यधिक रही। प्रत्येक सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी रही। अत्यधिक माँग को देखते हुए तृतीय आवृत्ति श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन, चेन्नई के द्वारा प्रकाशित की गई है। मुद्रण-व्यवस्था के लिए जैन समाज के ख्याति-प्राप्त विद्वान् श्रीयुत् श्रीचंद जी सुराणा को तथा उनके सुपुत्र उत्साही युवक श्री संजय जी सुराणा को प्रवचनों के सचित्र मुद्रण प्रबंधन का उत्तरदायित्व सौंपा।

२१ प्रवचनों का यह संग्रह '**बड़ी साधु वंदना-प्रवचन**' प्रथम भाग के रूप में प्रकाशित किया गया। **द्वितीय भाग** में उससे आगे के २९ प्रवचन प्रकाशित किए गये हैं। **तृतीय भाग** में प्रवचन ५१ से ६० तक प्रकाशित किए गये हैं। पर्युषण पर्व के प्रसंग के प्रवचन होने से स्वाध्यायियों की सुविधा हेतु अंतगडसूत्र सार्थ भी तीसरे भाग में संयुक्त किया गया है तथा **चतुर्थ भाग** में ६१ से ७२ तक के प्रवचन संकलित हैं एवं अन्तिम **पंचम भाग** में ७३ से ८५ तक के प्रवचनों का संकलन किया गया है।

यह फाउण्डेशन **श्री सुराणा जी** का अत्यन्त आभारी है कि उन्होंने प्रवचनों का इतना सुन्दर, कलात्मक व चित्रमय मुद्रण कर हमें इन अमृत-प्रवचनों को प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में इतना शीघ्र रखने का अवसर दिया। प्रवचन-पुस्तक प्रकाशन के सभी सहयोगियों के प्रति यह ट्रस्ट हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता है। तृतीय आवृत्ति में सैद्धान्तिक अशुद्धियों को सुधारने में सुश्रावक **श्रीमान् मदनलाल जी धोका, रायचूर** का जो सहयोग रहा उसके लिए भी फाउण्डेशन आभारी है।

अब **बड़ी साधु वंदना-प्रवचन** भाग प्रथम का चतुर्थ संस्करण संशोधित एवं परिवर्धित करके प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है पाठक वर्ग इससे लाभान्वित होगा।

—ज्ञानचंद मुणोत

अध्यक्ष

श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन, चेन्नई

## प्रस्तावना

साहित्य की अनेक विधाओं में सबसे अधिक आकर्षक और शीघ्र प्रभावशाली विधा है काव्य। संक्षिप्त सारपूर्ण, श्रुतिमधुर शब्द, मनहरण काव्य-रचना, संगीतात्मक ताल-लय पूर्ण छन्दों के तट बंध में बँधी लहराती नदी-सी तरल-सरल वाक्य-रचना काव्य कहलाती है।

काव्य को प्राणवान जीवन्त बनाने वाली अन्तर्धारा है रस ! रस ही काव्य का प्राण है। वीर, शृंगार, वीभत्स आदि नौ रसों में श्रेष्ठ रस है करुण रस। इसे शान्त रस और भक्ति रस भी कहा जाता है। भक्ति रस काव्य को शाश्वत मूल्यवत्ता प्रदान करता है साथ ही हृदयस्पर्शिता भी। मानवीय चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाकर परम अगम शक्ति के साथ तदाकार करने की क्षमता है भक्ति में। भक्ति ही वह शक्ति है, वह सेतु है जो चेतना को असीम के साथ, लघु को विराट् के साथ और क्षणभंगुर जीवन को अनन्त आनन्दमय परम तत्त्व के साथ जोड़ती है। भक्ति ही काव्य को अमरता व शाश्वत सौन्दर्य प्रदान करती है।

**बड़ी साधु वन्दना** भक्ति रस की एक उत्कृष्टतम अमर रचना है। यह कालजयी और क्षेत्रजयी कृति सम्पूर्ण साधक समाज के लिए पठनीय तथा नित्य स्मरणीय है। इस काव्य की एक-एक पंक्ति श्रद्धापूर्ण हृदय सागर की अतल गहराई से उठी वह हिलोर है जिसका स्पर्श पाते ही कान पवित्र हो जाते हैं, वाणी से उच्चारित होने पर वाणी पवित्र हो जाती है और अन्तःकरण को स्पर्श करने पर यह विषय, वासना, अहंकार, लोभ का नाश कर वैराग्य, निर्वेद और संवेग रस की अमिय धारा बहा देती है। महान् कवि ने भाव-विभाव से मुक्त होकर, स्वभाव में स्थित हो भक्ति की उत्कट भावधारा में बहकर ऐसे विशाल रूप में इस कृति का प्रणयन किया है कि इसका एक-एक शब्द मंत्राक्षर की तरह प्रभावशाली, चमत्कारी और अमृत-बिन्दु की भाँति आनन्ददायी बन गया है। इसका पाठ करते समय इतिहास की उन अनन्त-अनन्त दिव्य भव्य आत्माओं के साथ जब हमारी आत्मा का भावना के सेतु द्वारा मधुर मिलन होता है तब जिस अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है, जिस आत्मिक सुख की स्फुरण होती है, वह गूँगे के गुड़ की तरह मात्र अनुभव का ही विषय होती है। इसका स्वाध्याय, गायन और उच्चारण करते समय जिस उत्कृष्ट भाव रसायन का स्पर्श होता है वह कुछ ऐसा अलौकिक है कि मन का कण-कण प्रफुल्लित हो जाता है। आनन्द, प्रसन्नता और सन्तोष की ऐसी विलक्षण रसानुभूतियाँ होने लगती हैं कि हृदय गद्गद हो

उठता है, आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगते हैं, एक अपूर्व रोमांच उत्पन्न होकर मन भक्ति की गंगा या विनय की सुर-सरिता में डुबकियाँ खाने लगता है। तन्मयता की ऐसी धारा जुड़ती है कि शरीर अपने आसन पर और मन आत्म-शासन पर केन्द्रित हो जाता है। त्रिकालजयी भक्ति रस परिपूर्ण कृति जिन क्षणों में, जिन हाथों से सर्जित जाती है वे क्षण, वे हाथ, वह लेखनी भी इतिहास में अमर हो जाती है। वह स्थान भी एक पवित्र स्मारक बन जाता है।

सन्त तुलसीदास जी ने राममय होकर जिस कृति की रचना की संसार में वह 'रामायण' के नाम से अमर भक्तिकाव्य बन गया। सूरदास जी ने कृष्णमय होकर जिन गीतों, पदों व भजनों का मधुर स्वर से उच्चारण किया वह 'सूरसागर' सगुण भक्ति रस का क्षीर सागर बन गया। तुलसी ने राम को, सूर ने कृष्ण को जिस जीवन्त रसमयता के साथ उपस्थित किया है वह हिन्दी साहित्य-संसार की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। इसी प्रकार जैन साहित्य-संसार के महान् कवि आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने जिस रसमय-भक्तिमय, निर्वेदमय भाव-प्रवणता के साथ सहज भाव माधुर्य एवं शब्द-लालित्यमय ललित-कलित भाषा में, जिनशासन के यशस्वी, तेजस्वी, तपस्वी उत्कृष्ट ध्यान-साधक, वीतराग-सिद्धि प्राप्त परम पुरुषों को भक्तिपूर्वक स्मरण किया है, उनके चरणों में विनयावनत वन्दना की है वह जैन साहित्य की एक दिव्य मणि है जो साहित्य-पटल पर चिरकाल तक चमकती रहेगी।

इस साधु वन्दना को अनन्त चौबीसी भी कहते हैं और यह सुखद आश्चर्य की अनुभूति है कि सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज में तो इसका स्वाध्याय आगम की तरह बड़ी श्रद्धा भावना के साथ किया ही जाता है, किन्तु हमने तेरापंथ समाज में व अनेक मूर्तिपूजक श्रावकों को भी इसका स्वाध्याय करते सुना है। यह इस कृति की भक्ति रस प्रवणता का ही कारण है कि आज समग्र जैन समाज में यह अनन्त चौबीसी (बड़ी साधु वन्दना) जन-जन का कण्ठहार बन गई है।

### **एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. का बहुआयामी व्यक्तित्व**

भारत की पावन पवित्र वसुन्धरा ने अनादिकाल से समय-समय पर अनेक महापुरुषों को अवतरित करने का गौरव प्राप्त किया है।

जब-जब भी इस तपोभूमि पर अत्याचार, अन्याय, अनीति का बोलबाला बढ़ने से जन-जीवन विनाश के कगार पर पहुँचने लगता है, तब-तब कोई न कोई महापुरुष इस धरती पर जन्म लेकर उन अत्याचारों का शमन करता है। कृष्ण जैसे कर्मयोगी ने कंस एवं जरासंध के अत्याचारों से मुक्ति दिलाई तो महावीर ने चन्दनबाला के माध्यम से दास-प्रथा का अंत किया एवं अर्जुनमाली, चंडकौशिक सर्प जैसे घोर पापियों का उद्धार किया। मर्यादा



पुरुषोत्तम राम ने पतिव्रता धर्म में विघ्न डालने वाले राक्षसों का संहार करके इस धरती की पावनता को बनाये रखने का अथक प्रयास किया।

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जन-जीवन में उथल-पुथल मची हुई थी। शासक वर्ग सुर की ताल में लयलीन, सुरा के नशे में आकण्ठ डूबा हुआ और सुन्दरी के सौन्दर्य में तल्लीन बना हुआ था। यवन शासकों के अत्याचारों से जनता में घोर निराशा के बादल छाये हुये थे और भारतीय राजाओं के पारस्परिक युद्धों के कारण चारों ओर अराजकता और अशांति का वातावरण बना हुआ था। जिनोपासक यति वर्ग भी अपने कर्तव्य-पथ से च्युत होकर आकांक्षा पूर्ति हेतु बाह्याडम्बर और जनरंजन को अपना ध्येय बना जनता को धर्म के नाम पर गुमराह करने लगा था।

ऐसी विषमता की आग में एक भवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने जिन उद्यान रूप बाग की रक्षा के लिये राजस्थान के जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता परगना के लाम्बिया ग्राम में कामदार मोहनदास जी मेहता की सहधर्मिणी महिमादेवी की रत्न कुक्षि से वि. सं. १७६५, भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को जन्म लिया। जन्म के समय पिता मोहनदास जी की खूँखार डाकू दल पर उल्लेखनीय विजय-प्राप्ति के फलस्वरूप बालक का नाम 'जयमल' रखा गया।

जयमल जी बाल्यकाल से ही बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। उनकी लगन, कार्यक्षमता अद्भुत थी। ओजस्वी तेजयुक्त उनका व्यक्तित्व अमिट छाप छोड़ने वाला था। पुण्यवान मेधावी बालक जयमल जी प्रातःकालीन भास्कर की भाँति निरंतर अपनी बुद्धि-प्रभा को विकसित करते हुए आगे बढ़ने लगे।

बाईस वर्ष की वय में रियां निवासी कामदार शिवकरण जी मुथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी से आपका विवाह हुआ। मुकलावा (गौना) की तिथि चातुर्मास के बाद होने के कारण से लक्ष्मीदेवी अपने पिता के घर पर ही थीं। विवाह के छह माह बाद जयमल जी अपने मित्रों के साथ व्यवसाय के कार्य से कार्तिक शुक्ला चौमासी के दिन मेड़ता गये थे। मेड़ता के बाजार बंद देखकर एवं यह जानकर कि सभी लोग आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के प्रवचन सुनने के लिए गए हुए हैं, वे भी अपने मित्रों के साथ प्रवचन-मंडप में पहुँच गये।

पूज्य श्री भूधर जी म. सा. सेठ सुदर्शन का जीवन-वृत्त सुना रहे थे कि कैसे कपिला और महारानी अभया अपने मायाजाल से सेठ सुदर्शन को भोगवासना में फँसाने का अथक प्रयास करती हैं और किस प्रकार सेठ सुदर्शन अपने व्रत में सुदृढ़ रहता है? राजा दधिवाहन द्वारा परिस्थितिवश सेठ को शूली की सजा देने और धर्म, शील, ब्रह्मचर्य के प्रभाव से शूली

का सिंहासन बन जाने की घटनाओं का वर्णन सुनाकर आचार्यश्री ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व पर प्रभावी उद्बोधन दिया। सुनकर युवा जयमल जी का हृदय-परिवर्तन हो गया। उन्होंने चिंतन किया कि स्व-स्त्री की मर्यादा और पर-स्त्री के त्याग से यदि शूली का सिंहासन हो जाता है तो आजीवन पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालने से तो आठ-आठ कर्म-शूलियों को सिद्धशिला सिंहासन में बदला जा सकता है। भरी सभा में खड़े होकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया तथा उस व्रत की सुदृढ़ पालना के लिए संयमी जीवन व्यतीत करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

जयमल जी के संयम ग्रहण करने के निश्चय को सुनकर पिता मोहनदास जी, माता महिमादेवी, भाई रिडमल, पत्नी लक्ष्मीदेवी, सास-श्वसुर आदि सभी परिजन मेड़ता पहुँचे। उन्हें अनेक प्रकार से रोकने के प्रयत्न किये गये, आखिर उन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि-बल से सभी विरोधों को सहमति के रूप में बदल दिया। अब तो मात्र संयमी जीवन में बाधक प्रतिक्रमणसूत्र का न आना था, यह जानकर संकल्प ग्रहण कर लिया कि **‘जब तक प्रतिक्रमण कंठस्थ नहीं कर लूँ, बैटूँगा नहीं।’** उनका संकल्प तीन घंटे के अल्पकाल में पूरा हो गया। सामान्य जन को छह-छह महीने लग जाते हैं जिसे सीखने में, उस आवश्यकसूत्र (प्रतिक्रमणसूत्र) को **मात्र तीन घण्टे (एक प्रहर) में कंठस्थ कर लिया।** तत्पश्चात् **वि. सं. १७८८, मार्गशीर्ष वदी द्वितीया, गुरुवार** को मेड़ता शहर में आचार्य श्री भूधर जी म. सा. के सान्निध्य में जैन भागवती दीक्षा ग्रहण कर श्रमणचर्या का पालन करने लगे।

दीक्षा ग्रहण करने का उनका मुख्य लक्ष्य था कर्म-जंजीरों को तोड़कर मुक्तालय को प्राप्त करना, क्षणिक सुखों से मुक्त बन शाश्वत सुखों को प्राप्त करना, जन्म-जरा-मरण के दुःखों से परे होकर मोक्ष प्राप्त करना। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के मार्ग में अप्रमत्त रहने का दृढ़ संकल्प ग्रहण कर लिया। श्रमण-जीवन की दहलीज पर कदम रखते ही उन्होंने **एकान्तर तप** की उग्र साधना का नियम ले लिया, जिसका पालन **१६ वर्ष** तक करते रहे। साथ ही पारणे में पाँच बड़ी तिथियों के दिन पाँच विगय का त्याग रखते। इसके अतिरिक्त आपने **१६ वर्ष तक बेले-बेले** की तपस्या की, **२ वर्ष तक तेले-तेले पारणा** किया, **३ वर्ष पर्यन्त ५ के पारणे ५ का तप** किया, **२० मासक्षमण तप** किए, **१० द्वि-मासक्षमण** की तपस्या की, **४० अट्टाड़ियाँ (८ का तप)** की, **६० दिवस** की अभिग्रहयुक्त तपस्या, **एक चौमासी व एक छह मासी** तप किया। वर्धमान आयम्बिल तप इस तरह आप यदा-कदा दीर्घकालीन तपश्चरण से भी अपनी आत्मा को तपाकर कुन्दन बनाने में निमग्न रहते।

तपःसाधना के साथ-साथ गुरु-सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अंतरंग तपःसाधना में भी आप निरंतर प्रगतिशील थे। उस समय शिथिलाचारी यति धर्म के नाम पर भोली जनता को मिथ्या सिद्धान्त बताकर अपनी स्वार्थ-पूर्ति करते थे, शुद्ध श्रमणों से द्वेष करते थे। वे शुद्ध श्रमणों को चुनौतियाँ दिया करते थे। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने उन सभी चुनौतियों को स्वीकार कर यतियों से चर्चा करके उन्हें परास्त किया और पीपाड़, जोधपुर, बीकानेर, नागौर, जैसलमेर, सांचोर, बाड़मेर, जालौर आदि क्षेत्रों को हमेशा के लिये शुद्ध संयममार्गियों के लिये खोल दिया।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. नैसर्गिक प्रतिभा के धनी तो थे ही, साथ ही साथ में पुरुषार्थी, उत्साही, लगनशील और दृढ़ चारित्रनिष्ठ भी थे। उन्होंने जिस वर्ष दीक्षा ग्रहण की उसी वर्ष चातुर्मास में पाँच आगमों को मात्र एक प्रहर (तीन घण्टे) में कंठस्थ कर लिया। प्रथम वर्षावास में कुल 99 आगमों को कंठस्थ किया। मात्र तीन वर्षों में आपने ३२ आगमों के साथ अनेक अन्य ग्रन्थों को कंठस्थ कर लिया, साथ में परमत के ग्रंथ, वेदवेदांग, श्रुति, स्मृति, न्याय, दर्शन आदि का अध्ययन भी आपने पण्डित मुनि श्री नारायणदास जी म. सा. से विनयपूर्वक किया।

क्षमाश्रमण पूज्य श्री भूधर जी म. सा. के देहावसान के समय आपने प्रतिज्ञा ली कि आज से जीवन पर्यन्त कभी लेटकर नींद नहीं लूँगा। यह नियम ५० वर्ष पर्यन्त जीवन के अन्तिम क्षण तक निभाया। अप्रमत्तता के प्रभाव से ही आपने ७०० भव्य आत्माओं को दीक्षा मंत्र प्रदान किया।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. संयम-सुमेरु तो थे ही, साथ में आशुकवि, बहुश्रुतधर, धर्म-प्रभावक एवं समर्थ समाज-सुधारक भी थे। आपने अनेकानेक राजा-महाराजाओं, नवाबों, ठाकुरों, जागीरदारों को शिकार, पर-स्त्रीगमन, मद्य-माँस सेवन आदि सप्त व्यसनों का त्याग करवाया। जगह-जगह होने वाली पशुबलि, नरबलि, दास-प्रथा, सती-प्रथा आदि मिथ्याडम्बरों को भी बंद करवाया।

आचार्य श्री जयमल जी म. सा. के उपदेश अत्यन्त मार्मिक एवं भावपूर्ण होते थे। जोधपुर महाराज अभयसिंह जी, बीकानेर नरेश महाराज गजसिंह जी, सिरोही नरेश महाराज मानसिंह जी, इन्दौर होल्कर माँ अहिल्यादेवी, नागौर महाराज बखतसिंह जी, जैसलमेर महाराज श्री अखैसिंह जी व जयपुर नरेश सवाई माधवसिंह जी (प्रथम) तथा दिल्लीपति मुगलसम्राट् मुहम्मद शाह का शहजादा आदि तो आपके उपदेशामृत पान कर पूर्णतः समर्पित एवं श्रद्धासिक्त हो गये।

वि. सं. १८०५, वैशाख शुक्ला तृतीया को जोधपुर में आपको आचार्य-पद से अलंकृत किया गया। उसी दिन श्री अ. भा. जयमल जैन श्रावक संघ की स्थापना हुई। आगे चलकर आपकी परम्परा 'जयगच्छ' के नाम से विख्यात हुई। आपका विचरण क्षेत्र मुख्यतः राजस्थान, गुजरात, मेवाड़, मालवा, दिल्ली रहा।

जीवन के अंतिम १३ वर्ष आपश्री ने शारीरिक कारणों से नागौर में स्थिरवास किया था। वि. सं. १८५१ में आपने विचार किया कि संघ का आचार्य-पद जीवन के इन अंतिम वर्षों में आत्म-विशुद्धि की पूर्ण साधना में कुछ व्यवधानस्वरूप ही होगा। मुझे चाहिए कि मैं इस पद और पद सम्बन्धी कार्यों से अपने को अलग कर लूँ।

जैन इतिहास में आचार्य के रहते युवाचार्य बनाने की परम्परा तो सर्वत्र है, कई वर्षों से है पर कोई आचार्य अपने जीवनकाल में अपना आचार्य-पद 'वोसिरा' कर योग्य मुनि को स्वयं आचार्य-चादर श्रद्धा सहित ओढ़ावे, यह सर्वप्रथम आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. जैसे युगपुरुष के लिए संभव है। आपश्री ने युवाचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. को आचार्य घोषित कर अपना आचार्य-पद वोसिरा दिया था। चतुर्विध संघ ने नागौर शहर में वि. सं. १८५१ में ज्येष्ठ सुद २ के शुभ दिन युवाचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. को आचार्य-पद की चादर ओढ़ाकर उन्हें संघाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया।

इस तरह आचार्यसम्राट् ने अपने जीवन के अंतिम समय के एक-एक पल, एक-एक क्षण को आत्म-विशुद्धि की साधना में व्यतीत किया।

आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. जिस समय बीकानेर क्षेत्र में जिनशासन की प्रभावना कर रहे थे, उस समय आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपने उपयोग बल से आयुष्य की समाप्ति को निकट समझकर वि. सं. १८५३ के फाल्गुन शुक्ल पक्ष में आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. को नागौर पधारने का सन्देश भेजा गया।

फाल्गुन सुद दशमी के दिन उस युगपुरुष ने नियत मरण को स्वयं वरण करने के लिए संथारा धारण करने की अभिलाषा प्रकट की और संलेखना के अन्तर्गत ग्यारह एकान्तर उपवास कर एक बेला किया, बेले का पारणा किया, महावीर जयन्ती को दूसरे बेले का प्रत्याख्यान किया लेकिन पारणा न करके वि. सं. १८५३, चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन आपश्री ने चतुर्विध संघ के सम्मुख संथारा ग्रहण किया।

संथारा ग्रहण करने का संदेश वायु-वेग की तरह सम्पूर्ण भारत में फैल गया। दर्शनार्थ अनेक राज्यों के राजा-महाराजा नागौर आने लगे। अनेक रियासतों के जागीरदार व ठाकुर दर्शन-वन्दन के लिए पहुँच गए। अनेकानेक राज्यों के दीवान आचार्यसम्राट् की चरण-वन्दना करने के लिए उपस्थित हो गए।

संलेखना का संदेश पाकर गुजरात कच्छ में विचरण कर रहे आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के शिष्य श्री गजो जी स्वामी आदि ठाणा १२ और महाप्रभावक जैन संत श्री घासीराम जी म. सा. आदि ठाणा ६ तथा अनेक अन्य संत उग्र विहार कर नागौर आचार्यसम्राट् की सेवा में पहुँचे। ४६ संत संथारे की सेवा में सश्रद्धा समर्पित हो गए।

संथारे के १६वें दिवस पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. 'संथार पईण्णा' सुना रहे थे। पूरा दिन व्यतीत हो गया। रात्रि आ गई। अर्ध-रात्रि का समय था। श्री घासीराम जी म. सा. स्वाध्याय सुना रहे थे। आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा., मुनि श्री गजो जी स्वामी, मुनि श्री आसकरण जी म. सा. आदि १६ संत दिन-रात सेवा करने वाले भी निकट में विराजित स्वाध्यायनिरत थे। तभी अप्रत्याशित एक दिव्य तेज से वह उपाश्रय आलोकित हो उठा। संतगण चकित हुए पर शीघ्र ही सजग बन गए। उन्होंने देखा कि दो दिव्य आकृतियाँ वहाँ प्रकट हुईं। दोनों ने आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के चारों ओर तीन परिक्रमाएँ दीं और विधियुत वन्दना की।

इसी समय आचार्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने पूछ लिया—“कौन हैं आप?”

प्रत्युत्तर सुनने को मिला—“उदय और केशव।”

समझ गए पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. कि आचार्य भगवंत के दिवंगत शिष्य हैं। उनके स्मृति-पटल पर सिरियारी का बीहड़, सुनसान घाट उभर आया। दो ऊँची-ऊँची पहाड़ियों के बीच पगडंडी-सा रास्ता। कभी वह रास्ता पहाड़ी के ऊपर-ऊपर चलता तो कभी पहाड़ी से सटकर तो कभी नीचे की ओर। नीचे झाँककर देखने पर गहरी खाई, हजारों फुट गहरी दिखाई देती थी और ऊपर देखने पर हजारों फुट ऊँचे, गर्वोन्नत बने पर्वत-शिखर दिखते थे। यह पहाड़ी रास्ता दो कोस लम्बा था। इसकी पहाड़ियों के एक ओर था मेवाड़, जहाँ आचार्यसम्राट् को पहुँचना था और दूसरी तरफ था मरुधर का सिरियारी नगर। मेवाड़ की ओर तलहटी में पीपली ग्राम होने से वहाँ के लोग इसे पीपली घाट कहते थे और मरुधरावासी इसे सिरियारी घाट कहते थे।

वह समय था वि. सं. १८१२ का। उस समय सिरियारी घाटी से मेवाड़ जाना खतरनाक था। सुनसान पहाड़ियाँ, ऊबड़-खाबड़ पथरीली पतली-सी पगडंडी वाला रास्ता। अनेक विकट घुमाव उस रास्ते में थे। झाड़ियों की अधिकता से भयानकता थी तो पहाड़, झरने, गुफाएँ, पेड़, हरियाली आदि मनोरम दृश्यों के कारण सुन्दरता भी थी। इसी घाटी में तब हिंसक जंगली पशु शेर, चीते आदि भी थे अतः कोई गूँज होती तो यात्री चौंक उठते थे। यह घाटी चोर, डाकू, लुटेरों का अभयारण्य था। राहगीरों को लूटकर उस घने बीहड़ जंगल में

ओझल हो जाते थे। यदाकदा ये वारदातें होती रहती थीं इस राह में। पर मुनि इस भय से निर्भय थे। वे लुटाने के लिए निकले थे ज्ञान खजाना।

पूज्यश्री संत-मंडल के साथ उस घाटी की पगडंडी पर निर्भय, स्थिर कदमों से चले जा रहे थे। अचानक आचार्य भगवंत ने उदय मुनि व केशव मुनि को सम्बोधित करते हुए कहा—“आप दोनों चलने में तेज हैं अतः आप आगे बढ़ जाओ।”

आदेश था पूज्यप्रवर का। दोनों आगे बढ़ गए। ज्यों-ज्यों आगे बढ़े, अचानक परिणामों की धारा भी ऊर्ध्वता की ओर बढ़ने लगी। ऊँची पहाड़ी और नीची घाटी। चले जा रहे थे मुनिद्वय। तभी सामने कुछ ही दूर एक बड़ी शिला दिखाई दी। शिला के एक ओर पहाड़ियाँ इस तरह तनी खड़ी थीं कि मानो शिला का संरक्षण कर रही हों तो दूसरी तरफ शिला के ऊपर और आसपास में घने, विशाल, छायादार वृक्षों की पंक्तियाँ, मानो शिला पर छाया रखने का निश्चय कर लिया हो। उदय मुनि को लगा कि शिला क्या है, कोई मंडप है, प्राकृतिक मंडप।

उदय मुनि अपने साथी केशव मुनि को पगडंडी पर ही छोड़ उस शिला की ओर बढ़ गए। केशव मुनि ने यह देखा तो वे भी पीछे-पीछे चले आए। आकर देखा तो शिला के पास उदय मुनि चिंतनलीन हैं। पूछा—“क्यों चिन्तित हैं? क्या शारीरिक कारण?” उत्तर मिला—“नहीं! पर देखो तो यह शिला.....।”

केशव मुनि ने बात काटकर कहा—“पूज्यश्री ने हमें आगे बढ़ने को कहा है।”

उदय मुनि बोले—“हाँ! आगे ही तो बढ़ना है। इस ऊँचाई पर पहुँचने के बाद नीचे उतरने का मन नहीं करता। यहाँ इस शिला को देखते-देखते मेरे परिणाम कुछ अलग से बनते मालूम हो रहे हैं। थोड़ी देर पहले मैंने उस पीपल के पेड़ से एक पीत-पत्र को पेड़ से अलग होकर नीचे गिरते देखा है और जीवन की क्षणभंगुरता का ध्यान आ गया। मेरा मन इसे देख कुछ कहने लगा है, मन में कुछ ऐसा हो रहा है।”

केशव मुनि—“पूरे दार्शनिक बन गये हो। कैसा हो रहा है मन?”

उदय मुनि—“बस! यह शिखर, यह शिला और मैं! खो जाना चाहता हूँ यहीं! लगता है मुझे यहीं आत्म-समाधि ले लेनी चाहिए।”

केशव मुनि—“यदि ऐसा है तो मैं भी आपके साथ रहना चाहता हूँ। हम दोनों ने एक ही माता के उदर से जन्म लिया, दोनों साथ खेले, दोनों ने साथ शिक्षा पाई, साथ-साथ बड़े हुए, साथ ही संयम ग्रहण किया, संयम-जीवन में भी साथ-साथ रहे, अब आत्मोत्सर्ग के समय मैं अलग क्यों? साथ ही समाधि लेंगे और यहीं लेंगे।”

उदय मुनि—“फिर देर किस बात की?”

आचार्य भगवंत के साथ सभी संत वहाँ पहुँचे तो वे दोनों मुनि चिन्तनलीन थे। पूज्यश्री ने दोनों से पूछा—“यहाँ क्यों रुक गए मुनिद्वय? क्या देह चिन्ता (लघु-बड़ी शंका) की परिस्थिति उत्पन्न हो गयी?”

दोनों मुनियों ने जो कुछ बीता, घटित हुआ, चिन्तन बना, आपस में जो बातें कीं वे सभी आचार्य भगवंत व सभी संतों को सुना दीं, साथ ही संथारा ग्रहण करने का आत्म-भाव भी प्रकट कर दिया।

सभी चकित हुए। देखा उधर शिला की ओर। वातावरण देखकर लगा कि स्थान है ही ऐसा, आत्म-समाधि के भाव उत्पन्न हो जाएँ। शत्रुंजय और सम्मत् शिखर पर भी तो ऐसा ही वातावरण होता होगा, जहाँ तीर्थंकर भगवंतों, अनेक भव्यात्माओं को आत्म-समाधि के उत्कृष्ट भाव आते हैं।

पूज्यश्री ने उनके मन को टटोला, दृढ़ता की जाँच की और जब देखा कि भावना का रंग किरमिची है तो संथारा पचक्खा दिया। कुछ संतों को संथारे की सेवा में रखा, कुछ को सिरियारी सन्देश देने भेजा और कुछ को आगे पीपली सन्देश देने भेज दिया। स्वयं पूज्यश्री वहीं रहे।

संथारा प्रारम्भ हुआ। स्वयं पूज्यश्री भी सहयोगार्थ तपस्यापूर्वक विविध स्वाध्याय सुनाने लगे। सिरियारी, पीपली एवं अन्य निकटवर्ती ग्रामों के श्रावक दर्शनार्थ आने लगे। जंगल में मंगल होने लगा। मरण, महोत्सव का रूप ले रहा था।

केशव मुनि का संथारा नौ दिन का आया और उदय मुनि को ग्यारह दिन का। अंतिम अवस्था तक उनकी समाधि अवस्था में आत्म-तेज बढ़ता रहा, अनुपम शांति व प्रसन्नता के भाव बने रहे।

लम्बे समय तक पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. इन्हीं यादों में खो गए तभी याद आया—वे ही मुनि देवलोक से आचार्य भगवंत के दर्शन करने आए हैं और अभी तक यहीं हैं। पुनः पूछ बैठे—“किस कल्प से आना हुआ?”

एक देव ने कहा—“प्रथम कल्प से!”

पूज्य श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने तब पूछा—“प्रयोजन आने का?”

दोनों साथ में बोल पड़े—“उपकारी गुरुदेव की वन्दनार्थ आए हैं।”

सहसा मुनि श्री आसकरण जी म. सा. ने पृच्छा की—“गुरुदेव, यहाँ की स्थिति भवस्थिति आयुष्य पूर्ण कर किस कल्प में उत्पन्न होंगे?”

प्रश्न अनापेक्षित था। देव शांत रहे। कुछ देर वहाँ स्तब्धता का वातावरण बना रहा। दोनों देव अंतर्धान हो गये। थोड़ी देर के पश्चात् पुनः प्रकट होकर बोले—“हमारा इतना ज्ञान नहीं था। महाविदेह क्षेत्र में विराजमान सीमंधर स्वामी से समाधान लेकर आना पड़ा। सर्वज्ञ सीमंधर स्वामी के अनुसार गुरुदेव यहाँ का आयुष्य पूर्ण कर प्रथम कल्प में जयदेव के नाम से देवभव प्राप्त करेंगे। वहाँ की अवधि पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावति विजय में उत्पन्न होंगे और उत्कृष्ट संयमाराधन कर निर्वाण को प्राप्त करेंगे। ये आचार्य भगवन् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. एकभवावतारी हैं।”

इतना कहकर देव-द्वय पुनः वंदन-नमन कर अन्तर्धान हो गए। कुछ क्षणों के लिए एकदम घोर अंधकार हो गया वहाँ। धीरे-धीरे आँखें अंधकार में कुछ देखने योग्य बनीं। सभी संत एकभवावतारी आचार्यसम्राट् के प्रति और अधिक श्रद्धावनत बन गए।

घटना-चक्र का उल्लेख चालू संधारे में पूज्य श्री आसकरण जी म. सा. के द्वारा रचित ढाल में किया गया है। ४६ संत व २५० सतियाँ संधारे की सेवा में मौजूद थे। उनमें से १६ संतों ने एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. के संधारे की तन-मन से दिन-रात स्वाध्याय सेवा की, साथ दिया। दिन-रात एक करके इस तरह संधारे की अविरल सेवा करने वाले इन १६ ही संतों को कालान्तर में एक-एक मास का संधारा आया।

जैन-जगत् के इस युगपुरुष को ३१ दिनों का दीर्घ संधारे का लाभ प्राप्त हुआ। जैन इतिहास के विगत पाँच सौ वर्षों में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिला कि जहाँ किसी सम्प्रदाय के आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित महान् आत्मा को इतना दीर्घकाल का संधारा आया हो और उन्हीं महापुरुषों के तीन पाट तक एक-एक मास का संधारा व सभी १० पट्टधर आचार्यों को संधारा आया।

“आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. का संधारा पूर्ण हुआ”, “आचार्यसम्राट् की निर्जीव पार्थिव काया ही शेष रह गई”, “आत्मा ने शरीर का त्याग कर दिया”, “एकभवावतारी आचार्यसम्राट् समाधि धर्म को प्राप्त हुए”, आदि विभिन्न शब्दों के संयोजन से राष्ट्रभर में उनके दिवंगत होने का संदेश मानवीय संसाधनों द्वारा प्रसारित होता गया।

अंतिम दर्शन व पार्थिव देह के अग्नि-संस्करण में सम्मिलित होने के लिए देश के निकट एवं सुदूरवर्ती क्षेत्रों से हजारों-हजार जैन तथा जैनेतर श्रद्धालु भक्त नागौर पहुँच गए।

विशाल जनमेदिनी की उपस्थिति में वह पार्थिव शरीर पंचतत्त्व में विलीन हो गया।

शेष रह गया, उस आदर्श महनीय संत-श्रेष्ठ का अमरत्व प्राप्त यशः शरीर! व गौरवशाली जयगच्छीय परम्परा!!



पूज्य श्री जयमल जी म. सा. स्वभाव से अप्रमत्त साधक तो थे ही, जागरूक चेतना के धनी सहज कवि भी थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में २५० से अधिक काव्यों की रचना की। उनकी बौद्धिक स्फुरणा प्रखर थी और प्रतिभा बड़ी सूक्ष्मदर्शी एवं अतीत-अनागत को समेटने वाली थी। सुदीर्घ साधनाकाल में वे दिन में तो शयन करते ही क्या, रात में भी नहीं सोते थे। रातभर अप्रमत्त चिन्तन दशा में बैठे-बैठे स्वाध्याय करते या नवीन-नवीन काव्य-रचना किया करते थे। चिन्तन की ऊँचाई और भावों की गहराई में उतरकर वे जो कुछ सोचते वह वाणी द्वारा सहज ही काव्य रूप में परिणत हो जाता था, जिसे दिन में लेखन द्वारा अक्षर रूप प्रदान करते थे।

उन्हीं भाव-विभोर क्षणों में **बड़ी साधु वन्दना** की वह त्रिकालजयी रचना हुई, जिसमें अतीत, वर्तमान, अनागत की चौबीसी में हुए, होने वाले सभी वीतराग जिनेश्वर तथा गणधरों आदि की वन्दना स्तुति की गई है।

इस साधु वन्दना में चौबीस तीर्थकरों, बीस विहरमान देवों, चौबीस तीर्थकरों के चौदह सौ बावन गणधरों, सोलह सतियों तथा अन्य अनेक श्रमण-श्रमणियों का स्मरण करते हुए उन्हें भाव-विभोर होकर वन्दना की गई है। इस रचना का आज भी सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज में बहुत ऊँचा स्थान है।

मैं बहुत वर्षों से **बड़ी साधु वन्दना** का नियमित स्वाध्याय कर रहा हूँ। जब-जब भी इसका सस्वर उच्चारण करता हूँ तो आनन्द की ऊर्मियों में चेतना नहा लेती है, भावनाएँ उज्वल हो जाती हैं। एक अज्ञात प्रेरणा, शक्ति और बल मन-मस्तिष्क में स्फुरित होने लगता है। जो अनिर्वचनीय आनन्द उन क्षणों में अनुभव होता है, वह शब्दों द्वारा बता नहीं सकता। मैं मानता हूँ जो स्थिति मेरी होती है वह अनेक स्वाध्यायी श्रावक-श्राविकाओं की भी होती होगी। यही कारण है कि स्थानकवासी समाज में हजारों स्वाध्यायी भाई-बहन आज भी '**बड़ी साधु वन्दना**' का नियमित पाठ करते हैं। किसी चमत्कारी स्तोत्र की तरह इसका भी विलक्षण भाव-प्रभाव उनके मन पर पड़ता है। इसका पाठ करते-करते तन-मन की पीड़ाएँ, अन्तर्मन की चिन्ताएँ कहीं लुप्त हो जाती हैं, कौन जाने? आत्मा का अनन्त सौन्दर्य, अनन्त सुख अनुभूतियों में प्रकट होने लगता है।

अनेक श्रावकों का आग्रह था कि **बड़ी साधु वन्दना** का स्वाध्याय तो हम करते हैं; सामूहिक स्वर में गायन भी करते हैं, परन्तु इसके अतल-जल में छिपा भाव रहस्य कुछ समझ में आता है, कुछ नहीं आता। इतिहास की उन अमर घटनाओं की जानकारी तो बहुत कम लोगों को रहती है, सामान्य लोग इतिहास में रुचि जरूर रखते हैं, परन्तु इतिहास का ज्ञान कम

ही रखते हैं। अतः उन सभी प्रसंगों पर विशद् विवेचना के साथ भाव का उद्घाटन हो तो सोने में सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हो जाये।

मैं स्वयं भी इस अमर रचना पर चिन्तन-मननपूर्ण विस्तार करने की भावना रखता था। श्रावक समाज का आग्रह मेरी इस भावना को सक्रियता प्रदान करता रहा। अतः जोधपुर के सन् १९६६ के चातुर्मास में **बड़ी साधु वन्दना** पर प्रवचन प्रारम्भ किये तो श्रोताओं में एक अपूर्व उत्साह जाग उठा। अनेक श्रावकों का कहना भी था—इस प्रकार का प्रवचन सुनने का जीवन में यह प्रथम ही अवसर है। दिन-दिन बढ़ती श्रोताओं की भीड़ और भीड़ का धर्म-उत्साह यह स्पष्ट बता रहा था कि उस महापुरुष की अमरवाणी आज भी उतनी ही लोकप्रिय और जन-मनमोहिनी है जिसके लिए लोग दौड़-दौड़कर आ रहे हैं।

मेरे पूज्य गुरुदेव निर्मल संयम आराधक, आगम-विवेचक, पंडितरत्न श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. की प्रेरणा व प्रोत्साहन, आशीर्वाद व आलम्बन मेरे जीवन की प्रगति में आधारभूत रहे हैं। मेरी प्रत्येक प्रगति का श्रेय उन्हीं की सत्प्रेरणाओं को है। इस कार्य में भी पूज्य गुरुदेव का वही सम्बल रहा है। उनके प्रति मैं अपनी अनन्त आस्था प्रकट करता हूँ। समय-समय पर पूज्य गुरुदेव का मार्गदर्शन एवं प्रेरणा नहीं मिलती तो शायद ये प्रवचन केवल वाणी रूप में ही अपना कलेवर सीमित रखते, किन्तु गुरुदेवश्री की प्रेरणा से इन प्रवचनों का लेखन, सम्पादन भी सम्भव हुआ और कुछ ही समय में प्रवचन पुस्तकाकार बन गये।

संकलन, सम्पादन, प्रकाशन व मुद्रण के अनेक सहयोग सोपानों पर चढ़ते हुए अब तक भाग प्रथम से पंचम भाग तक का प्रबुद्ध पाठक रसास्वादन कर चुके हैं। प्रथम भाग का चतुर्थ संस्करण भी पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

दिनांक १६-८-२०१२

—*मुनि डॉ. पद्मचन्द्र*



**वर्तमान जैन-जगत् के संत-समुदाय में  
दिव्य तेजोद्दीप्त नक्षत्रों की अग्रिम पंक्ति में भास्मान  
प्रवचन प्रभावक अणुपेहा ध्यानप्रणेता**

**डॉ. श्री पदमचंद्र जी म. सा. का जीवन-दर्शन**

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. की कालजयी रचना 'बड़ी साधु वन्दना' पर वर्तमान में जैन जगत् के देदीप्यमान श्रमण-सितारे प्रवचन-प्रभावक, अणुपेहा ध्यानप्रणेता, स्वाध्याय-ध्यान-श्रावक व्रतों के प्रबल प्रेरक, युवा-मनीषी एवं ओजस्वी वक्ता डॉ. श्री पदमचंद्र जी म. सा. के सारगर्भित, आगम प्रमाणयुक्त, सविस्तार विवेचित पाँच भागों में प्रकाशित प्रवचनों के संग्रह का जिन-जिन प्रबुद्ध श्रमण-श्रमणीवृंद व श्रावक-श्राविकावृंद ने अवलोकन किया, वे पाठक आपके कृतित्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे।

कृतित्व आपका जितना सुन्दर, जनहितकारी, आत्मबोधक है व्यक्तित्व भी आपका उतना ही सुरभित, सुविशाल, बहुआयामी है। शब्दों में भावों का स्पन्दन देकर सरस-सरल भाषा-शैली में जब आप जनमेदिनी के मध्य जीवंत प्रेरक प्रवचन करते हैं तो श्रोताओं को लगता है जैसे स्वयं आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. उनके समक्ष प्रत्यक्ष हो गए हैं। डॉ. मुनिश्री के उज्वल वर्तमान में इस तरह उनके दिव्य भविष्य का अनुमान सहज ही लग जाता है। आज भी अनेक विद्वद् मनीषी, आगमवेत्ता श्रमण और हमारे प्रबुद्ध पाठक व श्रोता यह कहते सुने गए हैं कि इतनी अल्प दीक्षा-पर्याय में आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसी क्रांति, ऐसा आंदोलन, ऐसी हलचल उत्पन्न करना प्राची की प्रातःकालीन लाली के गर्भ में अवस्थित किसी भुवन-भास्कर की संभावना का उदय है।

वर्तमान में अपनी निर्दोष उत्कृष्ट श्रमण-साधना, अपनी बहुमुखी ज्ञानाराधना, अपने प्रभावी आगमिक व प्रेरक उद्बोधन, अपने स्वाध्याय प्रेम, अपनी ध्यान-साधना आदि अनेक कारणों से वर्तमान जैन-जगत् के संत-समुदाय में सर्वाधिक दिव्य तेजोद्दीप्त नक्षत्रों की अग्रिम पंक्ति में भास्मान है—डॉ. मुनि श्री पदमचंद्र जी म. सा. का नाम।

जैनदर्शन के गहन अध्ययन, विशिष्ट आगमज्ञान, कठोर श्रमणचर्या-पालन, संयम में समर्पित पुरुषार्थ के साथ आपश्री ने जन-जन के आध्यात्मिक विकास का, युवा पीढ़ी में धर्म-दीप-शिखा प्रज्वलन का और समग्र जिनानुयायियों को दृढ़ता से धर्म के साथ जोड़ने का चमत्कारिक प्रयास कर लोकप्रियता में जो शीर्ष स्थान इस लघुवय व अल्प दीक्षा-पर्याय में प्राप्त किया है, वह सम्पूर्ण समाज के लिए आश्चर्य एवं गौरव का विषय है।

ऐसी दिव्य विभूति का उज्ज्वल वर्तमान अतीत के किस इतिहास से प्रकट हुआ, साहित्यप्रेमी प्रबुद्ध पाठकों के लिए यह जानना नितान्त आवश्यक है। जैन-जगत् के इस अनमोल संत-रत्न का जन्म राजस्थान की सुप्रसिद्ध सूर्यनगरी जोधपुर में ईसवी सन् १६६४ की २७ जुलाई (श्रावण वद ३) को हुआ। जन्म का नाम गौतम था लेकिन प्रेम से सभी राजू के नाम से पुकारते थे। बाल्यावस्था में माताजी के साथ अपने पैतृक गाँव हरसोलाव, महासती सौभाग्यकंवर जी म. सा. के दर्शनार्थ जाने पर आपने अपने पाँव फैलाकर सतियाँ जी की तरफ कर दिये। अचानक सतियाँ जी की नजर आपके पगतली पर पड़ी तो देखा पाँव में 'पद्म रेखा' है, तब महासती सौभाग्यकंवर जी म. सा. ने आपका नाम पद्मचन्द्र रख दिया। आपके वीर पिता श्री मिश्रीमल सा. कांकरिया अपने समय के कुशल व्यवसायी रहे। 'फकीरचंद नाहरमल जैन' के नाम से ७० वर्ष पुरानी फर्म आज भी अपना गौरव बनाये हुए मण्डोर मण्डी, जोधपुर में स्थित है। आप जीवन के प्रारम्भ से ही पूर्ण आत्मविश्वासी एवं अत्यंत लगनशील थे। धार्मिक संस्कार आपमें जन्म से थे और अद्यतन प्रगाढ़ रूप में विद्यमान हैं। वरिष्ठ होने के बावजूद इस आयु में भी रोम-रोम में समाया आपश्री का साधर्मिक एवं संत-सेवाभाव विशेष प्रशंसनीय है।

जिस वीर माता ने वर्तमान तेजस्वी प्रवचन-प्रभावक स्वाध्याय-ध्यानप्रेरक डॉ. श्री पद्मचंद्र जी म. सा. को अपनी रत्नकुक्षि में धारण किया, उनका नाम है श्रीमती मोहनीबाई (मोहनकंवर)। जिनशासन के एक अनमोल रत्न को जन्म देने वाली महाभागा! महाधन्या!! महानारी!!! आप स्वभाव से अत्यंत सरल हैं। तपस्विनी के रूप में सूर्यनगरी, जोधपुर में विशेष-ख्याति प्राप्त रही हैं। मासक्षमण, पन्द्रह, ४० से अधिक अट्टाइयाँ आदि विभिन्न तप आपने सम्पन्न किए हैं। आज भी संभवतः प्रतिवर्ष अट्टाई तप करते हैं।

डॉ. श्री पद्मचंद्र जी म. सा. के संसार-पक्ष में बड़े-छोटे पाँच भ्राता और हैं, वे सभी निजी व्यवसाय करते हैं। सभी व्यापार-कुशल, व्यवहार-चतुर, सहज-सरल प्रकृति के हैं और सभी की जिनधर्म में निष्ठा एवं गुरुदेवों के प्रति अनन्य आस्था है।

धनाढ्य परिवार में जन्मे डॉ. श्री पद्मचंद्र जी म. सा. का सम्पूर्ण शिक्षण सूर्यनगरी में ही हुआ। आपने प्रारम्भिक शिक्षा श्री महावीर जैन पाठशाला में व माध्यमिक शिक्षण श्री उम्मेद उच्च माध्यमिक विद्यालय में प्राप्त की। सन् १९८४ में आपने जोधपुर विश्वविद्यालय वाणिज्य संकाय से बी. कॉम. व सन् १९८६ में कला संकाय से 'दर्शनशास्त्र' विषय लेकर एम. ए. किया।

अध्ययन में आप सदैव प्रखर-बुद्धि रहे। पोस्ट ग्रेजुएट बनने के पश्चात् आपने सन् १९८७ में राजस्थान विश्वविद्यालय में शोध-छात्र के रूप में 'भारतीय दर्शनों में अनेकांत दर्शन-एक विश्लेषण' विषय पर शोध के लिए रजिस्ट्रेशन कराया। विभिन्न जैन भंडारों से

अपने शोध-प्रबंध के लिए आवश्यक सामग्री संग्रहण हेतु अथक प्रयास किये। आपके प्रयास व परिश्रम सफल रहे। सन् १९८८ में आपने अपना शोध प्रबंध पी-एच. डी. अर्थात् डॉक्टरेट उपाधि के लिए राजस्थान विश्वविद्यालय को प्रेषित किया।

उत्तम कुल और संस्कारित-धर्मजागृत माता-पिता व परिवार का श्रेष्ठ संयोग आपको प्राप्त था। अपने शिक्षण काल तक इन श्रेष्ठ संयोगों का आपश्री यत्किंचित् लाभ ही उठा पाए। महाविद्यालयीय शिक्षण के पश्चात् आपने अनुभव किया कि प्राप्त ज्ञान को जीवन से जोड़ने की कला यदि नहीं तो उस ज्ञान का महत्त्व शून्य ही रहता है। अपने तरुण काल में आपश्री ने ज्ञान को जीवन-व्यवहार से संयुक्त करने के लिए युवाशक्ति से सम्पर्क करना प्रारम्भ किया। इससे आपकी नेतृत्व शक्ति का विकास तो हुआ, शहर में ख्याति भी प्राप्त हुई।

ईसवी सन् १९८३ में महामंदिर जोधपुर में जयगच्छ द्वारा आयोजित आध्यात्मिक व नैतिक शिक्षण शिविर से आपका आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ हुआ। स्व. आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी म. सा., स्व. आचार्यप्रवर श्री लालचंद्र जी म. सा., वर्तमान आचार्य श्री शुभचंद्र जी म. सा. एवं गुरुदेव संयम-शिरोमणि श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. (वर्तमान में जयगच्छ के उपाध्यायप्रवर) की प्रबल प्रेरणा से आपके अंतर् में आध्यात्मिक जागृति ने अँगड़ाई ली।

सन् १९८३ के शिविर में लगे आध्यात्मिक रंग से युवा श्री पद्मचंद्र जी कांकरिया का सम्पूर्ण ध्यान एक ऐसी दिशा में लगा, जिसने आगे जाकर लगभग एक दशक तक जोधपुर के जैन इतिहास में नव-क्रांति की हलचल को बनाए रखा।

सन् १९८३ से १९८८ तक की अवधि में आपने एक सांस्कृतिक आन्दोलन छेड़ा। इस आन्दोलन के द्वारा आपने नवयुवकों, तरुणों, किशोरों की सृजनशील प्रतिभा शक्ति का सही दिशा में उपयोग कर धर्म-जगत् व सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का सूत्रपात किया। आपमें जागृत धर्म-संस्कारों ने आपको धर्म शिक्षा की ओर भी अभिमुख किया, यही कारण है कि उन्हीं दिनों आपका ध्यान बाल-मनों में धार्मिक संस्कार जगाने की तरफ गया। इस दिशा में कदम बढ़ते हुए आपश्री ने सर्वप्रथम श्री श्रुताचार्य चौथ भवन, महिला बाग, जोधपुर में एक धार्मिक पाठशाला प्रारम्भ की। शाला का संचालन इतना व्यवस्थित और अनुशासन इतना कठोर कि छात्र-छात्राओं और उनके अभिभावकों में बहुत शीघ्र इसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी।

उस लोकप्रियता ने जादू जैसा कार्य किया। अनेक ग्राम-नगरों से गुरुवर के दर्शनार्थ आए श्रावक-श्राविकाओं ने, श्रद्धालुओं ने उस धार्मिक पाठशाला को देखा, बच्चों को पढ़ते देखा, युवकों को पढ़ाते देखा तो धर्मशास्त्र सम्बन्धी प्रश्न पूछे बच्चों से, व्यवस्था

सम्बन्धी प्रश्न किए अध्यापकों से। श्री पद्मचंद्र जी ने तभी विचार कर लिया कि यदि सुचारु देखरेख हो तो अन्य क्षेत्रों में भी धर्म-शिक्षा का कार्य हाथ में लिया जा सकता है।

आपने प्रयत्न प्रारम्भ कर दिये। सुखद-आश्चर्यजनक परिणाम सामने आए। आसोप, नागौर, रायपुर, सोजत आदि अनेक क्षेत्रों में एक के बाद एक धार्मिक पाठशालाएँ प्रारम्भ हो गईं। उनके कुशल संचालन के लिए आपने लगातार सम्पर्क बनाये रखा और आवश्यक प्रबंध किये।

धार्मिक पाठशालाओं के अतिरिक्त आपने जोधपुर में जय जैन व्यायामशाला, जय जैन पुस्तक कोष, जय जीत सिलाई प्रशिक्षण केन्द्र तथा जय जैन महावीर कोचिंग सेंटर की स्थापना की और उनका व्यवस्थित सुचारु संचालन भी किया।

महावीर जयंती, दीक्षा तथा अन्य जैन पर्वों, उत्सवों, जुलूसों का सफल नेतृत्व करना और उत्तम झाँकियाँ निकालना तब आप ही के निर्देशन में होता था। दीक्षा पूर्व तक १९८३ से १९८८ तक जोधपुर के महावीर जयंती जुलूस में प्रथम पुरस्कार प्राप्त झाँकी का अधिकांश श्रेय आप ही को था।

सन् १९८४ में आपने ही अथक परिश्रम करके विश्व का एक मात्र प्रथम जैन कैलेण्डर तैयार किया और उसे प्रकाशित किया। कैलेण्डर के पृष्ठ भाग पर इतनी उपयोगी सामग्री दी गई कि दो वर्ष में ही कैलेण्डर ने सम्पूर्ण भारत के जैन समाज में अपना स्थान बना लिया। ख्याति इतनी प्राप्त कर ली कि उसके कारण प्रकाशन संख्या की अत्यधिक वृद्धि हुई। आज भी 'पद्मोदय जैन कैलेण्डर' के नाम से यह प्रतिवर्ष प्रकाशित होता है। इस समय लगभग एक लाख कैलेण्डर छपते हैं फिर भी माँग बनी रहती है। आपकी कार्यकुशलता, कर्मठता और दूरदर्शिता का एक यही उदाहरण पर्याप्त है।

आप जॉयन्ट्स इण्टरनेशनल ग्रुप ऑफ जोधपुर के भी सम्मानित सदस्य रहे। ग्रुप द्वारा आयोजित अनेक कैम्पस के संचालन में आपने भाग लिया और उन्हें सफल बनाया। अनेक अन्य कार्यक्रमों में भी आपने सक्रिय भाग लेकर ग्रुप का नाम रोशन किया।

'कांकरिया टाइपराइटिंग सेंटर' आपका व्यावसायिक केन्द्र था। इस क्षेत्र में भी आपने कीर्तिमान स्थापित किया और अपने सुमधुर व्यवहार, कुशल निर्देशन एवं अथक परिश्रम से इसकी प्रगति में चार चाँद लगा दिए।

वेपेरी, चेन्नई के जयपरिसर में प्रवचन-प्रभावक डॉ. श्री पद्मचंद्र जी म. सा. ने अपने ओजस्वी प्रेरक-प्रवचनों में स्वयं के बाल्य-जीवन की एक घटना का उल्लेख किया। मैं सुन रहा था, लिख रहा था। मुझे लगा कि मुनिश्री के जीवन का यह अविस्मरणीय प्रसंग है, चिरस्मरणीय घटना है। वैराग्य-वपन कब, कहाँ हो जाता है? कौन-सा निमित्त अन्तर्मन

के किन तारों को कब छेड़ जाता है? अजब-गजब ही मानना पड़ेगा, ऐसे संयोग को। सबके जीवन में आते हैं ऐसे संयोग पर वे पकड़ में कहाँ आ पाते हैं साधारण मानवों के। बिरला ही होता है हजारों-लाखों में एक, जो उस संयोग से चेतन को जागृत बना लेता है।

तब हमारे आज के डॉ. श्री पद्मचंद्र जी म. सा. आठ-नौ वर्ष की आयु के थे। आपके मातुश्री श्रीमती मोहनकंवर ने ग्यारह की तपस्या की। क्षीर समुद्र तप का आराधन था यह। पारणे के दिन मुनिराज को लाना था। बालक पद्मचंद्र को पिता श्री मिश्रीमल सा. ने मुनिश्री को लाने का कह दिया। बालक पद्मचंद्र गए सिंहपोल। वंदन कर मुनिश्री से कहा कि मातुश्री के 99 का पारणा है। वे आपकी मांगलिक सुनकर पारणा करना चाहती हैं। कृपया उन्हें मांगलिक देने मेरे साथ पधारें। मुनिश्री ने बालक से उसके पिता का नाम पूछा और कहा—“तुम जाओ! उधर आना हुआ तो अवसर देखेंगे।”

बालक संस्कारित था। जानता था कि घर चला गया तो मुनिश्री क्या पता आएँ, न भी आएँ? वह सिंहपोल के द्वार पर आकर खड़ा हो गया। मुनिश्री झोली लेकर निकले तो वह भी उनके साथ चल दिया। एक मोहल्ला, दूसरा मोहल्ला, तीसरा मोहल्ला.....। मुनिश्री जहाँ गए, बालक साथ रहा। बालक का श्रम, अन्तर् की भावना सफल हुई। मुनिराज बालक के घर की ओर चल दिए।

परिवार बड़ा था। कई लोग तपस्या के पारणे के अवसर पर आए हुए थे। उस चहल-पहल, भीड़भाड़ के बीच मुनिश्री ने झोली खोली, पातरे निकाले। सभी चाहते थे कि उनके हाथ से मुनिश्री कुछ लें। हड़बड़ी-सी मची थी वहाँ। मुनिश्री के मना करते हुए भी कोई कुछ बहरा रहा था, कोई कुछ। मुनिश्री ने पात्र एकत्रित कर झोली में रखे। झोली लेकर वे उस घर से निकल गए। बालक का एक भाई मुनिश्री के साथ गया। इधर घर में बर्तन आदि यथास्थान करने लगे तो देखा मुनिश्री का एक भिक्षा-पात्र भूल से वहीं रह गया है।

श्री मिश्रीमल सा. कांकरिया ने पुत्र पद्मचंद्र को दौड़ाया कि “जा, महाराज को वापस बुलाकर ला, कहना आपका एक पातरा वहीं रह गया है।” बालक पद्मचंद्र गया, लाया मुनिराज को। मिश्रीमल सा. ने मुनिराज से कहा—“बाबजी! गृहस्थों के घर इस तरह एक-एक पातरा भूलेंगे तो गुरुजी को ले जाकर क्या बतायेंगे?”

मुनिश्री बोले—“श्रावक जी! आज तक कभी भूला नहीं। आदत भी नहीं है भूलने की। लगता है यह पातरा किसी भावी संयोग का संकेत बताने के लिए ही यहाँ रह गया। इस घर में कोई है जो इसका अधिकारी बनेगा।”

मुनिश्री तो कहकर निकल गए। उस घर में मुनिश्री की बात पर उपस्थित व्यक्तियों ने कहा—“मुनिश्री की जबान सिद्धि यदि है तो कोई न कोई दीक्षा लेगा इस घर से।”

श्री मिश्रीमल सा. ने हँसकर बात टालते हुए कहा—“महाराज ने तो सगला धोला ही धोला दीखे। कृण लेवे दीक्षा? ए सब केवणा री बातां है।”

श्रीमती मोहनकंवर ने कहा—“लेई तो ले लेई। चोखो ई है। अडेा कठे भाग के इण घर में सूं कोई दीक्षा ले।”

बालक पदमचंद्र सुन रहा था। उम्र ८ या ९ पर चिन्तन में यही बात घूमने लगी—‘महाराज ने गलत नहीं कहा। मुझे लेने हैं ये पातरे, मुझे लेनी है दीक्षा।’

उस बालक ने दबी जबान से घर के एक सदस्य से यह बात कही। घर का वह सदस्य बोला—“संस्कृत आवे, प्राकृत सीख लेई।” उस सदस्य ने कुछ मोटे-मोटे ग्रंथों की ओर हाथ से इशारा किया और कहा—“ए मोटा-मोटा ग्रंथ पढ़ना पडेला, पढ़ लेई। पेली सीख, पढ़, पछे करजे दीक्षा री बात।”

सुन लिया बालक पदमचंद्र ने। मन में ठान ली कि पढ़ना है खूब फिर बनना है महाराज।

बालक पदमचंद्र के मन में यहाँ से हो गया था वैराग्य बीज का वपन। उनके शिक्षा काल में कभी-कभी वह वैराग्य सिर तो उठाता पर धरती फाड़कर बाहर आने का पराक्रम न विद्यालयीय अध्ययन तक हो पाया और न ही बी. कॉम. की महाविद्यालयीय पढ़ाई तक। प्रयत्न था पर संयोग की कमी थी। माता-पिता के आज्ञाकारी सपूत थे अतः मन उनसे यह कहते हुए कि “घर त्याग रहा हूँ, आपको त्याग रहा हूँ, संसार का रागभाव छोड़ना चाहता हूँ।” कुछ-कुछ संकोच अनुभव करता था।

जैसा कि पूर्व के जीवन वृत्तांत से आप जान चुके हैं, उस वपित बीज को सिंचित किया १९८३ से १९८८ तक के श्री भूधर जैन धार्मिक शिक्षण शिविरों ने। अपने महाविद्यालयीय अध्ययन, व्यायामशाला, धार्मिक पाठशाला, सांस्कृतिक संगठन की गतिविधियाँ चलाते हुए भी आपकी वपित हुई वैराग्यभावना अंकुरण के लिए, पल्लवित होने के लिए उत्प्लावित बनती रहीं। समय-समय पर आप संयम के भाव प्रकट करते रहे। कभी पिताश्री के सम्मुख, कभी मातुश्री के निकट तो कभी बड़े भ्राताओं से कहते अपने मन की बात पर सभी हतोत्साहित ही करते थे।

आज के माता-पिता के लिए संयममार्ग पर जाने को तत्पर पुत्र-पुत्री को दीक्षा के लिए अनुमति देना सबसे दुष्कर कार्य है। मोहनीय कर्म इसमें व्यवधान डालता ही है। बस! यही हुआ युवा पदमचंद्र कांकरिया के साथ। पारिवारिक जन श्री कांकरिया की भावना को नजरअंदाज करते रहे, टालते रहे।



इन्हीं दिनों जोधपुर, श्री श्रुताचार्य चौथ भवन, महिला बाग में आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. आदि ठाणा ७ का चातुर्मास हुआ। चातुर्मास में श्री नूतन मुनि जी म. सा. अकाल में, अल्पायु में ही देवलोक सिधार गए। युवा पद्मचंद्र के वैराग्य ने तब तीव्रता की अनुभूति दी। संसार की यह क्षणिकता देखी उस युवक ने तो वह आत्म-कल्याण के पथ पर कदम रखने के लिए दृढ़ता से संकल्पित बन गया। अभी वह अपने इस संकल्प को अपने पारिवारिक जनों के मध्य रखना ही चाहता था कि आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. का भी उसी महिला बाग स्थानक में सन् १९८६ में स्वर्गवास हो गया। काल का यह तमाशा देख उस युवक ने दृढ़ निश्चय कर लिया कि कुछ भी हो मुझे संयम-पथ ग्रहण करना ही है। ईसवी सन् १९८६ में चतुर्विध संघ ने पंडितरत्न श्री लालचंद्र जी म. सा. को जयगच्छ के दशम् पट्टधर के पद पर प्रतिष्ठापित किया।

आचार्य के रूप में पूज्य श्री लालचंद्र जी म. सा. का एक मात्र चातुर्मास सन् १९८७ पीपाड़ शहर में हुआ। पीपाड़ जोधपुर से अधिक दूर नहीं है। कार, मोटर-साइकिल, जीप आदि से लगभग एक घंटा और पन्द्रह मिनट का रास्ता है। दूरी जानना चाहें तो लगभग ५५-६० किलोमीटर सड़क का रास्ता है। पद्मचन्द्र जी कांकरिया, जयगच्छीय संत ६०-१०० किलोमीटर की परिधि में होते तो कभी दो-तीन दिन में एक बार, नहीं तो सप्ताह में एक राउंड लगाते और गुरु-भगवंतों के दर्शन कर, प्रवचन सुन आते। वैराग्य भाव को अधिक पुष्ट करते रहते।

कितने अध्यवसायी, मेहनती, पुरुषार्थी? घर वालों के चेलेंज को स्वीकार कर धनोपार्जन कर रहे थे। स्कूलों, कॉलेजों व अनेक संस्थाओं के माध्यम से सामाजिक गतिविधियों में अग्रेता थे। अनेक बार गरीबों को भोजन देने, अस्पतालों में जरूरतमंद मरीजों को फलादि देने, गरीब छात्रों को पुस्तकें वितरण करने, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य शिविर लगाने आदि अनेक समाज-सेवा के कार्य में सोत्साह आगे होकर भाग लेते और अन्यान्य साथियों को इन कार्यों में जोड़ लेते थे।

चातुर्मास के पश्चात् विहार हुआ। आचार्य भगवंत एवं संत निकटवर्ती खांगटा, आसोप आदि क्षेत्रों का स्पर्श कर आप पुनः पीपाड़ पधारे। अस्वस्थता के कारण कुछ दिन वहाँ विराजमान हुए। वहाँ से पाली पधारे। अस्वस्थ अवस्था में भी उपचार हेतु विहार होता रहा। पाली से विहार जोधपुर की तरफ हुआ। पीपाड़ से पाली और फिर जोधपुर तक के विहार काल में पद्मचंद्र अपने साथियों के साथ जहाँ भी आचार्य भगवंत विराजते होते, चले जाते थे। जोधपुर पधार गए आचार्य भगवंत। फिर तो प्रातः, संध्या, मध्याह्न जब समय मिलता, पद्मचंद्र गुरुदेव के चरणों में पहुँच जाते।

आचार्यप्रवर स्व. श्री लालचंद्र जी म. सा. तब भगत की कोठी विराजमान थे। जोधपुर से लगभग ८ किलोमीटर दूर, जोधपुर का ही एक उपनगर। एक श्रद्धालु श्रेष्ठी के बंगले में। गुरुदेव श्री लालचंद्र जी म. सा., स्वामी जी श्री शुभचंद्र जी म. सा. (वर्तमान आचार्य), संयम शिरोमणि (वर्तमान उपाध्याय) श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा., कर्मठ अध्यवसायी श्री गुणवंतचंद्र जी म. सा. आदि ठाणा के सान्निध्य में भक्त-श्रावकों का आना-जाना नित्य बना रहता था। श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. दिन में एक बार शहर से गुरुदेवश्री की सेवा में पधार जाते। सेवा की अभिलाषा मन में सँजोये श्री पद्मचंद्र जी कांकरिया भी समय-समय पर भगत की कोठी जाते और पुनः आ जाते शहर।

अक्षय तृतीया आ गई। प्रभु आदिनाथ के वर्षीतप का पारणा हुआ था, कभी इसी पावन दिन। प्रासुक, एषणीय गन्ने का निर्दोष रस बहराया था श्रेयांसकुमार ने। वही स्मृति अमर बनी रहे अतः प्रतिवर्ष सैकड़ों, हजारों जैन नर-नारी वर्षीतप करके इस दिन अपने-अपने श्रद्धेय गुरुदेव की चरण-शरण में जाते हैं और वहीं पारणा करते हैं।

स्व. आचार्यप्रवर श्री लालचंद्र जी म. सा. के सान्निध्य में तब अक्षय तृतीया के पारणे हुए थे। श्री पद्मचंद्र जी कांकरिया ने व्यवस्था में सक्रिय भाग लिया। पारणे सम्पन्न होने पर गुरुदेव आचार्य श्री लालचंद्र जी म. सा. ने श्री पद्मचंद्र जी से पूछा—“अब क्या विचार है? देर क्यों कर रहे हो?” तब श्री पद्मचंद्र जी ने कहा—“अब देर नहीं गुरुदेव!” फिर मांगलिक ली और शहर आ गए।

अभी श्री पद्मचंद्र जी महिला बाग पहुँचे ही थे कि भगत की कोठी से समाचार आए कि आचार्यप्रवर सीरियस हैं। उसी समय महिला बाग से पहुँचे भगत की कोठी तब तक आचार्यश्री ने संथारा ले लिया था। समाधि के साथ संथारा चल रहा था। करीब दो घंटों के बाद प्राणों ने देह को त्याग दिया। पार्थिव शरीर सभी के सम्मुख था पर आत्मा कहीं और चली गई थी। विश्वास नहीं हो रहा था श्री पद्मचंद्र को। यद्यपि वे अन्तिम समय में की जाने वाली पार्थिव शरीर सम्बन्धी लोक-व्यवहार की क्रियाओं को सम्पन्न कराने में जुटे हुए थे। अन्य अनेक दिग्गज श्रावक आ चुके थे। अग्नि-संस्कार रात्रि व्यतीत होने पर किया जाना था। पार्थिव शरीर भगत की कोठी से महिला बाग स्थानक लाया गया।

उस रात श्री पद्मचंद्र वहीं रहे। सजग-सचेत चिन्तन में लीन। बार-बार यही चिन्तन कि ‘मैंने देर कर दी। मैंने गुरुदेव की बात पर ध्यान नहीं दिया। मैं गुरुदेवश्री के श्रीमुख से दीक्षा-मंत्र नहीं सुन सका। गुरुदेव मुझे मुनि-वेश, लुंचित-केश में नहीं देख सके। वे देखना चाहते थे, तीव्र अभिलषित थे पर मैं उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं कर सका।’

जैसे सैकड़ों विचार, एक ही भाव पर भाषा अलग, शब्द अलग, सौ-सौ बार दिल-दिमाग में घूम रहे थे।

लोक परम्परा थी। अतः पार्थिव शरीर देह का अन्तिम संस्कार किया गया। श्री पद्मचन्द्र उस विशाल अन्तिम संस्कार यात्रा में थे, पर तन और कहीं, मन और कहीं। पश्चात्ताप एक ही कि 'मैं दीक्षा नहीं ले सका।' उधर श्मशान में धूँ-धूँ कर आचार्य भगवन् की पार्थिव चिता जल रही थी, इधर श्री पद्मचन्द्र का अन्तर्मन दहक रहा था। वही दृढ़ निर्णय लिया कि परिवार को दीक्षानुमति देने के लिए येन-केन-प्रकारेण मनाऊँगा।

महिला बाग, जोधपुर का प्रवचन हॉल श्रोताओं से लगभग पूरा भरा हुआ। गुरुदेव वर्तमान आचार्य श्री शुभचंद्र जी म. सा. एवं उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. का प्रवचन चल रहा था। उसी प्रवचन में बहुत ही दृढ़ता के साथ युवक श्री पद्मचंद्र ने सभी के मध्य खड़े होकर अपनी दीक्षा तिथि की घोषणा करते हुए कहा था—“मैं २५ जून, १९८८ को पूज्य गुरुदेव के श्रीमुख से दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। मेरे परिवार वाले आज्ञा नहीं देते हैं, अतः मैं श्रीसंघ से आज्ञा चाहता हूँ। आप सभी उपस्थित श्रोताओं के समक्ष आज मैं मेरा यह दृढ़ संकल्प प्रकट करता हूँ।”

आपने उसी दिन चउविहार तेले के प्रत्याख्यान ले लिये। यह भी स्पष्ट कर दिया कि घर वाले आज्ञा नहीं देते हैं तो आगे बढ़ने के भाव हैं।

आपकी दृढ़ता के समक्ष कांकरिया परिवार को झुकना पड़ा। दीक्षानुमति मिली और २५ जून, १९८८ की प्रातः वेला में सरदार हायर सैकेण्डरी विद्यालय, जोधपुर के विशाल क्रीडांगण में लगभग दस हजार की जनमेदिनी के मध्य जय-सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्यप्रवर श्री शुभचंद्र जी म. सा. और वर्तमान उपाध्यायप्रवर श्री पार्श्वचंद्र जी म. सा. आदि ठाणा के सान्निध्य में आपने दीक्षा-मंत्र ग्रहण किया। आपको श्रुतसागर स्व. आचार्यप्रवर श्री लालचंद्र जी म. सा. का शिष्य घोषित किया गया।

दीक्षा के दिन ही आपने अपने प्रथम प्रवचन में अत्यन्त आत्म-विश्वास के साथ धाराप्रवाह बोलते हुए जैन सिद्धांतों और जैनदर्शन का जो प्रभावी चित्रण किया, उससे प्रभावित श्रोताओं को आभास हो गया कि जय-सम्प्रदाय को एक प्रतिभाशाली संत मिला है। तब से आज तक का आपका जीवन विशुद्ध संयम-पालन, गुरु-सेवा, आगमज्ञान वृद्धि के साथ संघ, समाज व जन-जन के आत्म-कल्याण में ही व्यतीत हुआ और हो रहा है।

ईसवी सन् १९६६ में राजस्थान के सर्वाधिक प्रसिद्ध आकर्षण का केन्द्र कहलाने वाले माउंट आबू के सर्वोच्च शिखर स्थल उच्च एवं दुर्गम अचलगढ़ की एक गुफा में पन्द्रह दिन तक आर्यबिल तपाराधना के साथ स्वयं द्वारा प्रणीत पूर्णतः आगमोक्त 'अणुपेहा-ध्यान' की

साधना की। आपके श्रद्धालु भक्तों ने अनुभव किया कि उसके बाद आपश्री में अद्भुत परिवर्तन हुआ है।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि उस अद्भुत परिवर्तन ने सचमुच ही आपकी साधना, आपकी आराधना, आपके व्यक्तित्व, आपके कृतित्व एवं अन्य अनेक पहलुओं को दिव्य शक्ति-सम्पन्न बना दिया। सन् १९६६ के बाद का आपका समुन्नत दीक्षा जीवन इसका प्रत्यक्ष साक्षी है।

आज आपके ओजस्वी एवं प्रेरक प्रवचनों का जैन समाज में एक विशेष चुंबकीय प्रभाव है। एक बार जो सुन लेता है, बार-बार सुनने को उत्सुक बना रहता है। आपने अपने १९६६ के जोधपुर चातुर्मास में आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित 'बड़ी साधु वन्दना' नामक रचना पर इतने सारगर्भित प्रवचन दिए कि श्रोता मंत्रमुग्ध बने रह गए। श्री श्वे. स्था. जयमल जैन श्रावक संघ, जोधपुर के प्रयत्नों से पुखराज मुणोत, जोधपुर ने सश्रम उनका संकलन संपादन किया और जयमल जैन मैमोरियल ट्रस्ट, चेन्नई ने उनका प्रकाशन करवाया। जैन जगत् के संत-सती वर्ग एवं विद्वद् स्वाध्यायी वर्ग में इनको अत्यधिक सराहा गया।

एकभवावतारी आचार्यसम्राट् पूज्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित "शल्य छत्तीसी" पर रायचूर (कर्नाटक), "धर्म महिमा" पर वेपेरी (चेन्नई) एवं "चौंसठ सती सज्जाय" पर गणेश बाग (बैंगलोर) तथा जैन भवन वड़पलनी (चेन्नई) एवं बोलारम (आन्ध्रा) के चातुर्मासों में दिए गए आपके प्रवचनों ने आबाल-वृद्ध श्रोताओं को जो आध्यात्मिक प्रेरणा दी, वह अविस्मरणीय है।

आपके सान्निध्य में आयोजित होने वाले ग्रीष्मावकाश (विद्यालय-महाविद्यालय) कालीन आध्यात्मिक ज्ञान-ध्यान संस्कार शिविरों व आप द्वारा आगमोक्त शैली में प्रणीत अणुपेहा-ध्यान-पद्धति के शिविरों ने सहस्र-सहस्र बाल-युवा-प्रौढ़ों को जैनधर्म के प्रति प्रभावी ढंग से आकर्षित किया है। सन् १९८०-१९८१ में जहाँ इन शिविरों में १०० से २०० शिविरार्थी ही भाग लेते थे, आपश्री के प्रयत्नों और विशिष्ट शिक्षण पद्धति के कारण वर्तमान में पूरे भारत से लगभग २,२०० से २,५०० तक शिविरार्थी प्रतिवर्ष भाग लेते हैं।

दक्षिण भारत में आपके ओजस्वी प्रवचनों के प्रभाव व आपकी महती प्रेरणा के साथ ही सरल-सरस समझाईश के कारण मात्र तीन वर्षों में १५ से २० हजार श्रद्धालु श्रावक-श्राविका व्रतधारी बन चुके हैं। लगभग २०० से अधिक दम्पतियों ने ब्रह्मचर्य विषय पर आपके चुम्बकीय प्रवचनों से प्रभावित हो सजोड़े आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन का संकल्प ग्रहण किया है।

पूर्णतः आगम आधारित जिस अणुपेहा-ध्यान-पद्धति की शोध आपने की है, उसके शिक्षण-प्रशिक्षण एवं प्रायोगिक परीक्षण से हजारों व्यक्ति मानसिक तनाव से मुक्त होकर शांत और सुखी जीवन को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।

दीक्षा पश्चात् अब तक की अवधि में आपने अपने आगमिक ज्ञान को चिन्तन-मनन एवं सूक्ष्म अध्ययन से निरंतर आगे बढ़ाते हुए आज उस स्थिति में पहुँचा दिया है कि जहाँ वह ज्ञान आगम के एक-एक सूत्र, शब्द, अक्षर में छुपे गूढ़ रहस्यों को चिन्तक की आत्मा तक पहुँचा देता है। यही कारण है कि आपके प्रवचनों की गूँज आज समस्त भारत में है और केवल जैन समाज के स्थानकवासी सम्प्रदाय में ही नहीं अपितु अन्य सम्प्रदायों एवं जैनेतर विद्वानों में भी है।

आपका साहित्यिक व आध्यात्मिक व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक एवं प्रभावशाली है। सरलता, सुबोधता और सरसता की विशेषताओं के कारण आपश्री कहीं भी जटिल व बोझिल नहीं अनुभव किये जाते। पीयूषवर्षी मेघ की तरह आप श्रोताओं को रसविभोर कर जिनवाणी की ताल पर धर्म-नृत्य करने को तत्पर बना देते हैं।

जैनागम सिद्धान्तों के साथ जयमल नाम और जयमल साहित्य को जन-जन के अंतर में प्रवाहित कर देने वाले इस रचनाधर्मी, आध्यात्मिक चेतना के धनी, गूढ़ आगम रहस्यों के ज्ञाता, तेजोदीप्त व्यक्तित्व के धारक, ओजस्वी वक्ता महामनीषी को उनके सहस्र-सहस्र भक्तों की ओर से कोटिशः वन्दन-अभिनन्दन!

—पुखराज मोहनोत, जोधपुर



**डॉ. श्री पदमचंद्र जी म. सा. द्वारा  
संकलित, सम्पादित एवं प्रवचन साहित्य**

पुस्तक का नाम	मूल्य
<input type="checkbox"/> धर्म का मर्म, भाग-१ (उपाध्यायश्री के प्रवचन)	३०.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना, प्रवचन भाग-१ से ५ (४५०/- प्रत्येक × ५) पूरा सैट	२,५००.००
<input type="checkbox"/> जय ध्वज, भाग-१-२-३-४ (सचित्र) (४००/- प्रत्येक × ४)	१,६००.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय जैन सचित्र कथामाला (जय-जस गाथा—भाग १-२-३)	६०.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना की सचित्र कथाएँ, भाग-१ (पहुँच्या भव जल तीर)	३५.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना की सचित्र कथाएँ, भाग-२ (कपिल केवली)	३५.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना की सचित्र कथाएँ, भाग-३ (नमि राजर्षि)	३५.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना की सचित्र कथाएँ, भाग-४ (हरिकेशी बल)	३५.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना की सचित्र कथाएँ, भाग-५ (चित्त-संभूति)	३५.००
<input type="checkbox"/> श्रावक के बारह व्रत	१२.००
<input type="checkbox"/> एकभवावतारी	१०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय प्रतिक्रमण सविधि सार्थ	१०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय सविधि प्रतिक्रमण (हिन्दी व अंग्रेजी)	१०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय सविधि प्रतिक्रमण (हिन्दी)	१०.००
<input type="checkbox"/> श्रावक के चौदह नियम	१२.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय स्तोक संग्रह, भाग-१	१०.००
<input type="checkbox"/> शुभ प्रभात (प्रार्थना)	२०.००
<input type="checkbox"/> धर्म महिमा (गुटका)	१०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय स्वाध्याय माला	१०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय धर्म प्रवेशिका	१०.००
<input type="checkbox"/> बड़ी साधु वन्दना (गुटका)	६.००
<input type="checkbox"/> चौंसठ सती वंदना (गुटका)	६.००
<input type="checkbox"/> पद्म स्तोत्र स्तुति (अप्राप्य)	२०.००
<input type="checkbox"/> णमोक्कार महामंत्र : लोकव्यापी सत्ता, जीवनव्यापी महत्ता	२५.००
<input type="checkbox"/> चौंसठ सती सज्जाय, प्रवचन भाग-१ (सचित्र)	४५०.००
<input type="checkbox"/> चौंसठ सती सज्जाय, प्रवचन भाग-२ (सचित्र)	४५०.००
<input type="checkbox"/> चौंसठ सती सज्जाय, प्रवचन भाग-३ (सचित्र)	४५०.००
<input type="checkbox"/> चौंसठ सती सज्जाय, प्रवचन भाग-४ (सचित्र) (प्रकाशनाधीन)	४५०.००
<input type="checkbox"/> पद्मोदय जैन कैलेण्डर (प्रतिवर्ष प्रकाशित)	

**पुस्तक प्राप्ति-स्थान : श्री जयमल जैन पार्श्व पद्मोदय फाउण्डेशन**

**C/o, Vijay Singh Pincha, 9, Travelian Basin Street,  
Sowcarpet, Chennai-600 079**

## प्रवचन क्रम

क्रम संख्या	शीर्षक	पृष्ठ संख्या
१.	मुक्ति का द्वार : विनय	१
२.	नमन में समर्पणभाव	१७
३.	जयवन्ता जगदीश	३१
४.	कर्मरिपु-सम्यक्त्व	४६
५.	सुत्तं गन्थंति गणहरा	८१
६.	गौतम नाम प्रत्यक्ष	१०१
७.	वैराग्य मन आणी	११५
८.	तृष्णाओं का अन्त : आत्म-सुख अनन्त	१३३
९.	अनेकत्व से एकत्व की ओर नमिराजर्षि	१५१
१०.	जाति रो कारण को नहीं करणी रा फल सारो ए	१७३
११.	उत्कृष्टता के दो रूप : एक योगी, एक भोगी	१६५
१२.	मुक्ति के पथ पर	२१३
१३.	द्रव्य संयति से भाव संयति	२३३
१४.	चक्रवर्ती से मोक्षवर्ती	२४६
१५.	वलि दसे चक्रवर्ती	२७३
१६.	संति संति करे लोए	२६१
१७.	धर्मो रक्षति रक्षितः	३०३
१८.	जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा (१)	३१७
१९.	जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा (२)	३४१
२०.	जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा (३)	३५६
२१.	मान करी मुगति गया धन दशार्णभद्र राजा ए !	३८३

ॐ

ॐ

पूज्य जयमल जी हुआ अवतारी, ज्यांरा नाम तणी महिमा भारी।  
 कष्ट टले मिटे ताव तपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 पूज्य नामे सब कष्ट टले, वली भूत-प्रेत पिण नाय छले।  
 मिले न चोर हुवे गुप-चुपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 लक्ष्मी दिन-दिन बढ जावे, वली दुःख नेड़ो तो नहीं आवे।  
 व्यापार में होवे बहुत नफो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 अड़ियो काम तो हो जावे, वली बिगड़यो काम भी बण जावे।।  
 भूल-चूक नहीं खाय डफो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 राज-काज में तेज रहे, वली खमा-खमा सब लोक कहे।  
 आछी जागा जाय रूपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 पूज्य नाम तणो जो लियो ओटो, ज्यारे कदे नहीं आवे टोटो।  
 घर-घर बारणे काय तपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 एक माला नित्त नेम रखो, किणी बात तणो नहीं होय धखो।  
 खाली विमाण अरु टलेजी सपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 स्वभक्त तणी प्रतिपाल करे, मुनिराम सदा तुम ध्यान धरे।  
 कोई परतिख बात मती उथपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।  
 पूज्य नाम प्रताप इसो जबरो, दुख कष्ट-रोग जावे सगरो।  
 केई भवांरा कर्म खपो, पूज्य जयमल जी रो जाप जपो।।

नोट—इस चमत्कारी जय जाप को नित्य पढ़ने से सम्यक्त्व सुदृढ़ बनता है।

बड़ी साधु वन्दना-प्रवचन

(प्रथम भाग)



## मुक्ति का द्वार : विनय

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे।  
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥

आत्म-बन्धुओं!

अज्ञान-तम के नाशक, सद्गुणों के प्रकाशक, कुमति के विनाशक, अनंत उपकारी जिनेश्वर भगवान की वाणी ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और बत्तीसवें आवश्यकसूत्र रूप हैं।

### □ जिनवाणी का महत्त्व

इस वाणी का स्मरण करने वाला साधक जन्म-मरण के दुःखों को दूर करने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यह जिनवाणी ही सम्यक् अहिंसा, सम्यक् संयम एवं सम्यक् तप रूप सम्यक् धर्म के पथ पर अग्रसर कर सकती है। जब तक साधक की साधना में सम्यक् धर्म-आराधना का यह स्वरूप नहीं आता, उसकी साधना सफल नहीं हो सकती, वह अष्टकर्म-कारा को तोड़कर मुक्त नहीं हो सकता।

### □ विनीत ही हो सकता है, जिनवाणी-आराधक !

कौन आराधक बन सकता है इस वाणी का? पूर्ण रूप से जिनवाणी की आराधना करने वाले होते हैं—श्रमण एवं श्रमणी। आंशिक रूप से इसे ग्रहण करते हैं—श्रावक व श्राविकाएँ। आराधना के लिए चाहिए गुणग्राहकता और गुणग्राहक वही बन सकता है जो विनयी हो। विशेषावश्यकभाष्य में कहा है—“विणीओ संजओ भवे।” अर्थात् विनीत व्यक्ति ही संयमाराधक बन सकता है। “विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो।” प्रस्तुत मंगलाचरण की इस पंक्ति में बताया गया है कि विनय से हीन

साधक का धर्म, धर्म नहीं है और तप, तप नहीं है। व्यक्ति यदि अविनीत है तो उसकी धर्म-क्रियाएँ मिथ्यात्व में आयेंगी और उसका तप अज्ञान तप माना जायेगा।

### □ विनय ही श्रेष्ठ धर्म है

प्रश्नव्याकरणसूत्र में विनय को तप बताते हुए कहा गया है—“विणवो वि तवो, तवो वि धम्मो।” अर्थात् विनय स्वयं एक तप है और वह आभ्यन्तर तप होने से श्रेष्ठ धर्म है।

टीकाकार शीलांकाचार्य का कथन है—“विनीयते अपनीयते कर्म येन स विनयः।”—जिसके द्वारा कर्म दूर होते हैं, कर्मों का क्षय होता है, वह है विनय।

### □ मिल रहा है स्वर्णिम अवसर

उक्त सभी अपेक्षाओं से विनय को धर्म का मूल बताया गया है। आपको उचित समय और अनुकूल सान्निध्य मिला है, उक्त गुण को जीवन में प्रकट कर गुणग्राही बन मुक्ति-पथ की ओर अग्रसर होने का। स्वर्णिम अवसर है गुरुदेवश्री का यह चातुर्मास। आप सभी को इस अवसर से लाभ उठाना है क्योंकि ‘अवसर चूकि पुनि का पछताने’, यदि चूक गये यह अवसर तो बाद में पश्चात्ताप होगा कि हाय! तब महाराजश्री ने कहा था पर हमने ध्यान नहीं दिया।

### □ यह चातुर्मास अपूर्व बने !

बंधुओं! चातुर्मास तो प्रतिवर्ष आता है पर मेरी हार्दिक अभिलाषा यह है कि महिला बाग का यह जोधपुर चातुर्मास हमारे और आपके लिए एक अपूर्व चातुर्मास हो। आप सभी तीर्थ से तीर्थकर बन जाएँ। संसाररूपी सागर को पार कर तीर अर्थात् तट पर चले जायें। जन्म-जन्मान्तर की कर्मवर्गणाओं को शीघ्र ही तोड़ डालें।

हो सकता है यह सब सुनकर आपको हँसी आ रही हो पर मैं आपको इस चातुर्मास में भावों की उस ऊँची श्रेणी पर चढ़ देना चाहता हूँ, जहाँ जाकर आप घर-परिवार-संसार-भोगोपभोग-मौज-शौक आदि सभी को विस्मृत कर बैठें और ये अवसर आपके लिए इतना अनमोल महत्त्व का बन जाये कि आप जीवनभर इसे स्मृति में सँजोये रखें। वैसे भी वर्ष के बारह महीनों में से यदि ये चार मास घटा दें तो पीछे क्या रहेगा ?

### □ धर्म नहीं तो शेष क्या रहा ?

कभी अकबर ने बीरबल से यह प्रश्न किया था तब बीरबल ने बहुत ही विवेकपूर्वक अपनी औत्पातिक बुद्धि से कहा था—“कुछ भी नहीं।” वहाँ बैठे सभी सभासदों को तब बीरबल का यह उत्तर सुनकर आश्चर्य हुआ था। आप भी आश्चर्य कर रहे होंगे कि ऐसा कैसे? बारह में से चार जाने पर तो शेष आठ रहने चाहिए। महत्ता यदि गिनती की ही होती तो प्रश्न करने वाला अकबर और उत्तर देने वाला बीरबल नहीं होता। प्रश्न में महत्त्व है उपयोगिता का, गुणों का। वस्तुतः शेष बचे आठ माह के महत्त्व से कई गुणा अधिक महत्त्व है चातुर्मास के चार माह का। वर्षा यदि नहीं हुई तो पानी कैसे आयेगा? बिन पानी के तो जीवन ही नहीं बच पायेगा।

बंधुओं! यही बात धार्मिक कार्यक्रमों की है। वर्षभर इस तरह का सन्त-सान्निध्य प्राप्त नहीं हो पाता, पर चार मास तक सन्त-सान्निध्य तो अब आपको मिलेगा ही, जिनवाणी रूप अमृत-वर्षा होगी ही। सारी आन्तरिक गन्दगी को बाहर निकाल देना है, विकारों को नष्ट कर देना है। ऐसा करने पर निश्चय ही आपको जीवन का सम्यक् लक्ष्य प्राप्त हो जाएगा।

### □ मानव-जीवन का सम्यक् लक्ष्य है मोक्ष

क्या है यह सम्यक् लक्ष्य? मानव-जीवन का सम्यक् लक्ष्य है—‘शाश्वत सुखों की, मोक्ष की प्राप्ति।’ प्रत्येक भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है। सुगमता से यदि मोक्ष-प्राप्ति हो जाय तो फिर कहना ही क्या? आगमों में तीर्थकर-नामकर्म उपार्जन के बीस बोलों का वर्णन मिलता है। ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र के आठवें अध्ययन में आया है—

इमेहि य णं वीसाएहि य कारणेहि आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर नाम गोयं  
कम्मं निव्वत्तिसु तं जहा—

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरु-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसु।  
वच्छलया य तंसिं, अभिक्खणाणोवओगे य॥  
दंसण-विणय आवस्सए य, सीलव्वए निरइयारं।  
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥

अपुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पभावणया।  
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो ॥

अर्थात्—

- (१) अरिहंत भगवान का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (२) सिद्ध भगवन्त का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (३) जिनोपदेश का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (४) निर्ग्रन्थ गुरुवर का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (५) स्थविर मुनिवर का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (६) बहुश्रुत-पण्डित का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (७) तपस्वी का गुणानुवाद करता हुआ जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (८) बार-बार ज्ञान में उपयोग लगाते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर- नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (९) निर्मल सम्यक्त्व का पालन करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।
- (१०) गुरु आदि पूज्यजनों का विनय करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(११) निरन्तर षडावश्यक (प्रतिक्रमण) का अनुष्ठान करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१२) व्रत-प्रत्याख्यानों का निर्दोष पालन करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१३) नित्य विरक्तिभाव रखते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१४) बाह्य एवं आभ्यन्तर तप करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१५) सुपात्र को दान देते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१६) गुरु, रोगी, वृद्ध, तपस्वी एवं नवदीक्षित मुनि की वैयावृत्य-सेवा करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१७) समाधिभाव रखते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१८) जिन-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रखते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(१९) नित्य-नूतन-सद्ज्ञान सीखते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

(२०) तन, मन, धन से जिनशासन की प्रभावना करते हुए जीव उत्कृष्ट भाव-श्रेणी के आने पर तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन करता है।

#### □ मोक्ष-प्राप्ति का सरलतम उपाय

अब ध्यान लगाकर देखें तो उक्त जो ये तीर्थकर-गोत्र-उपार्जन के बोल कहे, इनमें से अधिकांश बोल हैं गुणी-पुरुषों के गुण-कीर्तन करने के। बंधुओं! मोक्ष-प्राप्ति का

सरलतम उपाय भी यही है अर्थात् गुणीजनों का वन्दन, कीर्तन। आप भी चाहते हैं सहज रूप से तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन। न अधिक तप-संयम की आवश्यकता, न अधिक समय-श्रम की आवश्यकता। कितना आसान है मोक्ष में जाना।

आज ही से आप सभी भावपूर्वक गुणियों का गुणानुवाद प्रारम्भ कर दीजिये। मैं आपको सहयोग करूँगा अर्थात् चार माह तक इसी दिशा में उपदेश-निर्देश देने के लिए सचेष्ट रहने का प्रयास करूँगा जिससे आप और हम, सभी आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर हों, आत्म-कल्याण करें।

#### □ बड़ी साधु वन्दना (आचार्य श्री जयमल जी म. सा. द्वारा रचित)

यह कार्य कैसे प्रारम्भ किया जाये? यह भी चिन्तन का विषय है पर अधिक चिन्तन की आवश्यकता नहीं क्योंकि हमें चिन्तन प्रदान कर दिया गया है। चिन्तन देने वाले महनीय महामना हैं—युगपुरुष, चर्चा-चक्रवर्ती, भीष्म-व्रतधारी **एकभवावतारी आचार्यसम्राट् श्री १००८ श्री जयमल जी म. सा.**। आपश्री द्वारा रचित पद्यमय रचना 'बड़ी साधु वन्दना' ही इस चिन्तन का सार है। इस रचना में अधिकांश आगमों का सारांश आ गया है।

#### □ नमूं अनन्त चौबीसी

आचार्यश्री की 'बड़ी साधु वन्दना' एक अति श्रेष्ठ, अति सुन्दर, अति भावप्रद रचना है। यह ज्ञेय है और उपादेय भी है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसे गाने के लिए भावों के प्रस्फुटन का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अपितु स्वतः ही भाव प्रस्फुटित हो जाते हैं। भावों की उच्च श्रेणी पर चढ़ने के लिए यह 'बड़ी साधु वन्दना' निश्चय ही राम-बाण है। बस, एक बार पढ़ना-गाना प्रारम्भ कर दीजिए, ज्यों-ज्यों पढ़ते जायेंगे स्वतः भाव रस की गहराई में उतरते जायेंगे। ऐसे लीन, ऐसे मगन, ऐसे दत्त-चित्त हो जायेंगे कि समस्त अशुभ प्रवृत्तियों को भूलकर शुभ में सराबोर हो जायेंगे, शुद्धता की ओर बढ़ते चले जायेंगे। इस पावन रचना की प्रथम कड़ी है—

नमूं अनन्त चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।

इण आर्यक्षेत्र मां, घाली धर्म नीं सीर ॥१॥

### □ शब्द 'नमूं' का विश्लेषण

इस कड़ी की प्रथम अर्धाली का पहला शब्द है—'नमूं' अर्थात् नमन करता हूँ।

बंधुओं! यह भारतवर्ष कभी जगद्गुरु था। इसकी अपनी अनेक-अनेक विशेषताएँ थीं। विश्वभर में भारतीय संस्कृति बेजोड़ थी। अब भी बेजोड़, अद्वितीय, असाधारण मानी जाती है। इसी भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक सबल, श्रेष्ठ पहलू है—'नमन' की संस्कृति।

जैनधर्म का आधार, चौदह पूर्वों का सार और प्राणीमात्र के लिए सुखकार जो जैन-मंत्र है, वह है 'महामंत्र नवकार'। नवकार मंत्र में भी नमन की संस्कृति को ही सर्वोच्च अध्यात्म माना है। मंत्र का अन्य नाम ही है—'नमस्कार मंत्र'। सर्वप्रथम पंच-परमेष्ठी अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुजन को नमन, तब कोई अन्य कार्य। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है—

**मणसा गुणपरिणामो, वाया गुण-भासणं च पंचणहं।**

**काएण संपणामो, एस पयत्थो नमुक्कारो॥**

अर्थात् मन से आत्मा का पंच-परमेष्ठी के गुणों में परिणमन, वचन से उनके गुणों का कीर्तन एवं काया से सम्यक् विधियुक्त उन्हें प्रणाम ही नमस्कार-पद का वास्तविक अर्थ है।

रचना का नाम है वन्दना और किया गया है नमन। स्पष्ट है नमन ही वन्दन-अभिनन्दन को आकृति देता है। नमन द्वारा ही वन्दन होता है। वन्दन में—“कायवाङ्मनः प्रणिधाने।” अर्थात् मन-वचन-काया तीनों का समन्वय, तीनों का नमन, तीनों का प्रणिधान होता है। साधक कविवर ने प्रारम्भ में अनन्त चौबीसी को नमन किया है और दूसरी पंक्ति में उन्हें नमन करने का कारण भी स्वयं ही बता दिया है।

### □ वंदणेणं भंते जीवे किं जणयइ?

चिन्तन करने का विषय यह है कि इस महान् संस्कृति में किसी भी शुभ कार्य के प्रारम्भ में वंदन की परम्परा, नमन का रिवाज क्यों? क्या लाभ मिलता है नमन

करने से। उत्तराध्ययनसूत्र के २९वें अध्ययन “सम्यक्त्व-पराक्रम” के १०वें एवं ११वें सूत्र में गणधर गौतम ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया है—“वन्दणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ?” अर्थात् हे प्रभु! वन्दन करने से जीव को क्या लाभ प्राप्त होता है? प्रभु ने फरमाया—“वन्दणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ।”

तात्पर्य यह कि वन्दन-नमन करने से जीव यदि पूर्व में नीच गोत्र का बंध कर चुका है तो वह क्षय हो जाता है। जैनधर्म कर्म-प्रधान धर्म है। इस धर्म की स्पष्ट मान्यता है कि “अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।” आत्मा ही कर्मों का कर्त्ता है और वही उनका भोक्ता है। वे कर्म सुखरूप शुभ कारक भी हो सकते हैं और दुःखरूप अशुभ कारक भी। पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्तों की मान्यता यहाँ है अतः किसी भी पूर्व जन्म में यदि अविनय के कारण नीच गोत्र का जीव ने बंध कर लिया है तो इस भव में विनयभाव से वन्दन कर उसे तोड़ सकता है।

#### □ नीच गोत्र बंध के कारण

समवायांग और ठाणांग दोनों ही सूत्रों में नीच गोत्र कर्मबंध के जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य इन आठ का मद कारणरूप बताये गये हैं। श्रेष्ठ जाति या उच्च कुल का अहंकार होना (यहाँ कुल का अर्थ पितृपक्ष से तथा जाति का अर्थ मातृपक्ष से लिया गया है), प्राप्त बल या सौन्दर्य का अथवा की हुई तपस्या का मद करना, ज्ञानियों का ज्ञान पर अभिमान करना (श्रुतमद), लाभ अधिक होने पर मन में फूल जाना, ऐश्वर्यशाली होने का घमण्ड करना—इन आठ प्रकार के मद के कारण जीव नीच गोत्र का बंध करते हैं।

#### □ नीच गोत्र बंध का परिणाम

नीच गोत्र कर्म जब एक बार बँध जाता है तो इसे नमन, विनय करके तोड़ा जा सकता है या फिर उदय में आने पर इसके परिणामों को भोगकर इससे पीछा छुड़ाया जा सकता है। परिणाम भोगने के आठ प्रकारों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है—निम्न कुल, हीन-जाति, कुरूपता-विद्वरूपता, तपादि का न हो पाना, श्रुतलाभ का न मिलना, धनादि में हीनता, गरीबी, निर्बलता और ऐश्वर्यहीनता।



### □ वन्दन से उच्च गोत्र-उपार्जन

वन्दन-नमन से पूर्व का नीच गोत्र बंध तो टूटता ही है, वर्तमान में नीच गोत्र बंध नहीं होता, अपितु इस गुण के जीवन में आने से उच्च गोत्र नामकर्म का उपार्जन होता है जिसके परिणामस्वरूप जब उच्च गोत्र कर्म उदय में आता है तो उच्च कुल, श्रेष्ठ जाति आदि आठ प्रकार की श्रेष्ठताएँ मिलती हैं।

उच्च गोत्र बंध में सर्वश्रेष्ठ उच्च गोत्र है—“तीर्थकर नामकर्म” का उपार्जन। कितना आश्चर्य है कि केवल वन्दन करने, नमन करने, विनय दर्शाने से व्यक्ति तीर्थकर बन सकता है। ध्यान रखने की बात है कि यह सब तभी होगा जब वन्दन और नमन में अन्तर्-हृदय का सहयोग होगा।

### □ वन्दन के दो प्रकार बताये हैं—(१) द्रव्य-वन्दन, और (२) भाव-वन्दन

**द्रव्य-वन्दन**—वचन और काययोग का प्रयोग कर मुँह से वन्दना-पाठ बोलना तथा शरीर के श्रेष्ठ पाँच अंगों को नमाकर गुणीजनों को वन्दन करना द्रव्य-वन्दन है। इसके तीन भेद हैं—

(१) **जघन्य द्रव्य-वन्दन**—साधक, गुणीजन आते-जाते राह में मिलें तो दोनों हाथ जोड़कर ‘मत्थण-वंदामि’ बोलना।

(२) **मध्यम द्रव्य-वन्दन**—सद्गुरुजन जिस स्थान पर विराजमान हैं, वहाँ जाना एवं ‘तिक्खुत्तो’ के पाठ से विधिपूर्वक त्रि-वंदन करना।

(३) **उत्कृष्ट द्रव्य-वन्दन**—‘इच्छामि खमासमणो’ के पाठ से आवर्तन-प्रवर्तन देते हुए विधिपूर्वक वन्दन करना।

**भाव-वन्दन**—उपर्युक्त वन्दना करते हुए अन्तर्-हृदय के परिणामों में शुद्धि लाकर वन्दनीय के गुणों का उत्कीर्तन करना।

यहाँ यह बताना परमावश्यक है कि महापुरुषों को की गई वन्दना अवसर की अनुकूलता के अनुसार भले ही कम पाठ बोलते हुए जघन्य या मध्यम हो पर जैसी भी हो उसमें भावों की उत्कृष्टता बनाए रखने पर ही वन्दना की सफलता है। भावों की जैसी-जैसी उत्कृष्टता होगी, सफलता भी उन-उन अंशों तक ही प्राप्त होगी।

### □ कितना आसान धर्म !

प्रभु महावीर का धर्म कितना आसान, कैसा सरल? कोई कष्ट नहीं, कोई दुःख नहीं। न मासक्षमण, अठई, तेला, बेला या उपवास; न सामायिक, न संवर, न पौषध, न प्रतिक्रमण। अंतःकरण से भाव की शुद्धि एवं उत्कृष्टता के साथ मात्र विनय करना, वन्दना करना, नमन करना। इतने सरल कार्य का कितना सुखद परिणाम।

### □ वन्दना का फल और महाराज श्रेणिक

आगम कथा में भगवान महावीर के अनन्य उपासक महाराज श्रेणिक का वर्णन मिलता है। उन दिनों मगध के बाहर उद्यान में प्रभु महावीर का समवसरण लगा हुआ था। श्रेणिक महाराज नित्य प्रभु-वन्दन को जाते। वे प्रभु को एवं उनके प्रमुख शिष्य-संतों की नित्य वन्दना करते, देशना सुनते, पुनः राजमहलों में आ जाते। एक दिन समवसरण में पहुँचे तो विचार किया—‘मैं हमेशा तो प्रभु एवं उनके प्रमुख संतों को ही वन्दन करता हूँ। क्यों न आज प्रभु के सभी शिष्य-समुदाय की विधि सहित तीन-तीन बार वन्दना करूँ?’

आत्म-बन्धुओं! प्रभु महावीर के १४,००० साधु थे। प्रत्येक को तीन-तीन बार वन्दन, कुल ४२,००० बार पंचांग नमाकर तिक्खुत्तो के पाठ से वन्दना करना। क्या सरल काम था? ठीक है, उस समय में महाराज श्रेणिक का शारीरिक संहनन-संस्थान अच्छी कोटि का रहा होगा, शरीर का बल भी अधिक रहा होगा पर फिर भी विचार करें यदि आज के परिप्रेक्ष्य में तो.....? बात समझ में आने वाली नहीं है। आये भी कैसे? आज आप जिस तरह आधी-अधूरी, मन-बिना मन, सविधि-अविधि से गुरु-भगवन्तों को वन्दना करते हैं, उसको मद्देनजर रखें तो श्रेणिक महाराज की ४२,००० बार वन्दना की बात कैसे गले उतरे? लेकिन बात सत्य है।

श्रेणिक महाराज ने पूर्ण साहस एवं उत्साह से वन्दन करना प्रारम्भ किया। पाठ बोलना, पंचांग नमाना, तीन-तीन बार वन्दन, उत्कृष्ट-भावना। प्रारम्भ में जो उत्साह और साहस था, लगभग आधा हिस्सा (सात हजार) साधुओं को वन्दन करने के बाद समाप्ति के निकट पहुँच गया। थक गये, शिथिल बन गये। सोचा—‘आज तो बस

इतनी ही, शेष को कल कर लूँगा।' इतने में आवाज आई—“ठहर क्यों गये? और वन्दना करो श्रेणिक!”

थकान थी शरीर में, पर मन को प्रभु-वचनों की खुराक मिल गई तो साहस बढ़ गया। श्रेणिक ने पुनः वन्दना की क्रिया प्रारम्भ की। कुछ और सन्त-मुनियों को वन्दन कर पुनः थक गये, ठहर गये। फिर आवाज आई—“श्रेणिक! और वन्दन करो।” श्रेणिक फिर वन्दना करने लगे, पर कुछ समय पश्चात् थककर फिर रुक गये। फिर आवाज आई। श्रेणिक फिर वन्दना करने लगे पर जल्दी ही पुनः थक गये। फिर आवाज आई—“कुछ ही शेष हैं, अभी और वन्दना बाकी है, प्रयत्न करो।” पर अब श्रेणिक महाराज तन से ही नहीं, मन से भी थक चुके थे। कहावत है—“मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।” वे बोले—“प्रभु! अब शक्ति नहीं। अब और वन्दन नहीं कर सकूँगा।”

भावों को विराम लग गया। उत्कृष्ट भावों की धारा वहीं थम गई। महावीर के प्रथम शिष्य गणधर गौतम यह सब देख, सुन रहे थे। उन्होंने प्रभु से पूछा—“भन्ते! श्रेणिक महाराज ने अभी जो भावपूर्वक इतने साधु-मुनियों को वन्दन किया है, उसका उनको क्या फल मिलने वाला है?”

प्रभु ने कहा—“गौतम! श्रेणिक के उत्कृष्ट भावों की श्रेणी के साथ किये गये वन्दन ने आज इनके पूर्व संचित नरक की कर्मवर्गणा को तोड़ना प्रारम्भ किया, नीच गोत्र का क्षय प्रारम्भ हुआ। टूटते, क्षय होते-होते केवल एक नारकी का बंध शेष रह गया।”

श्रेणिक महाराज सुन रहे थे। विनयपूर्वक बोले—“भगवन्! क्या अब वन्दन पुनः प्रारम्भ कर दूँ।”

बंधुओं! श्रेणिक महाराज कितने थके हुए थे, कितने शिथिल बने हुए थे, किस तरह पस्त हो चुके थे पर फिर भी पुनः वन्दन के लिए तत्पर हो गये, क्यों? क्या उनकी थकान मिट चुकी थी? क्या उनमें पुनः शक्ति का संचार हो गया था? नहीं, ऐसा कुछ नहीं हुआ, हाँ! नारकी के बन्धन टूटने की और केवल एक नरक के बंध के शेष रहने की बात ने उनके मनोबल का विस्तार कर दिया, आत्म-बल में नवोत्साह का संचरण

हो गया, हारा हुआ मन पुनः सचेत बन गया पर उसमें स्वार्थ-लाभ की भावना आ चुकी थी, निष्कामभाव समाप्त हो चुका था।

एक स्वर्ण-मुद्रा एक व्यक्ति के खड़े होने के स्थान से ग्यारह किलोमीटर की दूरी पर पड़ी हुई है। उस व्यक्ति को बताया गया कि कुछ ही किलोमीटर दूरी पर स्वर्ण-मुद्रा है, दौड़कर ले सको तो मुद्रा तुम्हारी। निश्चित दूरी उसे नहीं बताई गई। वह व्यक्ति पैदल दस किलोमीटर तक तो जैसे-तैसे दौड़ गया पर तब वह इतना थक गया कि निराश हो गया। 'न मालूम अब आगे और कितनी दूरी पर है। मैं पहुँच सकूँगा या नहीं? अब तो मैं बिलकुल बेदम हो गया हूँ।'—यह सब वह सोच ही रहा था कि एक व्यक्ति ने आकर कहा—“अब तो एक किलोमीटर पर ही स्वर्ण-मुद्रा है।” क्या वह व्यक्ति 'लाभ और लोभ' के वशीभूत बन अपनी थकान को भूल नहीं जायेगा? क्या उसमें पुनः गति करने के साहस का संचरण नहीं होगा? बंधुओं! लाभ और लोभ में अच्छे-अच्छे व्यक्ति भी अपनी निराशा, थकान आदि भूल जाते हैं।

प्रभु ने श्रेणिक की बात सुनकर कहा—“श्रेणिक! अब वह बात कहाँ? अब तो भावों की वह धारा रही नहीं।”

#### □ रायां रा भाव राते गया

मारवाड़ी में कहावत है—“रायां रा भाव राते गया।” द्रव्य-भाव (पदार्थों के मूल्य) ही जब जाकर वापस नहीं आते तो भाव-भाव (विचारधारा) पूर्व की तरह ही पुनः कैसे आ सकते हैं अर्थात् नहीं आ सकते।

एक सेठ था। धान्यादि वस्तुओं, किराणा वगैरह का बड़ा व्यापारी। लम्बे कारोबार की तरह धन भी अथाह। तभी उसे सेठ कहा जाता था। एक कवि ने सेठ की व्याख्या करते हुए कहा है—

घर में होती है रोटियों की जेट।  
मोटा होता है जिसका पेट॥  
बाहर जाति-समाज में हो जिसकी पेट।  
मेरी समझ में वही कहलाता है सेठ॥

संयोग की बात, सेठ के घर में कुछ चोर चोरी करने के विचार से प्रविष्ट हुए। कीमती आभूषण, स्वर्ण-रजत आदि ढूँढ़ने में लगे तो कुछ खटर-पटर हुई। सेठानी को नींद कम आती थी। खटका सुनकर उनकी नींद उचट गई। ध्यान लगाया तो समझ गई कि चोर हैं। सेठ को धीरे से जगाया और कहा—“घर में चोर घुस गये हैं।” सेठ ने सुना। मन डरपोक था पर बुद्धि चलता-पुर्जा थी। बोले—“देख भली आदमण! चोर हैं खतरनाक। आपां बाहर निकल्या तो माल-मत्तो तो जावेला सो जावेला, जीव भी सागे ही जावेला। काम अकल सूं करणो है।” सेठानी ने भी सोचा—‘बात तो सेठ की सही है।’

अब सेठ-सेठानी दोनों ने ऊँचे स्वर में बातें करना प्रारम्भ किया। सेठ जोर से बोला—“सेठानी! सूता के जागता?”

सेठानी—“जागती हूँ, नींद आई कोनी।”

सेठ—“हवेली रा सारा आगल-कूँठा अच्छी तरह सूं दिया या नहीं।”

सेठानी—“सांझ पड्या ही दे दिया।”

सेठ—“रायां री बोरियां ऊंडा ओरा में नकाई के बारे ही पड़ी है।”

सेठानी—“ऊंडा ओरां में रायां रो काई काम, वठे तो कोई सोना-चाँदी री चीजां रखणी है तो बात करो। आज थाणो मन मजाक माते उतरगयो दीसे।”

सेठ—“एड़ी बात नहीं है भागवंती! बात आ है के रायां रा भाव चढ़िया है आकासां माथे। काले ए रायां सोना री मोरां रे भाव बेचसूं, इतरा भाव बढ़ गया है।”

चोरों ने सेठ-सेठानी की वार्ता सुनी। उन्होंने सोचा—‘आभूषण ढूँढ़ने में तो समय लग सकता है। खटपट भी हो सकती है। पकड़े भी जा सकते हैं। राई तो बाहर ही पड़ी है। क्यों न आज राई ही ले जायें? कल बाजार में बेच देंगे फिर तो सोना ही सोना मिल जायेगा।’

वे ले गये राई की बोरियाँ, जितनी ले जा सकते थे। प्रातःकाल बाजार खुलने पर वे बाजार में पहुँचे। एक दुकान पर भाव पूछा। दुकानदार ने पच्चीस रुपये मण (चालीस सेर) बता दिया। चोरों ने सोचा—‘इसे अभी भाव मालूम नहीं है।’ वे दूसरे वणिक् के

पास गये, उसने भी वही भाव कहा। चोरों को विश्वास नहीं हुआ। वे तीसरे व्यापारी के पास गये तो वहाँ भी वही बात। चोर पूरे बाजार में फिर गये पर जहाँ गये भाव वही। अब उन्होंने सोचा—‘शायद उस सेठ के सिवाय किसी को भी ताजा भाव ज्ञात नहीं है। माल उसे ही बेचना पड़ेगा।’ गये उस सेठ की दुकान पर। उससे भी राई का भाव पूछा। सेठ समझ गया कि रात वाले ही हैं। बोला—“बीस रुपये मण।” चोर चकित। वे बोल उठे—“सेठ! रात को तो मोहरों के भाव राई थी।” सेठ ने कहा—“थी तो भाई पर उन रायां रा भाव तो राते ही गया।”

#### □ यथा भाव तथा लाभ

जैसे सोने, चाँदी, कपड़े, किराणा आदि सभी वस्तुओं के भावों में उतार-चढ़ाव आता ही रहता है वैसे परिणाम रूप भावों में भी पल-प्रतिपल, क्षण-प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव आते हैं। बाजार में वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव से हानि-लाभ होता है, वैसे ही यहाँ भी चढ़ते भावों से आत्मा को लाभ होता है और उतरते—ह्रास होते भावों से या अशुभ भावों से हानि होती है। श्रेणिक के लिए भी वही बात हुई, अब आगे वन्दना में वे भाव नहीं अतः वह लाभ भी नहीं, वहाँ वह निर्जरा नहीं हो सकती थी।

#### □ जहाँ अहं, वहाँ विनय नहीं टिकता

नमन-वन्दन से विनय गुण प्रकट होता है। जहाँ अहंकार होता है, वहाँ विनय का क्या काम?

जहाँ नमन नहीं, अहं है, वहाँ दुर्गति निश्चित है। अहंभाव का एक पर्याय ‘मद’ भी है। आठ प्रकार के मद आपको बताये गये थे। इन आठ प्रकार के मद में मदमस्त रहने वाले चाहे वह तीर्थंकर प्रभु का जीव ही क्यों न हो, परिणाम से बच नहीं पाता। भगवान महावीर ने मरीचि के भव में जाति-कुल का मद किया था, परिणामस्वरूप तीर्थंकर-भव में उन्हें अपने उस अहंकार का परिणाम भोगना पड़ा।

आदि-तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पास मरीचि ने विरक्त बनकर संयम का पथ अंगीकार किया और अणगार बन गया। महाव्रतों का सम्यक् आराधन नहीं कर पाया। आत्म-बल मजबूत नहीं था, अतः शिथिल बन गया। धरती की उष्णता एवं कठोरता

सहन नहीं कर पाया तो पादत्राण-खड़ाऊँ पहनना प्रारम्भ कर दिया, सूर्य की तीव्र धूप से घबराया तो छाता (छत्र) ग्रहण कर लिया। धीरे-धीरे अनेक अन्य शरीर को सुख देने वाली वस्तुएँ अपनाकर वह मरीचि त्रिदण्डी तापस बन गया। नदी के किनारे अपनी कुटिया बनाकर वहीं ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, अनेक प्रकार से तप करने लगा।

एक बार प्रतिदिन की भाँति जब भरत-चक्री तीर्थकर-ऋषभ को नमन-वंदन करने, उनके दर्शन एवं प्रवचन-श्रवण का लाभ लेने पधारे, तो प्रभु से प्रश्न कर बैठे—“प्रभु! आपके समवसरण में क्या कोई ऐसा जीव है, जो वर्तमान चौबीसी में तीर्थकर बनेगा?”

प्रभु ने कहा—“भरत! इस धर्मसभा में तो ऐसा कोई जीव नहीं है परन्तु इसी राज्य के बाहर नदी-तट पर मरीचि नाम का जो तापस है, वह यहाँ से काल कर अनेक भवों में होता हुआ वर्तमान चौबीसी का अन्तिम तीर्थकर महावीर बनेगा।”

चक्री-भरत सुनकर बहुत प्रसन्न हुए कि आज मुझे भावी तीर्थकर से मिलने का लाभ प्राप्त होगा। वे नदी-तट पर जाते हैं एवं तापस मरीचि को भावपूर्वक देखते हैं। मरीचि आदि तीर्थकर ऋषभ-पुत्र चक्रवर्ती-सम्राट् भरत को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो गर्व से फूल उठता है।

चक्री मरीचि की मनोदशा को भाँप लेते हैं। वे कहते हैं—“मैं आपके इस मरीचि के जीव को, इसके इस तापस स्वरूप को देखने नहीं आया हूँ। आपका जीव आगे जाकर वसुदेव एवं चक्रवर्ती बनेगा, मेरा गुणगान उनके लिए भी नहीं है पर आपका यही जीव वर्तमान चौबीसी के अन्तिम शासनपति-तीर्थकर के रूप में शरीर धारण करेगा, मेरा गुणकीर्तिन उन्हीं भावी तीर्थकर के रूप को है।

भरत चक्रवर्ती के इन शब्दों को मरीचि सुनता है तो पुनः अहंभाव जगता है। प्रसन्नता का स्रोत तीव्र गति ले लेता है। बढ़ते हुए अहंभाव से वह वहीं नाचने लगता है तथा कह उठता है—अहो! कितना श्रेष्ठ मेरा कुल, वंश, खानदान है। मेरे दादा प्रथम तीर्थकर, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती, मेरी परदादी इस अवसर्पिणी में सबसे प्रथम मोक्षगामी जीव। अहंभाव से भरे, मद में डूबे इन्हीं विचारों में गोता लगाते हुए नीच गोत्र

का बंध कर लेता है। इसी के परिणामस्वरूप प्रभु महावीर के जीव को देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आकर साढ़े बयासी रात्रि तक रहना पड़ता है, जबकि तीर्थंकर सदैव भोग (क्षत्रिय या राज) कुल में ही जन्म लेते हैं। (ब्राह्मण कुल, भिक्षुक कुल माना गया है।)

### □ विनय मुक्ति का द्वार

हम नीच गोत्र नामकर्म के बंधन से बचने का प्रयत्न करें। अहंभाव का त्याग कर नम्रता, विनयभाव एवं सरलता को जीवन में उतारें। भावपूर्वक गुरु-वन्दन करें और भावपूर्वक ही उपकारी महापुरुषों का, तीर्थंकर भगवन्तों का, जागृति का शंखनाद करने वाले महान् साधकों का नमन-वन्दन करें, जैसे कि पूज्य श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी 'बड़ी साधु वंदना' में किया है।

बंधुओं! वीतराग वाणी का पथ तैयार है, आपके समक्ष है, चुनने में देरी मत कीजिए। सद्धर्म एवं सद्गुरु-देवों को भावपूर्वक वन्दन-नमन प्रारम्भ कर दीजिये, लाभ अवश्य मिलेगा, निर्जरा अवश्य होगी। विनय ही मुक्ति का द्वार है अतः विनयी बनिये, इसी में हम सभी का आत्म-कल्याण निहित है।

आनंद ही आनंद !





## नमन में समर्पणभाव

मुमुक्षु आत्माओं!

साधक मोक्ष-प्राप्ति की चाह से मोक्ष की ओर ले जाने वाले विविध आयामों की खोज करता है। वह आत्म-कल्याण के लिए कल्याणकारी पथ चुनता है। अपने इस चुनाव में वह सोचता है कि पथ ऐसा हो जो अधिक लम्बा न हो, अधिक कष्टमय न हो, पथ में अधिक बाधाएँ न आएँ। पूर्वाचार्यों, ज्ञानियों एवं मनीषियों ने ऐसे अनेक आयाम ढूँढ़कर हमारे समक्ष रखे हैं, जिनसे मुक्ति मिले। उन्हीं आयामों में एक आयाम है—‘वन्दना’।

ग्यारह अंगसूत्रों में अंतिम अंगसूत्र है—विपाकसूत्र। विपाकसूत्र के दो भाग हैं—एक सुखविपाक और दूसरा दुःखविपाक। सुखविपाक वाले भाग में उन साधकों की साधना का वर्णन है जो सुखपूर्वक संयम का पालन करते हुए सुखे-सुखे मोक्ष में जाकर विराजमान हुए या होंगे और दुःखविपाक वाले भाग में भी मोक्ष-प्राप्त करने वाले ऐसे साधकों का वर्णन है जो अपने साधनाकाल में अनेक कष्ट सहेंगे। उनके जीवन में अनेक उपसर्ग, परीषह आएँगे। इन सभी को भोगते हुए, सहन करते हुए समभावपूर्वक साधना में रहकर अंतिम समय में कैवल्य प्राप्त कर मुक्ति पायेंगे। वर्तमान में जिनका जीवन अत्यन्त कष्टकारक है ऐसी आत्माओं का वर्णन दुःखविपाक में आया है।

□ सुखे-सुखे मोक्ष जाना है तो !

बात है मोक्ष जाने की। मोक्ष जाने के दो प्रकार के पथ हुए—एक वह जो सुखपूर्वक मोक्ष पहुँचाए, दूसरा वह जो अनेक कष्टों, बाधाओं के बाद मोक्ष दिलाए। अब मुमुक्षु भव्य जीवों से यदि प्रश्न किया जाए कि भाई! आप कौन-सा पथ अपना

चाहते हैं? किस प्रकार के पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं? तो सभी यही कहेंगे कि हमें तो वह पथ चाहिए जो सुखे-सुखे मोक्ष में ले जाए। सभी प्राणी सुख की कामना करते हैं, अतः दुःख, कष्ट, बाधाओं से भरा पथ कौन चाहेगा? मुक्ति का सुखमय, सरलतम पथ है—भावपूर्वक नमन करना, वन्दन करना।

कल आपको बताया गया था कि वन्दना में भावों का सहयोग होना चाहिए। शरीर नमे (झुके) और भाव न नमें तो नमना व्यर्थ है।

#### □ पहले नमो अर्थात् मन को नमाओ !

पेरिस का एक प्रसंग है। वहाँ एक महात्मा रहते थे। बड़े सिद्ध-पुरुष थे, महान् योगी थे। नित्य ध्यान-साधना में निरत रहते थे। एक बार एक व्यक्ति उनके दर्शनार्थ गया। महात्मा को ध्यान में देख उसने षाष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम किया। दंडवत् कर जब वह खड़ा हुआ तो ध्यानमग्न महात्मा की ओर अभिमुख हो बोला—“हे साधु! मुझे तुमसे कुछ पूछना है। बताने का विचार है क्या? बताओ तो पूछूँ।”

महात्मा का ध्यान भंग हो गया। आँखें खोलकर उस व्यक्ति को देखा और बोले—“पहले नमो!”

व्यक्ति ने सोचा—‘अजीब महात्मा है, मैंने अभी तो दंडवत् किया पर इसे कुछ ध्यान ही नहीं।’ वह बोला—“अरे, अभी तो तुमको लेटकर दंडवत् प्रणाम किया। क्या देखा नहीं?”

महात्मा बोले—“वत्स! तूने अभी केवल शरीर को नमाया है, मन को नहीं नमाया। जब तक भावों में नमनता नहीं आएगी, नमन का कोई अर्थ ही नहीं है।” कहा भी है—

**नमन नमन सब कोई करे, नमन नमन बे नाण।  
दगाबाज दूणा नमे, चीता चोर कमाण॥**

#### □ कौन, किसे वन्दन करे ?

वन्दन, गुणगान, कीर्तन गुणियों का किया जाता है। वैसे तो जीवमात्र गुणी हैं। गुणी को ही जीव कहते हैं और जीव के रहने के स्थान को गुणस्थान। पच्चीस बोल के

स्तोक में आता है चौदह गुणस्थानों का वर्णन। समवायांगसूत्र के १४वें समवायांग में गुणस्थान के स्थान पर 'जीवस्थान' शब्द का प्रयोग इसी कारण हुआ है। चराचर में ऐसा कोई जीवात्मा नहीं, जिसमें कोई गुण न हो। गुणी सभी वन्दनीय हैं। कौन करे वन्दना और किसे करे? नंदीसूत्र में उल्लेख मिलता है—

नगर-रह-चक्र-पद्मे, चंदे सूरु समुद्र-मेरुम्भि।  
जो उवमिज्जइ सययं, तं संघगुणायरं वंदे॥

नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र तथा मेरु इन सब गुणों से समाहित जो श्रीसंघ है, ऐसे श्रीसंघ को मैं वन्दन करता हूँ। श्रीसंघ अर्थात् चतुर्विध संघ जिसमें साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सभी को वन्दन किया गया है।

हो सकता है कोई ऐसा भी हो जोकि वर्तमान में अवगुणी हो पर उसकी आत्मा में तो गुण हैं ही, अतः भाव-वन्दन तो उसको भी किया जाता है। उसके अंतर् में छुपे उस गुण को भी हमारा भाव-वन्दन हो जाता है। क्योंकि किसी भी भवी जीव में किसी भी समय उत्कृष्ट परिणामों के कारण भाव-विशुद्धि संभव है। कई बंधु वन्दना की विधि, पाठोच्चारण आदि में तर्क उपस्थित कर देते हैं पर ध्यान रखिए ये सारे तर्क द्रव्य-वन्दना तक ही किए जा सकते हैं और द्रव्य-वन्दना का फल नगण्य है। भाव-वन्दना में तो किसी तर्क की गुंजाइश ही नहीं रहती।

#### □ समर्पणभाव ही फलदायी !

माउंट आबू में नैतिक और धार्मिक शिक्षण शिविर लगाया गया। शिविर में गुजरात-बम्बई से आए शिविरार्थियों ने वन्दन किया तो वन्दन-पाठ (तिक्खुत्तो) में 'करेमि' शब्द का उच्चारण नहीं किया। मैंने उस ओर ध्यान दिलाया तो डॉ. मनसुखभाई ने बताया कि "बम्बई क्षेत्र में गुरु-वन्दन-सूत्र में 'करेमि' बोला ही नहीं जाता। इसके पीछे मान्यता यह है कि जिसे हम कर ही रहे हैं, उसी को कहकर क्या जताएँ कि मैं कर रहा हूँ। बस जो करना है, वह कर लेते हैं।" उनकी परम्परा है यह, वैसे भी द्रव्य-वन्दन में न्यूनाधिक बोलने का फल पर कोई असर नहीं होता, बस!

परिणाम अपने आराध्य के प्रति, वंदनीय के प्रति समर्पणभाव का हो, पूर्ण समर्पण की भावना ही वन्दना में रसीले, मधुर, आनन्दप्रद फल लगाती है।

समाज में वृद्ध, अतिवृद्ध, अशक्त, निर्बल, रोगी व्यक्ति भी होते हैं। उनके शरीर में इतनी शक्ति होती ही नहीं कि वे उठ-बैठ कर सकें, घुटने नमां सकें, पञ्चांग नमन कर सकें। विवशता है—द्रव्य-नमन वे नहीं कर पाते पर भाव-वन्दना तो उनके द्वारा भी हो सकती है। गुण-कीर्तन तो वे भी कर सकते हैं। पूर्ण समर्पणभाव तो वे भी रख सकते हैं। एक व्यक्ति मेरे पास आया और पूछा कि “महाराज! गुरु-वन्दन-सूत्र से वन्दना करते समय ‘करेमि’ शब्द आए तब नीचे घुटनों के बल बैठना या ‘वंदामि’ शब्द आए तब? वास्तविकता तो यह है कि न ‘करेमि’ बोलते समय बैठना चाहिए, न ‘वंदामि’ बोलते समय। ‘वंदामि’ शब्द उद्घोष के साथ बैठने की प्रक्रिया प्रारम्भ करें और ‘नमंसांमि’ बोलने पर नीचे घुटनों के बल बैठें।

बंधुओं! वन्दना तो विनय का प्रकटीकरण है, अन्तर् के समर्पित भावों का प्रदर्शन है, वहाँ विवाद क्यों? हमारे मन में तो उनके प्रति बहुमान, अहोभाव ही होना चाहिए। अतिसिद्धांतवादी बनकर तर्क-वितर्क के भँवर-जाल में उलझे तो फँस जायेंगे। हमें फँसना नहीं है, हमें तो किनारे पहुँचना है। सूत्र-पाठ के शब्दों को लेकर, अर्थ को लेकर, विधि को लेकर यदि तूल खड़ा करता है कोई तो वह क्रोधादि कषाय-चतुष्क का शिकार बन जाता है। प्रयत्न तो हमें यह करना है कि हममें कषायों का उद्वेग न आने पाए। कषायों का शमन ही हमारा ध्येय है फिर वितंडावाद क्यों? सम्यक् प्रकार से विधि को जानकर वन्दनादि धार्मिक अनुष्ठानों को करना तो सर्वश्रेष्ठ है लेकिन न तो उसमें अहंकार का भाव हो और न अन्यान्य के प्रति हीनता का भाव ही हो।

पूर्ण समर्पण के भाव हों तो की गई वन्दना नीच गोत्र क्षय करने वाली तथा उच्च गोत्र का उपार्जन करने वाली होती है। ऐसी ही वन्दना का एक रूप है—‘बड़ी साधु वन्दना।’ महाप्रभावी रचना है यह। भावपूर्वक यदि इसका पाठ किया जाए तो अन्तर् में अक्षय आनन्द प्रवाहित होता-सा अनुभव होने लगता है। बोलते हुए यदि अर्थ एवं भाव

का भी स्मरण कर उसी के अनुरूप मन-मगन बन जाए तो फिर क्या चाहिए? फिर किसी साधना की आवश्यकता नहीं रह जाएगी। चाहिए समर्पित भाव।

**नमूं अनंत चौबीसी, ऋषभादिक महावीर।**

**इण आर्यक्षेत्र मां, घाली धर्म नीं सीर ॥१॥**

कविवर ने अनंत-अनंत चौबीसियों को नमन, वंदन किया है। एक चौबीसी के चौबीस तीर्थकर भगवंतों को किया गया नमन भी उच्च कोटि का सुफल प्रदान करता है तो अनंत-अनंत चौबीसी भगवंतों को नमन तो अनंत गुणित फलप्रद होना चाहिए। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव भगवान से लेकर चौबीसवें तीर्थकर प्रभु महावीर तक के नाम वर्तमान चौबीसी के हैं। यदि इन चौबीस तीर्थकर भगवंतों के जीवन-चरित्र को प्रारम्भ किया जाए तो पूर्ण चातुर्मास तक इन्हीं का चरित्र-पाठ चलता रहेगा, अतः हम अपनी कड़ी की पंक्ति को आगे बढ़ाते हैं।

#### □ आर्य क्षेत्र

“इण आर्य क्षेत्र में”—क्षेत्र दो प्रकार के होते हैं—एक आर्य, दूसरे अनार्य। किसे कहते हैं—आर्य? कैसे होते हैं आर्य क्षेत्र? कौन-कौन-से हैं आर्य क्षेत्र?

‘आर्य’ का शाब्दिक अर्थ है—अच्छा, श्रेष्ठ, उत्तम, संस्कारयुक्त, सभ्य, सज्जन।

सूत्रकृतांग टीका में बताया है—“आराद्याताः सर्व हेय धर्मेभ्यः।” जो सब हेय धर्म त्याज्य कर्मों से दूर रहते हैं वे हैं आर्य।

ठाणांगसूत्र में बताया है—क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र—ये नौ प्रकार की बातें जहाँ श्रेष्ठतम स्वरूप में विद्यमान हों, वहाँ आर्यपन व आर्य क्षेत्र होता है। इन नौ ही बातों में जहाँ ह्रास हो, विपरीतता हो, हीनता हो, वहाँ अनार्यपन और अनार्य क्षेत्र होता है।

जम्बूद्वीप के इस भरत क्षेत्र में साढ़े पच्चीस देश ही आर्य क्षेत्र में आते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से इन क्षेत्रों में परिवर्तन की भी संभावना बनी रहती है। कभी आर्य क्षेत्र ‘अनार्य’ बन जाते हैं और कभी अनार्य क्षेत्र भी ‘आर्य’ में बदल जाते हैं।

भारत का बिहार प्रान्तीय क्षेत्र पहले आर्य था, अब अनार्य है और मरुधरा कभी अनार्य क्षेत्र था, अब यह आर्य क्षेत्र है। भगवान महावीर के समय में केवल २५।। देश ही आर्य क्षेत्र थे, जिसका विवरण इस प्रकार है—

सब ओर अनन्तानन्त अलोक के मध्य में ३४३ रज्जु घनाकार लोक है, जिसमें १९६ घनाकार रज्जु का अधोलोक है। इस अधो (नीचे) लोक में नारकी जीव तथा भवनपति और वाणव्यन्तर देव रहते हैं। इस क्षेत्र में धर्माराधन की सुविधा नहीं होती है क्योंकि नारकी जीव अपने उपार्जन किये हुए पापों का फल भोगते हुए दुःख ही दुःख में अपना काल व्यतीत करते हैं और देव अपने शुभ कर्मों का फल भोगते हुए सुख में अपना काल अतिक्रमण करते हैं। लोक के मध्य में सिर्फ एक रज्जु जितनी जगह में तिरछा लोक है और उसमें असंख्यात समुद्र और द्वीप हैं। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों में अढ़ाई द्वीपों में ही मनुष्यों की बस्ती है और फिर इन अढ़ाई द्वीपों में भी दो महासमुद्रों, पर्वतों, नदियों वगैरह को छोड़कर केवल १५ कर्मभूमियाँ, ३० अकर्मभूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप—इस तरह १०१ मनुष्यों के रहने के क्षेत्र हैं। इनमें से अकर्मभूमियों और अन्तर्द्वीपों में युगलिया मनुष्य ही रहते हैं। वे देवों सरीखे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के पुण्य रूप फल भोगते हैं, धर्म की तनिक भी आराधना नहीं कर सकते। धर्माराधना के योग्य केवल कर्मभूमि के पन्द्रह ही क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में से पाँच विदेह क्षेत्रों में तो सदैव धर्म की प्रवृत्ति रहती है, किन्तु पाँच भरत और पाँच ऐरवत क्षेत्रों में दस-दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में से नौ कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ कम काल में युगलिया मनुष्य ही रहते हैं, वे भी धर्माराधना नहीं कर सकते। सिर्फ एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक काल ही धर्म की प्रवृत्ति का रहता है। इन दस क्षेत्रों के प्रत्येक क्षेत्र में बत्तीस-बत्तीस हजार देश हैं। इनमें से ३१,९७४।। अनार्य देश हैं और सिर्फ २५।। देश आर्य देश हैं।

आर्य देशों के नाम इस प्रकार हैं—(१) **मगध देश**—इसकी राजधानी राजगृही नगरी है और इस देश में एक करोड़ छियासठ लाख ग्राम हैं। (२) **अंग देश**—राजधानी चम्पा नगरी और पचास लाख ग्राम। (३) **बंग देश**—ताम्रलिप्ती नगरी और अस्सी हजार

ग्राम। (४) कलिंग देश—कांचनपुर नगर और अठारह हजार ग्राम। (५) काशी देश—वाराणसी नगरी और एक लाख पंचानवे हजार ग्राम। (६) कोशल देश—साकेतपुर नगर और नौ हजार ग्राम। (७) कुरु देश—गजपुर नगर और पंचावन हजार ग्राम। (८) कुशावर्त देश—शौरिपुर नगर और छियासठ हजार ग्राम। (९) पांचाल देश—कांपिल्यपुर नगर और तीन लाख तिरासी हजार ग्राम। (१०) जंगल देश—अहिच्छता नगरी और अट्ठाईस हजार ग्राम। (११) विदेह देश—मिथिला नगरी और आठ हजार ग्राम। (१२) सौराष्ट्र देश—द्वारावती नगरी और छह लाख अस्सी हजार तीन सौ तेईस ग्राम। (१३) कौशाम्बी देश—वत्सा नगरी और अट्ठाईस हजार ग्राम। (१४) शांडिल्य देश—नन्दिपुर नगर और इक्कीस हजार ग्राम। (१५) मलय देश—भद्विलपुर नगर और सात हजार ग्राम। (१६) वत्स देश—वैराटपुर नगर और अट्ठाईस हजार ग्राम। (१७) वरण देश—अछा नगरी और बयालीस हजार ग्राम। (१८) दशार्ण देश—मृत्तिकावली नगरी और तेतालीस हजार ग्राम। (१९) चेदि देश—शौक्तिकावती नगरी और तेतालीस हजार ग्राम। (२०) सिंधु देश—वीतभय पट्टन और छह लाख पिचासी हजार ग्राम। (२१) सौवीर देश—मथुरा नगरी और आठ हजार ग्राम। (२२) शूरसेन देश—पावापुर नगर और छत्तीस हजार ग्राम। (२३) भंग देश—मिश्रपुर नगर और एक हजार चार सौ बीस ग्राम। (२४) कुणाल देश—श्रावस्ती नगरी और तेतीस हजार ग्राम। (२५) लाट देश—कोटिपर्व नगरी और दो लाख बयालीस हजार ग्राम। (२५।।) केकयार्द्ध देश—श्वेताम्बिका नगरी और दो हजार पाँच सौ ग्राम। यह २५।। देश धर्म कर्म वाले हैं, इसलिए आर्य देश कहलाते हैं। इन आर्य देशों में मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होना महाकठिन है।

द्रव्यरूप से तो आर्य जाति के लोग अपने को आर्य मानते हैं। आर्य समाज के लोग भी आर्य कहलाते हैं। ठाणांगसूत्र के स्थान-चौथे, उद्देशक २ में कई प्रकार के आर्यों का विवरण मिलता है जिसमें मुख्य दो प्रकार के होते हैं—एक जाति से, दूसरे गुण से। जाति उच्च, श्रेष्ठ तो जाति से, गुणों में श्रेष्ठ तो गुण से। आगे जाकर आर्य-अनार्य के भी चार प्रकार के भेद बताये हैं—

१. आर्य-आर्य—जो जाति से भी श्रेष्ठ हो और गुणों से भी श्रेष्ठ। जैसे—अभयकुमार।

२. आर्य-अनार्य—जो जाति से श्रेष्ठ हो पर गुणहीन हो। जैसे—श्रेणिक महाराज की दादी। जिनका नियम था कि वे प्रभु महावीर या किसी अन्य संत के दर्शन नहीं करेंगी और उन्होंने विवशता में दर्शन का प्रसंग उपस्थित होने पर स्वयं ही अपनी आँखें फोड़ डालीं।

३. अनार्य-आर्य—जो जाति से हीन हो पर गुणों एवं कर्म से श्रेष्ठ हो। यथा—हरिकेशी मुनि। ये जाति के चांडाल थे पर उत्कृष्ट संयम-साधक तपस्वी, मोक्षगामी थे।

४. अनार्य-अनार्य—जो जाति से भी हीन एवं गुणकर्म से भी निम्न हो। यथा—काल-सौरिक कसाई। जो नित्य ५०० मूक पशुओं को मारकर माँस का व्यापार करता था।

#### □ क्या हम आर्य हैं या.....?

चिन्तन यह करना है कि हम क्या हैं, आर्य हैं या अनार्य? जाति, कुल, क्षेत्र, संगति, श्रवण, व्यापार सब श्रेष्ठ मिले, पर गुण? गुण श्रेष्ठ मिले या नहीं? धारण करिए श्रेष्ठ गुणों को तभी आपका आर्य क्षेत्र में जन्म सफल माना जायेगा।

धर्म-कर्म की प्रवृत्ति जहाँ हो, वह आर्य क्षेत्र होता है और उस आर्य क्षेत्र में धर्म-कर्म की प्रवृत्ति को शिथिल, लुप्त-प्रायः देखकर नवीन चौबीसी के तीर्थंकर भगवन्त पुनः धर्म की धारा बहाते हैं, जन-जन को आत्म-कल्याण का पथ बताते हैं। धर्म की धारा (सीर) बहाने वाले उन उत्तमोत्तम पुरुषों को हम वन्दना करते हैं।

महा अतुल बली नर, शूरवीर ने धीर।

तीरथ प्रवर्तावी, पहुंच्या भव जल तीर ॥२॥

#### □ तीर्थंकरों का बल कितना?

आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने जिन्हें नमन किया है वे विश्ववंदनीय हैं, प्राणीमात्र के लिये पूजनीय हैं। वे कैसे हैं? कवि कहता है कि वे महाअतुलबली हैं। कौन होता है महाअतुलबली? जो व्यक्ति सौ-दो सौ से लड़े वह बलवान है। जिसके



शारीरिक बल के समक्ष कोई अन्य ठहर ही न सके वह अतुलबली अर्थात् जिसके बल की तुलना किसी अन्य व्यक्ति के बल के साथ नहीं की जा सके। ऐसे अतुलबली से भी बलवान अर्थात् शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक तीनों ही प्रकार के बलों में जो व्यक्ति असाधारण, अद्वितीय, अतुलनीय हो। ऐसे महाअतुलबली होते हैं—तीर्थकर, अर्हत, विहरमान। उनके बल का वर्णन शास्त्रों में इस प्रकार मिलता है—१२ अश्वों जितना बल एक महिष में, महिष से १५ गुना बल एक गज में, ५०० गजों का बल एक सिंह केशरी में, २,००० सिंहों जितना बल एक अष्टापद पक्षी में, १० लाख अष्टापद पक्षियों जितना बल एक बलदेव में, २ बलदेवों के समान बल एक वासुदेव में, २ वासुदेवों जितना बल एक चक्रवर्ती में, एक करोड़ चक्रवर्तियों का बल एक देवता में और एक करोड़ देवों का बल एक इन्द्र में होता है।

ऐसे बलशाली अनंत इन्द्र मिलकर भी तीर्थकर भगवन्त की एक कनिष्ठिका तक को नहीं हिला सकते।

#### □ शौर्य, वीरता व धीरता के धनी

ये महाअतुलबली नर जिस क्षेत्र में भी चरण बढ़ाते हैं, पूर्ण शौर्य, वीरता एवं धीरता से उस कार्य को सफलता तक पहुँचाते हैं। उनमें अनंत शौर्य है, बाहर के ही नहीं, अंतर के शत्रुओं को पराजित करने वाली दुर्लभ वीरता है और उपसर्ग-परीषह एवं कष्ट-सहन करने की अवर्णनीय धीरता है।

**शत्रु पर विजय प्राप्त करे, वह वीर होता है।**

**कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करे, वह महावीर होता है॥**

‘महावीर’ जन्म से महावीर नहीं कहलाए। जन्म के समय तो उनका नाम रखा गया था वर्धमान। बाद में उनके शौर्य एवं वीरता से भरे अर्चंभित करने वाले कार्यों को देखकर देवों ने उनका नाम रखा—‘महावीर।’ कर्मरूप शत्रुओं को तोड़ने में तीर्थकर भगवन्तों के शौर्य एवं वीरता के वर्णन शास्त्रों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं। भगवान महावीर ने दीक्षा अंगीकार की ही थी। संयम-यात्रा पर चरण बढ़ाने का उनका प्रथम दिन ही था कि कुमार ग्राम में एक गोपालक ने उन्हें चाबुक से पीटना प्रारम्भ कर दिया,

खूब पीटा। प्रभु ने क्रोध नहीं किया, आवेश के भाव नहीं आने दिए। यह नहीं सोचा कि 'आज ही तो दीक्षा ली है और आज ही ऐसा कष्ट ! इधर सिर मुँडाया, उधर ओले गिरे।' धैर्यपूर्वक, समभाव से उस कष्ट को सहन किया।

संगम देवता ने प्रभु महावीर को एक ही रात्रि में बीस-बीस घोर उपसर्ग के द्वारा विचलित करना चाहा पर जो विचलित हो जाए वह महावीर कैसा? प्रभु ने न धीरज खोया, न समभाव खोया।

**विपदाओं के माध्यम से, कर्मों का किनारा है।**

**डरना भी क्या कष्टों से, महापुरुषों ने धारा है॥**

तीर्थकर-भगवंतों के जीवन में कितने ही घोर उपसर्ग आएँ पर वे अपने साहस को कुंठित नहीं होने देते। घोर तपश्चरण के कारण देह की दुर्बलता का प्रभाव उनके उत्साह को रोक नहीं सकता। विषम से विषम, प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनके धैर्य में कमी नहीं आती। कहते हैं—

**“रणेसूरा-वासुदेवा।”**—वासुदेव जो अपने जीवन में ३६० संग्राम करते हैं और सभी में विजय प्राप्त करते हैं। रण में वासुदेव के समान कोई अन्य शूर नहीं है।

**“धण्णे सूरा वेसमणा।”**—वैश्रमण इन्द्र का कोषाध्यक्ष (खजांची) होता है, अतः धन में उसके समान कोई अन्य नहीं।

**“धम्मे सूरा अरिहंता।”**—धर्म में घातिकर्म नष्ट करने वाले अर्हत तीर्थकर के समान कोई अन्य शूरवीर नहीं।

**“तवे सूरा अणगारा।”**—बारह प्रकार का निर्जरा तप करने वाले, दृढ़ संयम का पालन करने वाले, पंच महाव्रतधारी, सत्ताईस गुण जिनमें हैं ऐसे निर्ग्रन्थ संतों से बढ़कर तप में कोई अन्य शूर नहीं है।

भगवान ऋषभदेव को दीक्षा के पश्चात् बारह मास तक प्रासुक अन्न-पानी नहीं मिला पर प्रभु ने समभाव रखा, धैर्य नहीं खोया, बड़े शौर्य से उस कष्ट को सहन किया। उनके साथ दीक्षित चार हजार साधुओं ने धैर्य को खो दिया, उनका साहस चूक

गया। वे सभी संयम का प्रशस्त-पथ छोड़कर अलग-अलग तापस आदि बन गए।

भगवान पार्श्वनाथ को कमठ ने उपसर्ग पर उपसर्ग दिए पर वे भी तीर्थंकर थे और तीर्थंकर होते हैं—शौर्य के धनी-शूर, शारीरिक बल के धनी-वीर एवं आत्म-बल के धनी-धीर। प्रभु पार्श्व ने भी समभावपूर्वक धैर्य से सारे उपसर्ग, सारी विषम परिस्थितियों को सहन किया।

### □ वर्तमान युग के शूर-वीर-धीर !

पाँचवें आरे में शूर, वीर, धीर अलग ही किस्म के होते हैं। अब तो जो जितना ज्यादा पापकार्य करे वह शूर माना जाता है, जो जितना वक्-झक् करे, आलतू-फालतू बोले, लड़ाई-झगड़ा करे वह वीर कहा जाता है और जो निर्लज्जतापूर्वक चले, ढीठ बना फिरे, जिसके लिए समाज कहे कि नाक उसका काटा तो क्या, वह तो सवा हाथ बढ़ गया, वह है धीर। कैसी मिथ्या मान्यता है पर वर्तमान युग ही ऐसा है।

वर्तमान युग के शूर, वीर, धीर कैसे होते हैं—इसे दर्शाने के लिए स्व. आचार्यप्रवर श्री लालचंद जी म. सा. एक दृष्टान्त फरमाया करते थे—

एक राज्य में मंत्री के पुत्र, सेनापति के पुत्र, नगरसेठ के पुत्र एवं एक सेवक (नौकर) के पुत्र, इन चारों में घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध बन गया।

एक बार किसी अपराध के लिए इन चारों को पकड़ा गया। इन पर अभियोग चला। सजा के लिए इन्हें राजदरबार में लाया गया। राजा ने इनके बारे में पूर्ण अभियोग सुना और मंत्री-पुत्र से कहा—“कंवरसाहब, आप?” इतना सुनते ही उस पर मानों सौ घड़े पानी गिर पड़ा हो। मारे शर्म से गड़ा जा रहा था। आँखों में आँसू आ गये। फिर सेनापति-पुत्र से कहा—“अरे, तुम ध्यान नहीं रखते।” वह अपने दोनों हाथ जोड़कर बोला—“प्रभो! अवज्ञा के लिए क्षमा करें। ऐसी गलती दूसरी बार नहीं होगी।”—अपनी आँखें पोंछते हुए बोला। नगर-श्रेष्ठी के पुत्र को देखा और कहा—“ओ श्रेष्ठी-पुत्र! तुम होकर ऐसा काम? भविष्य में ऐसा कार्य करने पर कठोर दण्ड दिया जायेगा।” चौथे पर नजर डाली तो समझ गए कि यहाँ आँख में पानी नहीं है। उसे सजा दी—मुँह

काला कर गधे पर बिठा नगर में सभी राजपथों पर घुमाने की और फिर राज्य से बाहर निकाल देने की।

दरबार संध्या समय समाप्त हो गया। सभासद राजभवन से बाहर आए तो चर्चा होने लगी—“यह कैसा न्याय? यह तो सरासर पक्षपातपूर्ण निर्णय है। जिसके पीछे कोई हाथ नहीं, जिसके कोई ‘एप्रोच’ नहीं, उसे तो कठोर दंड दिया, बाकी को छोड़ दिया।” राजा के न्याय की स्थान-स्थान पर निंदा हुई। गुप्तचरों ने राजा तक बात पहुँचा दी।

दूसरे दिन पुनः राजसभा जुड़ी। राजा ने कोतवाल को बुलाकर आदेश दिया कि “जाओ, कल जिन चार युवाओं को सजा दी, उनकी खबर लेकर आओ, कौन क्या कर रहा है?”

कोतवाल सिपाहियों को लेकर खोजने निकला। काफी खोजबीन करके देर बाद कोतवाल रिपोर्ट लेकर आए कि उस कृत्य के लिये स्वयं दोषी मानकर मंत्री-पुत्र ने तो घर जाकर आत्महत्या कर ली थी। नगर-श्रेष्ठी का पुत्र अपना मुँह छुपाने के उद्देश्य से घर छोड़कर कहीं चला गया था? सेनापति-पुत्र जब से सजा सुनकर गया, अपने कक्ष को भीतर से बंद कर बैठ गया। जो अब तक द्वार खोलकर बाहर ही नहीं आया। इन तीनों की रिपोर्ट देकर सिपाही कुछ रुका। राजा ने कहा—“चौथे की हिस्ट्री भी तो सुनाओ।”

सिपाही ने फिर कहना प्रारम्भ किया—“हुजूर! पहले तो उसका कहीं भी पता नहीं चला। न घर पर, न बाजार में, न शहर में। मैं थककर शहर के बाहर एक चाय की होटल पर चाय पीने गया। वहाँ एक चश्मा लगाए सूटेड-बूटेड-अपटूडेट व्यक्ति ने मुझे पूछा—‘पहचाना मुझे?’ मैंने समझा कोई परदेशी होगा। पर वह स्वयं ही बोल उठा—‘अरे! मैं वही हूँ जिसका तुम लोगों ने कल मुँह काला कर गधे पर बिठा खूब घुमाया था।’ ” फिर जोर से ठहाका लगाकर हँसा।

अब राजा ने सभासदों से पूछा—“मेरे द्वारा दी गई सजा से कौन अधिक दण्डित हुआ, किसके साथ कैसा व्यवहार उचित था? इस रिपोर्ट के पश्चात् आपका क्या मानस है?”

सभासदों ने कहा—“आपका निर्णय दण्डनीति, पूर्णतः उचित एवं न्यायपूर्ण है।

बंधुओं! ये हैं कलयुगी शूरवीरता और धीरता की बानगी। जो लज्जावान हैं, वही संयम की राह पर चल सकते हैं, वही सदाचरण धर्माचरण की पर्याय बन सकते हैं। निर्लज्ज स्वयं का तथा आश्रितों, अनुवर्ती जनों का पतन करते हैं।

### □ तीर्थ प्रवर्तक तीर्थकर

सच्चे शूर, वीर एवं धीर होते हैं तीर्थकर भगवंत जो सद्धर्म के प्रसार के लिए चार तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। किसे कहते हैं तीर्थ? जनसाधारण की भाषा में हरिद्वार, पुष्कर, गंगा आदि स्थल तीर्थ कहे जाते हैं पर आम 'जन' से कुछ विशिष्ट हैं, जैन। अधिक लगी दो मात्राएँ आपके विशिष्ट सद्विचारों एवं सदाचरण को प्रकट करने वाली हैं। जिनका आचरण उत्तम हो और विचार, मनन, चिंतन पर-हितकारी हो, श्रेष्ठ हो, वही होता है सच्चा जैन! आपके लिए जड़-जंगम तीर्थ कोई महत्त्व नहीं रखते। ये तो लौकिक तीर्थ हैं।

देवाधिदेव तीर्थकर भगवंत की दृष्टि में तो आप श्रावक हैं अतः आप भी तीर्थ हैं। वे जिन चार तीर्थों की स्थापना करते हैं, वे लोकोत्तर तीर्थ होते हैं।

### □ क्या है तीर्थ? कौन हैं तीर्थकर?

तीर्थ का अर्थ है—वह स्थान (थ), जहाँ से (तीर) तीर पहुँचा जाए। नदी, तालाब, झरनों आदि के वे घाट जहाँ से तैरकर ये स्थान पार किये जाते हैं। यहाँ भवसागर से तैरने व तिरने की बात है अतः तीर्थकर प्रभु ने इसके लिए चार (घाटों) तीर्थों की स्थापना की—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका। इन महापुरुषों ने धर्म के इन चार प्रकाश-स्तम्भों की रचना कर धर्म का उपदेश दिया एवं स्वयं धर्म का पालन कर भवसागर को पार कर किनारे पहुँच गए अर्थात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन कृतकार्य हुए। ऐसे उन सिद्ध भगवन्तों, तीर्थकर भगवन्तों, अर्हत भगवन्तों को कोटि-कोटि वंदन, जो लोक के उस अग्र भाग पर स्थित हो जाते हैं, जहाँ लोक व अलोक का संधि-स्थल है।

### □ वन्दन, वन्दनीय तक पहुँचने की सीढ़ी बने

बंधुओं! तीर्थकर इस क्षेत्र में विद्यमान नहीं पर तीर्थ विद्यमान हैं। जो तीर्थ हैं, उन्होंने वास्तविक तीर्थ स्वरूप प्रगट कर लिया, अपने तीर्थ नाम को सार्थक यदि बना दिया, व्रत या महाव्रतों का निर्दोष पालन यदि कर लिया तो तीर्थकर बनने में क्या देरी लगती है। मैंने पूर्व में ही कहा था, हमारा वन्दन, केवल वन्दन तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए अपितु हमारा वन्दन, वन्दनीय तक पहुँचने की सीढ़ी बन जाना चाहिए। यदि ऐसा न हो सका तो न कहने में कुछ सार है, न सुनने में कुछ सार।

आप सभी सुनने हेतु आए हैं पर उस सुनने के बाद क्या? श्रुति-श्रवण का फल क्या है? वह जो सुना, जीवन में परिलक्षित होना चाहिए। जीवन में इतना परिवर्तन तो आना ही चाहिए कि लोगों को लगे आपके जीवन-व्यवहार से कि आप यथार्थ में जैन हैं, जिन-मतानुयायी हैं, महावीर की सन्तान हैं। जिनवाणी सुनकर यदि तदनुरूप किंचित् भी परिवर्तन ला सके तो आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त हो जाएगा।

आनंद ही आनंद !



## जयवन्ता जगदीश !

आत्म-बंधुओं !

आत्मा जब निजरूप में रमण करने लगती है तो उसके शाश्वत सुखों का पथ प्रशस्त होने लगता है। प्रश्न यह है कि आत्मा को कष्ट क्या है? जब आत्मा में अनंत आनन्द-सिंधु लहराता है तो फिर यह भव-भ्रमण, चार गतियों में फिरते हुए अनेकानेक दुःखों की अनुभूति क्यों होती है? प्रश्न यह भी है कि क्या आत्मा कष्ट पाती है या कष्ट सिर्फ शरीर ही पाता है? यदि कष्ट केवल इस शरीर को तो फिर उन कष्टों के लिए इतना विचार क्यों?

□ अनुभूतिपूरक चेतन-तत्त्व ही आत्मा है

बंधुओं! यह सही है कि कष्ट शरीर पाता है पर शरीर को मिलने वाले कष्ट की अनुभूति किसे होती है? शरीर तो जड़ है। फिर अनुभूतिपरक तत्त्व क्या है? शरीर में जब-जब भी कष्ट आते हैं तो भावों में शुभाशुभ परिणाम भी उठते हैं, जो अनुभूति के फलस्वरूप ही उठते हैं। अनुभव करने वाला जो चेतन-तत्त्व है, वही आत्मा है। शुभाशुभ परिणामों की धारा में जो राग-द्वेष, कषाय-चतुष्क आदि हैं, उन्हीं के कारण से आत्मा कर्म-रज के आवरण से आवृत हो जाती है। भीतर का अनंत-आनंद-सिंधु भीतर ही दबा रह जाता है और ऊपर कर्मावरण की असंख्यात, अनंत, अनंतानंत परतें जमा हो जाती हैं।

□ जो होता है, सहजभाव से होने दीजिए

व्यक्ति यदि यह चिन्तन प्रारम्भ कर दे कि शरीर अलग है, आत्मा अलग है; शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है; शरीर नश्वर है, आत्मा शाश्वत है; तब वह यह भी सोचने लगेगा कि कष्ट आत्मा को नहीं, शरीर को हो रहा है। चिन्तन की यह धारा मानव को

समभावों की उज्ज्वल भूमिका में ले जाती है। शुभाशुभ कर्मों के उदय में आने पर उन्हें भोगते हुए परिणामों की धारा को उसके साथ मत जोड़िए। जो हो रहा है, सहजभाव से होने दीजिए, समभाव से सहन करिए तो पूर्व संचित कर्म निर्जरित हो जायेंगे और नए कर्म नहीं बँधेंगे।

### □ जीवन का लक्ष्य—मुक्ति

ऐसी स्थिति कब आएगी? जब कषायों का उपशमन, शमन व क्षय होगा। यह कब होगा? जब आत्मा में विनय, सरलता, निरभिमानता व निर्लोभता होगी। इन गुणों को अन्तर् में प्रकट कर कषाय-शमन कर मुक्ति के पथ पर बढ़ना ही जीवन का लक्ष्य बनना चाहिए। जिन्होंने ऐसा लक्ष्य बनाकर सिद्धि को प्राप्त कर लिया उन्हीं महापुरुषों को समर्पितभाव से भाव-वन्दना की पुष्पांजलि अर्पित की है, बड़ी साधु वन्दना में पूज्य आचार्य सम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने। एक सौ ग्यारह कड़ियों की इस पावन रचना के दो पदों का विवेचन आप सुन चुके हैं। तीसरी व चौथी कड़ी की लड़ी में तीर्थकर पद-विवरण है।

सीमन्धर प्रमुख, जघन्य तीर्थकर बीस।

छे अढ़ी दीप मां, जयवन्ता जगदीश ॥३॥

एक सौ ने सित्तर, उत्कृष्ट पदे जगीश।

धन्य मोटा प्रभुजी, तेह ने नमाऊं शीश ॥४॥

### □ अढ़ाई द्वीप क्या है ?

अढ़ाई द्वीप में वर्तमानकाल में जयवंत अर्थात् प्रत्यक्ष विहरमान तीर्थकर भगवन्तों को कवि शीश नमाते हुए कहता है कि ये जघन्य बीस और उत्कृष्ट (एक सौ साठ अथवा) एक सौ सत्तर तक होते हैं। परमात्मा के तुल्य ये महानात्माएँ धन्य हैं।

बंधुओं! यह अढ़ाई द्वीप का क्षेत्र कितना, कहाँ और कैसा है? आइए पहले इसी का परिचय कर लें।

यह लोक १४ राजू प्रमाण लम्बा एवं ७ राजू प्रमाण चौड़ा है। किसे कहते हैं राजू? यह एक भूमि-माप है। इसके लिए बताया गया है कि तीन करोड़ इक्यासी लाख सत्ताईस हजार नौ सौ सत्तर मन वजन से १,००० गुणा भार वाले किसी लोहे के गोले को कोई देवशक्ति



ऊपर से नीचे फेंके। वह गोला छः मास, छः दिन, छः प्रहर, छः घड़ी में जितने क्षेत्र को लाँघकर जावे उतने क्षेत्र को एक राजू प्रमाण जगह कहते हैं।

प्रश्न होता है यह लोक किस प्रकार का है? भगवतीसूत्र में लोक का आकार बताते हुए कहा है कि यदि जमीन पर मिट्टी का एक सकोरा उल्टा रखकर, उस पर एक सीधा सकोरा रख दें फिर उसके ऊपर एक और उल्टा सकोरा रख दें तो जो आकार बनता है, वैसा ही आकार इस लोक का है। वर्तमान में प्रचलित जैन प्रतीक में लोकाकृति का यही स्वरूप दर्शाया गया है।

नीचे से यह लोक सात राजू प्रमाण चौड़ा है फिर ऊपर अनुक्रम से एक-एक प्रदेश कम चौड़ा होता-होता सात राजू की ऊँचाई पर दोनों दीपकों की संधि के स्थान पर एक राजू चौड़ा रह गया है। इससे आगे अनुक्रम से चौड़ाई बढ़ती गई है और साढ़े तीन राजू (नीचे से साढ़े दस राजू) की ऊँचाई पर, दूसरे और तीसरे दीपक के संधि स्थान पर पाँच राजू चौड़ा है। फिर आगे क्रम से घटता-घटता अन्तिम भाग में (तीसरे दीपक के अंतिम भाग पर) एक राजू चौड़ा है। सम्पूर्ण लोक के विषम स्थान को सम करके देखें तो यह सात राजू ऊँचा, सात राजू चौड़ा और सात राजू मोटा नजर आयेगा जिसका घनफल तीन सौ तेतालीस घन राजू होगा।

चौदह राजू प्रमाण लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—अधोलोक (नीचा), मध्यलोक (बीच का) और ऊर्ध्वलोक (ऊँचा)।

ऊर्ध्वलोक में देवलोकों का अधिकार है, मध्यलोक में मनुष्य, तिर्यच आदि हैं और अधोलोक में नरक आए हुए हैं।

मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। सबसे छोटा जम्बूद्वीप है, जो एक लाख योजन का है। यह थाली की तरह गोल है। इसके चारों ओर दो लाख योजन प्रमाण लवण समुद्र है। लवण समुद्र के चारों ओर चार लाख योजन का घातकीखंड है। घातकीखंड के चारों ओर आठ लाख योजन प्रमाण कालोदधि समुद्र है। कालोदधि समुद्र के चारों ओर पुष्कर द्वीप सोलह लाख योजन का है। इस पुष्कर द्वीप के मध्य में मानुषोत्तर पर्वत है। यह पर्वत पुष्कर द्वीप को दो भागों में विभाजित करता है। जम्बूद्वीप से इस मानुषोत्तर पर्वत पर्यंत क्षेत्र को अढ़ाई द्वीप कहते हैं।

### □ वर्तमान में विद्यमान बीस तीर्थकर (विहरमान)

इसी अढ़ाई द्वीप क्षेत्र में वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में बीस तीर्थकर धर्म-दीप को प्रदीप्त कर रहे हैं। जैसा कि पिछले प्रवचन में आपने सुना, इन अढ़ाई द्वीपों में मनुष्यों के रहने के १०१ क्षेत्रों के केवल १५ कर्मभूमियों में ही धर्मध्यान होता है। ये १५ कर्मभूमियाँ हैं—५ भरत, ५ ऐरवत, ५ महाविदेह। महाविदेह क्षेत्रों में तो हर काल हर समय में धर्मध्यान होता है पर शेष ५ भरत, ५ ऐरवत में उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल के दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम में से केवल एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम से कुछ अधिक समय में ही धर्मध्यान की प्रवृत्तियाँ होती हैं। इस पंचम आरे में महाविदेह में बीस तीर्थकर विद्यमान हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

- |                           |                           |
|---------------------------|---------------------------|
| १. श्री सीमंधर स्वामी     | २. श्री युगमंदर स्वामी    |
| ३. श्री बाहु स्वामी       | ४. श्री सुबाहु स्वामी     |
| ५. श्री सुजात स्वामी      | ६. श्री स्वयंप्रभ स्वामी  |
| ७. श्री ऋषभानन स्वामी     | ८. श्री अनंतवीर्य स्वामी  |
| ९. श्री सूरप्रभ स्वामी    | १०. श्री विशाल स्वामी     |
| ११. श्री वज्रधर स्वामी    | १२. श्री चंद्रानन स्वामी  |
| १३. श्री चंद्रबाहु स्वामी | १४. श्री भुजंग स्वामी     |
| १५. श्री ईश्वर स्वामी     | १६. श्री नेमप्रभ स्वामी   |
| १७. श्री वीरसेन स्वामी    | १८. श्री महाभद्र स्वामी   |
| १९. श्री देवयश स्वामी     | २०. श्री अजितवीर्य स्वामी |

बन्धुओं! इन बीस विहरमान—तीर्थकरों का जन्म जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में सत्रहवें तीर्थकर श्री कुन्थु जिन जी के निर्वाण के पश्चात् एक ही साथ हुआ था। बीसवें तीर्थकर श्री मुनिसुव्रत जी के निर्वाण पश्चात् इन सभी ने एक ही समय में दीक्षा ली। बीसों विहरमान एक मास तक छद्मस्थ रहे, तब इन्हें एक ही समय केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। भविष्यकाल की चौबीसी के सातवें तीर्थकर श्री उदय जिन जी के निर्वाण होने के पश्चात् ये सभी एक ही समय मोक्ष पधारेंगे।

इन सभी वर्तमान विहरमानों के प्रत्येक के ८४-८४ गणधर हैं, दस-दस लाख केवलज्ञानी हैं और एक-एक अरब साधु व इतनी ही साध्वियाँ हैं।

### □ गणितीय-गणना : एक समय में १,६८० विहरमान

गणित की दृष्टि से हिसाब लगाएँ तो चूँकि महाविदेह क्षेत्र में प्रत्येक समय बीस तीर्थकर तो रहते ही हैं और उनमें से प्रत्येक त्रियासी (८३) लाख पूर्व की आयु तक गृहवास में और एक लाख पूर्व संयमावस्था में बिताते हैं। जब बीस तीर्थकर निर्वाण प्राप्त होते हैं तो नए बीस तीर्थकर-पद पर आसीन हो जाते हैं अतः स्पष्ट है कि एक समय में गृहवास में बीस विहरमान एक लाख पूर्व की आयु के, बीस ही दो लाख पूर्व की आयु के और इसी क्रम में त्रियासी लाख पूर्व तक गिन लीजिये। तात्पर्य यह हुआ कि एक समय में गृहवास में जघन्य  $८३ \times २० = १,६६०$  तथा तीर्थकर-पद पर आसीन २० कुल १,६८० तीर्थकर होते हैं। इतने तीर्थकर एक समय में होने पर भी ये कभी आपस में मिलते नहीं हैं। अनादिकाल से यह क्रम चल रहा है और अनन्तकाल तक यही क्रम चलता रहेगा।

### □ सिद्ध बड़े या अरिहन्त ?

तीर्थकर = विहरमान = अर्हत (अरिहन्त) नमस्कार मंत्र के पाँच पदों में सबसे पहले अरिहन्त भगवान को नमस्कार किया गया है—‘णमो अरिहन्ताणं’। प्रश्न यह उठता है कि उन्हें प्रथम नमन क्यों? क्या दिया ऐसा उन्होंने हमें? कौन-सा ऐसा उपकार है उनका हम पर? सिद्ध उनसे बड़े हैं, अष्टकर्मक्षयी हैं, चरम लक्ष्य प्राप्त हैं फिर चार घातिकर्म ही नष्ट करने वाले, अभी तक संसार में विराजमान, लक्ष्य के जो निकट पहुँचे हैं उन्हें बड़ा कैसे माना? नहीं माना तो पहले वंदन, नमन क्यों? समाधान सरल है, आप भी जानते हैं। बचपन में मैंने पढ़ा था—

**गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय।**

**बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दिया बताय ॥**

एक तरफ साक्षात् परमात्मा स्थित हैं और उनके निकट ही हैं गुरु। गोविन्द की अपेक्षा पहले गुरु को प्रणाम की बात बताई गई है। कारण बताया गया है कि ईश्वर तक पहुँचाने का मार्ग बताने वाले तो गुरु ही हैं। वे नहीं बताते पथ तो हम कैसे परमात्म-दर्शन करते? अरिहन्त ही सिद्ध बनने की विधि बताते हैं, मोक्ष-पथ का निदर्शन करते हैं, उन्हीं के दिए ज्ञान से हम सिद्ध और सिद्धि तक पहुँच पाते हैं, अतः पहला नमन उन्हीं को उचित है। हम

उस संस्कृति, धर्म के पोषक हैं, जहाँ उपकारी को पहले वन्दन किया जाता है और अर्हंत-तीर्थकर प्रभु हमारे अनंत-अनंत उपकारी हैं।

‘अरिहंतो महदेवो।’ अरिहंत ही मेरे देव हैं और सत्य मानें तो अरिहंत ही हमारे गुरु भी। गुरु इस दृष्टि से कि पाँच महाव्रतरूप अणुगार एवं बारह व्रतरूप आगारधर्म उन्हीं की तो देन है। वे धर्म-पथ के संस्थापक हैं और उनके प्रतिनिधि हैं निर्ग्रन्थ। जैसे बड़ी-बड़ी कम्पनियों के उत्पादन का विक्रय उनके द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि करते हैं, ठीक वैसे ही प्रभु अर्हंत जिनधर्म के और निर्ग्रन्थ अर्हंत प्रभु के प्रतिनिधि या रिप्रजेन्टेटिव हैं। इस दृष्टि से साधु तो गुरु हैं ही पर जगद्गुरु तो अर्हंत ही हैं। बोलते हैं आप प्रतिक्रमण में—“केवली भाषित दयामय धर्म।” तो धर्म के भाषक, दर्शक, बताने वाले कौन? अर्हंत!

अब प्रश्न यह भी है कि नमोत्थुणं, जिसे ‘शक्रस्तव’ भी कहते हैं, में दो बार स्तुति होती है तो प्रथम स्तुति किसकी, वन्दन किसे? बन्धुओं! वहाँ प्रथम वन्दन सिद्ध भगवान को किया गया है और द्वितीय ‘नमोत्थुणं’ अर्हंतों को दिया गया है। आप पूछेंगे, ऐसा क्यों? बन्धुओं! यह ‘शक्रस्तव’ पाठ है, अर्थात् वह पाठ जिसमें देवेन्द्रों ने सिद्ध-अर्हंतों की स्तुति की है। यह स्तुति पूज्यातिशय की अपेक्षा से है। उनके वन्दन में गुरु-उपकार की अपेक्षा नहीं, गुरु-उपकार की भावना मानव में होती है। अतः हम पहले अरिहन्त को वन्दना करते हैं।

#### □ एक समय में जघन्य एवं उत्कृष्ट तीर्थकर

हम जिन अर्हंत प्रभु को उनके उपकार के कारण सिद्ध-भगवन्तों से भी पहले प्रणाम करते हैं, वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में विराजमान सीमन्धर स्वामी आदि ऐसे बीस तीर्थकर विद्यमान हैं। एक समय में जघन्य (कम से कम) बीस तीर्थकरों (अर्हंतों) के नियमा है और उत्कृष्ट १६० अथवा १७० की। किसी भी समय जघन्य बीस तीर्थकर तो रहते ही हैं, इनमें कभी कमी नहीं होती।

तीर्थकर अर्हंत भगवान को कवि ने जयवंता जगदीश कहा है। ये साक्षात् परमार्थ स्वरूप में विद्यमान हैं और अढ़ाई द्वीप में ही होते हैं क्योंकि अढ़ाई द्वीप ही मानव-क्षेत्र है। इस अढ़ाई द्वीप में जम्बू द्वीप, धातकीखंड तथा अर्धपुष्कर द्वीप आते हैं। अढ़ाई द्वीप में १५ क्षेत्र हैं—५ भरत, ५ ऐरवत एवं ५ महाविदेह। इन्हीं क्षेत्रों में साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका

रूप तीर्थों की तीर्थकर स्थापना करते हैं। जम्बू द्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्कर द्वीप से बाहर पशु-पक्षियों, तिर्यच गति के जीवों का निवास है। जम्बू द्वीप में एक भरत, एक ऐरवत, एक महाविदेह, धातकीखंड में दो भरत, दो ऐरवत, दो महाविदेह तथा अर्धपुष्कर में दो भरत, दो ऐरवत, दो महाविदेह हैं।

महाविदेह क्षेत्र की पुण्यवानी अनंतानंत है। वहाँ सदैव चतुर्थ आरे के समान समय रहता है। हर समय वहाँ तीर्थकर भगवंतों की उपस्थिति रहती है। एक महाविदेह में ३२ विजय (हिस्से) होते हैं। ५ महाविदेह के कुल विजय हुए  $३२ \times ५ = १६०$ , इनमें प्रत्येक विजय में एक-एक तीर्थकर विद्यमान रहते हैं अतः १६० की स्थिति बन जाती है। इस प्रकार कुल १६० तीर्थकर एक समय में होते हैं और जब ५ भरत, ५ ऐरवत में भी एक-एक तीर्थकर विद्यमान हों, तब तीर्थकर भगवंतों की संख्या १७० हो जाती है। इससे अधिक संख्या तीर्थकरों की किसी एक समय में कभी हुई नहीं, होती नहीं है। वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थकर अजितनाथ भगवान के समय में १७० की संख्या हुई थी, उस समय ५ महाविदेह में १६० तथा प्रत्येक भरत, प्रत्येक ऐरवत में एक-एक तीर्थकर विद्यमान थे।

जघन्य तीर्थकरों की संख्या यहाँ दी है वह बीस है अतः वर्तमानकाल के बीसों तीर्थकरों के मोक्ष चले जाने पर उसी समय दूसरे बीस तीर्थकर-पद को प्राप्त होने चाहिए क्योंकि नियम यह भी है कि ये २० तीर्थकर एक साथ ही जन्म लेते हैं, एक साथ दीक्षित होते हैं, एक साथ कैवल्य प्राप्त करते हैं, एक साथ निर्वाण प्राप्त करते हैं। यह भी उल्लेख आता है कि जब वर्तमान २० दीक्षित होते हैं तो भावी २० विहरमान जन्म लेते हैं। वर्तमान कैवल्य प्राप्त होते हैं तो भावी दीक्षित होते हैं और वर्तमान जब निर्वाण को प्राप्त करते हैं तो वे जो दीक्षित हैं, कैवल्य प्राप्त कर तीर्थकर-पद पर आसीन हो जाते हैं।

#### □ तिरण-तारण के जहाज हैं तीर्थकर भगवंत !

ये तीर्थकर भगवंत तिरण और तारण के जहाज होते हैं। ये स्वयं तिरना जान जाते हैं और भव्य प्राणियों को भी तैरना सिखाते हैं। जिसने भी इस भवसागर में तैरकर तिर जाने की कला प्राप्त कर ली, उसका जन्म सफल हो गया। जिसे यह कला, आत्म-चिन्तन, धर्मारामन नहीं आया उसकी इस मानव-देह के रूप में मिली समस्त श्रेष्ठताएँ, दुर्लभताएँ

व्यर्थ हो गई। प्राणी के लिए १० बोल का प्राप्त करना अतिदुर्लभ है। उत्तराध्ययनसूत्र के अध्ययन ३ (चतुरंगीय) में इन दस दुर्लभ बोलों का दसांग के रूप में वर्णन मिलता है—

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दास-पोरुसं ।  
 चत्तारि काम-खंधाणि, तत्थ से उव्वज्जई ॥  
 मित्तवं नायवं होइ, उच्चागोए य वण्णवं ।  
 अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥

—उत्तरा., अ. ३, गाथा १७-१८

अर्थात् (१) क्षेत्र (खेत, जमीन), वास्तु (गृह प्रासाद आदि), स्वर्ण आदि धातु व पशु और दास आदि का होना, (२) सन्मित्रों का मिलना, (३) ज्ञातिमान होना, (४) उच्च गोत्र होना, (५) सुन्दर वर्ण प्राप्त करना, (६) नीरोगपन होना, (७) महाप्राज्ञ की अवस्था मिलना, (८) अभिजात-कुल मिलना, (९) यश की प्राप्ति होना, और (१०) बल, शक्ति या सामर्थ्य प्राप्त होना। पर जिसने इन १० दुर्लभ बोलों को प्राप्त करके भी भव-सागर पार करने की विद्या नहीं सीखी तो एक कथा में वर्णित विद्वान् यात्री के समान उसका १० दुर्लभ बोल प्राप्त करना निष्फल ही रहता है।

#### □ शत-प्रतिशत जीवन पानी में गया !

एक नाविक था। नदी में नाव चलाता, यात्रियों को इस किनारे से उस किनारे ले जाता और उस किनारे से इस किनारे लाता। नदी पार पहुँचाने के लिए यात्री नाविक को जो कुछ भी देते, वह उन्हीं से अपने और अपने परिवार की आजीविका चलाता।

एक बार एक बहुत बड़ा विद्वान् वहाँ आया और नदी पार जाने के लिए उस नाविक की नाव में बैठ गया। नाविक ने कुछ अन्य यात्रियों के आने की प्रतीक्षा की पर संयोगवश कोई दूसरा यात्री उस दिन नहीं आया। नाविक सोच रहा था कि अकेले यात्री को लेकर नदी पार करूँ या नहीं? इतने में विद्वान् यात्री बोला—“भाई! मुझे तो जल्दी नदी-तीर पहुँचना है। तुम और कितनी देर प्रतीक्षा करोगे?”

नाविक ने कहा—“बाबू! एक यात्री लेकर नदी पार गया तो मेरे श्रम का मुझे क्या फल मिलेगा? मेरी तो यही रोजी है।”

यात्री बोला—“ऐसा करो, तुम मुझसे कुछ ज्यादा किराया ले लो।”

नाव चलने लगी। पानी की धारा में चप्पू की आवाजें शांत वातावरण की शांति भंग करने लगीं। इस किनारे से नाव की दूरी बढ़ने लगी तो उस किनारे से घटने लगी। कुछ ही देर बाद विदेश में कई भाषाओं का अध्ययन कर आने वाले उस विद्वान् यात्री ने नाविक से प्रश्न किया—“भाई! तुम नाव चलाने का धंधा भले ही करते हो पर बचपन में पढ़ाई-लिखाई तो तुमने की होगी? कितने पढ़े-लिखे हो?”

नाविक ने कहा—“बाबूजी! हम तो अँगूठा छाप हैं। गरीब हैं अतः पिता ने पढ़ाया नहीं, बचपन से अपने साथ रखा, नाव चलाना सिखाया। जब मैं सीख गया तो नई नाव दिला दी। तब से अब तक मेरी यह नाव है और मैं हूँ। पढ़ाई-लिखाई के नाम पर तो मैं अँगूठा छाप ही हूँ। जन्म भी मेरा नाव में ही हुआ और शायद मरण भी नाव में ही होगा।”

यात्री मुस्कराया। उसे अपनी विद्या पर गर्व हो आया। मन ही मन वह अपनी विद्वत्ता पर झूम उठा। थोड़ी ही देर बाद उसने नाविक से अगला प्रश्न किया—“भैया! पढ़े-लिखे नहीं तो समझ लो वन फोर्थ (२५ पैसे, १/४, चौथाई हिस्सा, २५%) लाइफ तो तुम्हारी पानी में ही गई। अच्छा, यह तो बताओ कि क्या तुम देश-विदेश की खबरों की जानकारी रखते हो, राजनीति की बातें जानते हो, कहाँ क्या उथल-पुथल हो रही है, इसका पता रखते हो?”

नाविक—“नहीं बाबूजी, नहीं! हमें कहाँ इतना समय मिल पाता है। सुबह जल्दी उठकर नाव सँभालते हैं तो अंधकार फैलने तक नाव ही चलाते हैं। राजनीति और उथल-पुथल तो आप जैसे पढ़े-लिखे लोगों के लिए है। हम तो दो समय भर-पेट रोटी का जुगाड़ कर लें, यही बहुत है।”

यात्री—“अरे नाविक! पेट तो जानवर भी भरते हैं। यदि तुम देश-विदेश की खबर नहीं रखते तो समझ लो आज के युग में तुम्हारा जीना दूभर है। मेरी समझ में तुम्हारी हॉफ लाइफ पानी में चली गई।”

यात्री यह कहकर कुछ देर चुप रहा पर उसका अन्तर्मन तो नाविक को हीन और अपने को श्रेष्ठ बताने के चक्कर में उलझा हुआ था। उसने अगला प्रश्न किया—“नाव की आमदनी से परिवार का खर्च चलाने के बाद कुछ धन बचाते हो या नहीं? वृद्धावस्था, अचानक अस्वस्थता आदि के लिए कुछ धन संचित किया है या नहीं?”

नाविक—“कहाँ किया बाबूजी! मैंने तो आपको पहले ही बता दिया कि दो समय परिवार के लिए भोजनादि की व्यवस्था ही कर पाता हूँ। वह भी पूरी नहीं। रोज कमाता हूँ, रोज खाता हूँ। जिस दिन कुछ कम मिलता है, पेट खाली रखना पड़ता है।”

यात्री—“तब तो तुम्हारी श्री-फोर्थ लाइफ पानी में ही गई।”

बातें मुँह से हो रही थीं, हाथ चप्पू चला रहे थे। नदी का पाट आधा पार हो गया था। अचानक प्रकृति के तेवर बदले, मौसम का रंग बदला, वातावरण ने आँख बदल दी। मंद-स्थिर पवन वेगवान् हो गया। कुछ ही देर में वायु प्रबल वेग से चलने लगा। तूफान आने की संभावना स्पष्ट नजर आने लगी। नाव डगमगाने लगी। लहरों के ऊँचे-ऊँचे थपेड़ों में उसको सँभालना मुश्किल हो गया। नाविक ने नियंत्रण का पूरा प्रयास किया पर प्रकृति के प्रकोप को वह सँभाल नहीं पाया। नाव को संकट से घिरा देख विद्वान्-यात्री से उसने पूछा—“ओ बाबूजी! मौसम बदल गया है, नाव शायद साथ न दे। क्या आप पानी में तैरना जानते हैं?”

यात्री भी घबरा गया। मौसम का यह परिवर्तन यात्रा को पूर्ण शायद ही होने देगा, यह वह समझ गया। तैरना उसे आता नहीं था। उसने बड़ी निराश, हताश, उदास मुद्रा में नाविक को देखा और बोला—“नाविक! मैं अनेक विद्याओं का ज्ञाता हूँ पर तैरना तो मैंने अभी तक नहीं सीखा।”

नाविक बोला—“बाबूजी! अब तो आपका ईश्वर ही मालिक है। तैरना नहीं जानते तो मरण निश्चित है। मेरी तो श्री-फोर्थ लाइफ ही पानी में गई पर आपकी तो जिन्दगी शत-प्रतिशत ही पानी में जाएगी। अब तो आपकी पूरी लाइफ इसी पानी में समाधि लेगी।”

नाविक पानी में कूदा। नाव डूब गई। विद्वान् यात्री की जल-समाधि हो गई।

#### □ तैरना सीखिए भवसागर से

कथा का भाव-संकेत यह है कि तैरना आना चाहिए। तैरना यदि आ गया तो जन्म सफल हो गया। इस संसार सागर के मोह-माया रूप जल को तैरकर पार करना ही मानव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। आपको अवसर मिला है इसे जानने का? दुनियाभर



की जानकारी आप रखते होंगे। कोई डॉक्टरी, कोई प्रोफेसरी, कोई इंजीनियरी, कोई व्यापार-प्रबंध, कोई टेक्सेशन अनेक-अनेक तरह की सांसारिक जानकारियाँ आपके मानस-कोष में संचित होंगी पर जो जानकारी वीतराग-वाणी सिखा रही है, अर्हत्-वाणी बता रही है उसका क्या हाल है? यदि यह वाणी, यह विद्या पल्ले में नहीं पड़ी तो समझ लीजिए शेष अर्जित समस्त विद्याएँ, जानकारियाँ अपूर्ण हैं, व्यर्थ हैं, निष्फल हैं। संसार की ये सारी विद्याएँ पेट के लिए हैं पर वह कभी भरा नहीं, कभी भरेगा भी नहीं। यदि देह के लिए हैं तो वह नश्वर है—आग में जलेगा एक दिन। इन विद्याओं से संचित-अर्जित समस्त धन, ऐश्वर्य, सुख-भोग-सामग्री यहीं पड़ी रह जायेंगी और आपको अकेले खाली हाथ चले जाना होगा। साथ क्या जाएगा? वही जो अर्हत्-तीर्थकर की वाणी में से आपने जीवन में ग्रहण किया है।

#### □ यात्रा निष्कंटक नहीं है

संसार रूप यह सागर है। मोह-मिथ्यात्व-माया रूप पानी है। धर्म, व्रत, प्रत्याख्यान, ज्ञान-ध्यान रूप नाव है। आपको सद्बुद्धि आई, समकित आया, विचारों में शुद्धि आई और आप नाव में बैठ गए। तिरना निश्चित है पर बाधाएँ तो आ ही सकती हैं। कामनाओं का तूफान आ सकता है, लोभादि समुद्री लुटेरे लूट सकते हैं, कषाय-भाव दुश्मन बन आक्रमण कर सकते हैं, व्रतों में अतिचाररूपी छिद्र नाव में हो सकते हैं। छिद्र होगा तो पानी आएगा। पानी यदि नाव में आ रहा है, बढ़ रहा है तो नाव तिरेंगी कैसे? वह तो डूबेगी। आते हुए पानी को रोकने के लिए प्रायश्चित्तरूपी डाट लगाना पड़ेगा। मान लीजिए फिर भी पानी का आना बंद नहीं हुआ तो सद्गुरु द्वारा बताए पथरूपी बर्तन से पानी को बार-बार उलीचना भी पड़ सकता है।

#### □ ऐसा न हो कि नाव डूब जाए

अज्ञानी लोग कभी-कभी पानी उलीचने का पुरुषार्थ करना नहीं चाहते। तब वे नाव में यदि एक छिद्र हुआ है तो दूसरा एक छिद्र और कर देते हैं कि पानी एक छिद्र से आएगा तो दूसरे से निकल जाएगा। अब आप ही सोच लीजिए क्या दशा होती है उस नाव की? साधक एवं व्रती व्यक्ति भी कभी-कभी व्रतों में अतिचार लगने पर उसे छिपाने के लिए दूसरा अतिचार—दोष लगा लेते हैं। आप लोग कहा करते हैं कि एक झूठ को छिपाने के

लिए हजार झूठ बोलने पड़ते हैं। वही बात यहाँ भी है। पर निश्चित जानिए ऐसे साधकों की नाव डूबने वाली है, उसमें अधिक विलम्ब नहीं लगेगा। साधु-साध्वी के पाँच महाव्रत और श्रावक-श्राविका के बारह व्रत होते हैं। इन व्रतों की पालना कैसे हो रही है, ये हमारे और आपके चिन्तन का ऐसा विषय है कि जिस पर यदि शीघ्र चिन्तन नहीं किया गया तो हालात न सँभलने लायक हो जायेंगे।

### □ यदि ऐसा ही रहा तो भविष्य क्या होगा?

कभी-कभी आंशिक दोष लगने पर साधक सोचता है—‘अब दोष तो लग ही गया फिर क्या है?’ और वे व्रतभंग कर देते हैं। अतिचार में थे, अनाचार में आ जाते हैं। इस तरह तो नाव से पानी खाली नहीं हो सकता। वर्तमान समय में तो शिथिलताएँ साधक-वृंद के जीवन में अपना प्रभाव बढ़ाती ही जा रही हैं। क्या संतवर्ग एवं क्या श्रावकवर्ग, सभी सुख-सुविधा के साधनों का उपयोग लेकर व्रत-दोष लगा रहे हैं। छह काया के प्रतिपाल कहे जाने वाले, जिन्हें एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी जीवों की रक्षारूप महाव्रत तीन करण, तीन योग से निभाना है, वे भी आज खुलेआम जीव-विराधना कर रहे हैं और उनके अम्मापिया, माता-पिता से उपमित श्रावकवर्ग उनके इस कार्य में सहयोग ही नहीं दे रहे अपितु उसे बढ़ाने के प्रयत्नों में लगे हैं। क्या होगा साधना का? कैसे होगा आत्म-कल्याण? किस तरह मिलेगी मुक्ति?

आज ध्वनिवर्धक-यंत्र, पंखे, ए.सी., टी. वी., मोबाइल फोन, अन्य विद्युत् साधन, फ्लश आदि का तो साधक खुलेआम उपयोग कर ही रहे हैं और साथ ही अपनी इन शिथिलताओं को साधना में उपयोगी और वर्तमान युग के लिए आवश्यक भी बता रहे हैं। कभी-कभी तो निर्दोष-साधनारत साधकों की क्रियाओं में तर्क द्वारा मीन-मेख निकालकर अपने द्वारा बरती जा रही शिथिलता के कारणों में कम दोष सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है। श्रावक-वृंद! जो आगम-अध्ययन के स्थान पर संतों की हाँ में हाँ मिला रहा है, सोचता है कि हमारे गुरु सही कहते हैं। जहाँ श्रावक जानकार, ज्ञानी, आगमाध्यायी व स्वाध्यायी हों, वहाँ ये बातें चल नहीं पातीं। अज्ञानता के कारण खोटे सिक्कों को पल्ले बाँधकर शिथिलाचार को जहाँ तक चले, चलाए जा रहे हैं। पर परिणाम क्या होगा, इस पर कौन चिन्तन करे?

आज उठापटक का विचित्र दौर चल रहा है। श्रमणाचार की सीमा का बेझिझक उल्लंघन करने का किंचित् भय नहीं है। किसी के विकास-उन्नति को देखकर ईर्ष्या की अग्नि धधक उठती है। उसे नीचे गिराने के लिये स्वयं को नीचे से नीचे स्तर पर ले जाने में जरा भी संकोच-भय-लज्जा का अनुभव नहीं होता है। स्वयं के दुश्चरण-चरित्रहीन जीवन की ओर नहीं देखकर दूसरों के उत्थान से जल-भुन कर झूठे मुद्दे बनाये जाते हैं। घृणित हथकंडे एवं गुण्डेशाही करने में भी पीछे नहीं रहते हैं। अनुशासनहीन चारित्र भ्रष्टों को प्रोत्साहित कर अपनी जमात बढ़ाने की योजनाएँ बनाते रहते हैं। उसके लिए निकृष्टतम तरीके अपनाने में भी पीछे नहीं रहते हैं।

मठाधीशों, आश्रमवासियों की सी प्रवृत्तियाँ बढ़ रही हैं। किंग मेकर बनकर संघ समाज को भ्रमित किया जा रहा है। पद-लोलुप लोगों की पद-लिप्सा का लाभ उठाकर संघ समाज में अपनी मनमानी चलायी जा रही है। तांत्रिकों एवं राजनीतिज्ञों को बार-बार बुलाकर अपना दबदबा बढ़ाने का प्रयास किया जाता है। पदलोलुप लोगों से पद दिलाने के लिये मोटी रकम ऐंठी जाती है। हकीकत की पोल खुल जाने से तत्सम्बन्धित व्यक्तियों को धमकियाँ देना, जाने कितनी बातें हैं, जिनका आज का साधकवर्ग आदतन शिकार हो चुका है। ये सभी महा दोष के मार्ग हैं पर आज इन महा दोषों की आवश्यकता की पूर्ति करने में आकाश-पाताल एक कर दिए जाते हैं और सर्वाधिक गढ़ा-गढ़ाया तर्क दिया जाता है—आज के युग की माँग है युग के अनुरूप चलना चाहिये।

### □ विनाशकारी छिद्र और जापानी बालक

साधक हमेशा साधक ही है, चाहे वह अणगार हो चाहे सागारधर्म का पालक। मुझे याद आता है जापान का एक ऐसा प्रसंग, जिसे पढ़कर मैंने आज के साधकों के साधना-छिद्रों पर सोचते हुए उसे हमेशा स्मरण किया है। जापान एक नन्हा-सा देश है पर अत्यन्त समृद्धिशाली। उसकी समृद्धि के पीछे वहाँ के लोगों की श्रमशीलता, देश-भक्ति एवं कार्यनिष्ठा के गुण हैं। समुद्र में आए इस देश के अनेक ग्राम ऐसे हैं, जो विस्तार पाकर समुद्र के किनारे से ज्यादा दूर नहीं रहे। आपत्तिकाल से बचाव के लिए कई ग्रामों की सीमा पर ऊँचे-ऊँचे मजबूत सुरक्षा-परकोटे बना दिये गए हैं।

ऐसे ही किसी ग्राम में पानी के थपेड़े खा-खाकर परकोटे के लिए बनी दीवार में एक छेद हो गया। छेद बहुत छोटा था पर छेद तो छेद ही है और पानी, पानी ही है। आप जानते हैं कि पानी जहाँ भी कमजोरी देखता है, वहीं अपनी जगह बनाता हुआ कमजोर स्थल के भीतर से राह बना लेता है। छेद में से पानी रिसने लगा। पानी की ताकत भी असीम होती है। वह जीवनदायी भी है तो सर्वग्रासी भी। रिसते हुए पानी ने महीन धार का रूप ले लिया। दीवार ग्राम से बहुत दूर थी अतः तत्काल किसी को ज्ञात नहीं हो सका।

अपने स्वभाव के अनुसार छिद्र में से बहते हुए पानी ने अपने निकलने के पथ को विस्तार देना प्रारम्भ कर दिया। सर्वप्रथम एक भेड़-पालक के चरवाहे-बालक की नजर उस धार पर और धार के उद्गम-स्थल उस छिद्र पर पड़ी। उसने विचार किया—‘छिद्र का रुकना जरूरी है, अन्यथा छिद्र बड़ा हो जाएगा फिर रोकने से भी नहीं रुकेगा और परिणाम.....?’ कल्पना से ही वह काँप उठा। वह असमंजस में था कि पहले भागकर ग्राम में जाऊँ और उन्हें सूचना दूँ या पहले छिद्र रोकूँ? देखा छिद्र की ओर धार कुछ पहले से तीव्र लगी। चला गया लोगों को कहने तो लोगों के आने तक यहाँ न जाने क्या हो?

उस नन्हें किशोर ने कहीं जाने का विचार त्याग, छेद बंद करने के प्रयत्न प्रारम्भ किये। कमीज फाड़ा, लकड़ी का टुकड़ा फँसाया पर व्यर्थ।

उसने सोचा—‘अब क्या करूँ? समुद्री पानी की ताकत के आगे मेरा क्या सामर्थ्य जो इसे रोक पाऊँ। सोचते-विचार करते उसने एक अद्भुत निर्णय लिया, अपनी एक अंगुली उस छिद्र में कठोरता से धकेलकर फँसा दी। अंगुली छिद्र में फिट हो गई। शारीरिक अवयवों में संकुचन एवं प्रसरण का स्वभाव होने से पानी रुक गया। बालक बहुत प्रसन्न हुआ।

अब वह इतनी दूर से ग्राम के लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए जोर-जोर से चिल्लाने लगा पर न उसकी आवाज किसी ने सुनी और न कोई उधर आया। उसका चिल्लाते-चिल्लाते गला बैठ गया। उधर ठंडा समुद्री खारा पानी, उसकी नन्हें-सी अंगुली। संध्या हुई, रात हो गई, सर्दी बढ़ गई, बर्फीली हवाएँ चलने लगीं और बालक उस समुद्री दीवार के निकट, अत्यल्प कपड़ों में। इधर देह में ठिठुरन, उधर अंगुली फूलने लगी, रक्त जम गया, अंगुली नीली और नीली से काली पड़ गई, चमड़ी गल गई। खारा पानी

चमड़ी में खाज, चरचराहट पैदा करने लगा। वह किशोर असहनीय वेदना को सहन करने का प्रयत्न करता रहा पर कब तक ?

धीरे-धीरे उसकी चेतना लुप्त होने लगी। वह पैरों पर खड़ा नहीं रह सका तो लड़खड़ाया। जमीन पर गिरता पर अंगुली दीवार में अटकी हुई थी। वह गिरा पर जमीन पर नहीं पहुँचा। अंगुली की अटक से अधर में झूल-सा गया। कल्पना कीजिए, कैसा भयंकर कष्ट, कैसी तीव्र वेदना उसने सही होगी! आखिर वह असमय ही काल के गाल में समा गया। जापानवासियों ने बाद में उसे शहीद बालक के रूप में उच्च राष्ट्रीय सम्मान दिया। वह मरकर अमर बन गया।

#### □ कौन करेगा साधना के छिद्रों को बंद ?

बंधुओं! वह छिद्र सारे ग्राम को लील सकता था, सर्वनाशी बन सकता था। उसे तो एक बालक ने शहीद होकर बंद कर दिया, बचा लिया सभी ग्रामवासियों को सर्वनाश से पर आज के साधकों की साधना में निरन्तर बढ़ रहे छिद्रों को कौन बंद करेगा ? कौन आगे आकर अपने आपको शहीद करेगा ? कौन बनेगा क्रांतिकारी धर्मवीर लोंकाशाह या फिर धर्म-प्राण आचार्य श्री धर्मदास जी महाराज !

#### □ धर्मवीर क्रांतिकारी लोंकाशाह

यही लोंकाशाह के साथ भी हुआ। आपका जन्म सिरोही जिले के अरहठवाड़ा में हुआ। जन्म संवत् के बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। कुछ वि. सं. १४७२ बताते हैं और कुछ वि. सं. १४८२, पर कार्तिक पूर्णिमा की तिथि पर सभी सहमत हैं। पिता हेमाशाह थे और माता थी केसरबाई। आपमें विद्याध्ययन काल से ही तीन गुण विशिष्ट रूप से विद्यमान थे—(१) तीव्र स्मरण-शक्ति, (२) अद्भुत विवेचन-शक्ति, और (३) सुन्दर मुक्ताक्षर। शादी के पश्चात् पत्नी सुदर्शना से एक पुत्र हुआ पूर्णचन्द्र।

सिरोही राज्य में अकाल पड़ने एवं वहाँ की राज्य-व्यवस्था बिगड़ जाने पर आप अहमदाबाद आ गए और मुहम्मदशाह के दरबार में अपनी योग्यता से दरबारी जौहरी बन गए। वर्षों तक शारी दरबार में जवाहरात की खरीदी-बिक्री का कार्य करते रहे। उनकी तीक्ष्ण परीक्षण शैली एवं प्रामाणिकता की पूरे गुजरात में गहरी पैठ थी। वे शाही विश्वस्त सलाहकार थे। राज्य के लिए पुत्र द्वारा पिता की हत्या कोई नई बात नहीं थी।

जब मुहम्मदशाह के ही पुत्र कुतुबशाह ने अपने पिता की हत्या कर दी तो लोंकाशाह संसार के प्रति उदासीन बन गए। अहमदाबाद आपने छोड़ दिया और पाटण चले गये। जबकि कुतुबशाह ने उन्हें पद पर बने रहने के लिये अनुरोध भी किया, किन्तु उनका मन नहीं माना।

पाटण में उनका अधिकांश समय यात्रियों और साधुओं के सान्निध्य में व्यतीत होने लगा। आपकी जिज्ञासा देख यति सुमतिविजय जी ने आपको धर्म एवं सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक जानकारियाँ दीं। मोती के समान सुन्दर, मन-मुग्धकारी लिखावट से आकर्षित हो यति ज्ञानसुन्दर जी ने आपको दशवैकालिकसूत्र की प्रतिलिपी करने का कार्य सौंपा। वे प्रतिलिपि करने लगे। जैसे-जैसे उन्होंने सूत्र को पढ़ा, उन्हें लगा कि वीर प्रभु की आज्ञा कुछ और है जबकि प्रचलित यति व श्रमण-जीवन कुछ और ही है। उन्होंने दशवैकालिक की दो प्रतियाँ कर एक यति जी को दे दी, एक अपने पास सुरक्षित रख ली।

यति जी ने उन्हें और भी अनेक सूत्र दिये। आपने सभी की एक-एक अतिरिक्त प्रति प्रतिलिपि कर अपने पास रख ली। चिन्तन-मनन करने पर लगा उन्हें कि आज जैनधर्म के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उसमें आडम्बर, प्रदर्शन, ढोंग, पाखण्ड आदि ने घर कर लिया है। बंधुओं! स्थिति आज भी वैसी ही बनती जा रही है पर सभी देखकर भी जीवित मक्खी निगल रहे हैं। लोंकाशाह ऐसे नहीं थे। धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन होते देख उन्होंने उसका विरोध करके क्रांति का शंखनाद फूँक दिया।

लोंकाशाह के शास्त्रसम्मत जिनधर्म के प्रचार-प्रसार का लोगों पर यथोचित प्रभाव पड़ा। यतियों में खलबली मच गई। उनके समर्थक बढ़ते गए। पाटण संघ के बड़े नेता तथा सिरोही सूरत के संघाधिपतियों ने भी आपसे सत्यधर्म को समझकर स्वीकार कर लिया। अब तो सम्पूर्ण जैन समाज में खलबली मच गई। लोंकाशाह तब स्वयं अनेक करोड़पति जौहरी साधियों के साथ साधु बनकर विचरण करने लगे। आपकी मान्यतानुसार चलने वाले संत-सती-श्रावक-श्राविका अपने आप को लोंकागच्छ के बताने लगे। इनके जीवनकाल में लोंकागच्छ में चार सौ से अधिक संत-सती व लाखों की संख्या में श्रावक-श्राविका हो गए थे।

शिथिलाचारी भला कब तक सहन करते! जगह-जगह लोंकागच्छ के विरुद्ध वे अनर्गल प्रलाप करने लगे। गच्छ के श्रमणों को ऐसे अनेक स्थानों पर गोचरी भी नहीं

मिल पाती थी। जब दिल्ली के अनेक श्रीपूज्यों को भी आपने सत्यधर्म में दीक्षित कर लिया तब तो यतिवर्ग ईर्ष्या से जल ही उठा। यतियों ने अवसर पाकर अलवर में तेले के पारणे में इस धर्मवीर को गोचरी में विषाक्त भोजन बहरा दिया जिसे खाने से वह क्रांतिकारी शहीद बन गए।

### □ आचार्य श्री धर्मदास जी म. सा.

क्रियोद्धारक आचार्य श्री धर्मदास जी म. सा. शिष्य के स्थान पर स्वयं संधारे में लेट गए थे।

कौन थे ये धर्मदास जी महाराज ? किया क्या उन्होंने ऐसा कि धर्म के लिए शहीद माने गए ? आप महान् क्रियोद्धारक संत थे। अहमदाबाद के पास सरखेज ग्राम में जीवनभाई 'भावसार' पटेल के यहाँ माता हीराबाई की कुक्षि से वि. सं. १७०१ की चैत्र शुक्ला एकादशी को आपका जन्म हुआ। आस-पड़ौस के वातावरण का प्रभाव और स्व-रुचि के कारण जैनधर्म में बचपन से ही श्रद्धा हो गई। यतियों से दीक्षा धारण की परन्तु जैनदर्शन व धर्मशास्त्र पढ़े तो यतियों के आचार के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उठाए आपने। यति आपके तर्कों से चौंक गए और सावधान रहने लगे।

युवा होने पर अनेक जैन ऋषियों, संतों का सान्निध्य प्राप्त किया पर मान्यताओं में मतभेद रहने के कारण साचोर के धनाढ्य सेठ बाधजी मूथा के पुत्र युवक धनराज एवं एक अन्य युवा मुमुक्षु के साथ शुद्ध संयम धारण किया एवं क्रियोद्धार किया।

इक्कीस वर्ष की आयु में उज्जैन संघ ने आपको आचार्य-पद प्रदान किया। आपके निन्यानवे शिष्य हुए।

एक बार 'धार' में आपके एक शिष्य ने आमरण अनशनरूप संधारा ग्रहण किया पर कुछ ही समय बीता होगा कि शिष्य का मनोबल कमजोर हो गया, वह अपना संधारा तोड़ने के लिए तत्पर हो गया। आचार्य श्री धर्मदास जी म. सा. ने जब यह सुना तो तुरंत संदेश कहलवाया कि मेरे आने तक अपने संकल्प में दृढ़ रहना।

उग्र विहार कर आचार्य श्री धर्मदास जी म. सा. धार पधारे। रास्ते में दाल बाटी का गर्मा गर्म आहार मिला जिसका उपभोग कर लिया किन्तु कहीं पर उन्हें प्रासुक पानी नहीं मिला। विहारचर्या में निरन्तर वे आगे की ओर बढ़ गये। तृषा तीक्ष्ण हो चली पर प्रासुक जल की

याचना करें इतना समय किसे था ? आपको तो जैसे भी हो शीघ्र धार पहुँचना था चाहे प्यासे ही क्यों न पहुँचें ? वे त्वरित गति से धार पहुँच गये ।

वहाँ संथारे में लेटे शिष्य को भाँति-भाँति से समझाया । जब वह नहीं माना तो उसे उसके आशन से उठाकर आप स्वयं वहाँ लेट गए और संथारा धारण कर लिया । यह था, छिद्र को बंद करने हेतु एक बलिदान ।

#### □ नमन इन्हें गुणग्रहण की भावना के साथ

ऐसे ही अनेक महापुरुषों ने शिथिलाचार मिटाकर, धर्म में नवजागरण पैदा कर अपने साथ ही जन-जन के आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया ।

हमारा वन्दन, नमन, अभिनन्दन उन सभी के लिए क्योंकि यह नमन ही उनकी स्मृति लाता है । उनकी स्मृति से उनके आदर्श नमन करने वाले व्यक्ति के दिल और दिमाग में कौंधने लगते हैं । तब अन्तर् में लहराती गंगा की विचारधारा बहती हुई एक अमृत सन्देश दे जाती है—‘साधक ! सजग बन, तुझे भी वैसा ही आदर्श उपस्थित करना है, यही तेरे आत्म-कल्याण का अमर-पथ है ।’

आइए, आप और हम, सभी मिलकर उन महामानवों को भावपूर्वक वन्दन-नमन करते हुए उनके जीवन से कुछ न कुछ ग्रहण करें, जिससे इस जीवन को परमानंद के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके ।

आनंद ही आनंद !





## कर्मरिपु-सम्यक् तप

आत्म-बंधुओं!

स्याद्वाद सिद्धान्त के श्रेष्ठतम द्रष्टा/व्याख्याता जन-जन के मन में धर्म के सर्जक, राग-द्वेष विनाशक प्रभु अरिहंत ने हम सभी के लिए भवसागर से पार उतरने का पथ, अपनी पतित-पावनी वाणी में दर्शाया है। मार्ग एक नहीं अनेक हैं, आपका विकल्प उनमें से कोई भी मार्ग बन सकता है। उन अनेक मार्गों में से एक मार्ग है—गुणग्राहकता। गुणग्राही बनकर गुणियों के गुण ग्रहण करने से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। गुणराशि से जिस गुण को आप ग्रहण करें, उसे स्वयं अपने भीतर में प्रकट करें, अन्तर् तक उतारें। कौन कर सकता है यह कार्य? वही, जिसमें विनय की भावना हो।

### □ मोटा-तपसी-घोर

‘विनय’ शब्द में ‘वि’ विशिष्टता का सूचक है और ‘नय’ धातु का अर्थ है लाना। अर्थात् जो गुणियों में गुण हैं उन गुणों को विशेष रूप से अपने भीतर तक ले आना। इसी विनय की प्राप्ति के लिए करते हैं हम नमन और वन्दन। एकभवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने ‘बड़ी साधु वन्दना’ की प्रारम्भिक कड़ियों में तीर्थकर एवं विहरमान अर्हत भगवन्तों को वन्दन-नमन किया है, जिनका विस्तार आप पूर्व में सुन चुके हैं। जघन्य २० एवं उत्कृष्ट १६० तथा १७० तीर्थकरों की गणना के पश्चात् जघन्य एवं उत्कृष्ट ‘केवली’ अर्थात् केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त सर्वज्ञों एवं मुनि-निर्ग्रथ भगवन्तों की जघन्य व उत्कृष्ट संख्या बताकर साधक-कवि ने महाविदेह में विचरण करते हुए घोर तपस्वी साधकों को भाववन्दन कर गणधरों की स्तुति की है।

केवली दोय कोड़ी, उत्कृष्टे नव क्रोड।

मुनि दोय सहस्र कोड़ी, उत्कृष्टे नव सहस्र क्रोड ॥ ५ ॥

विचरे छै विदेहे, मोटा तपसी घोर।  
भावे करि वंदू, टाले भव नी खोड़ ॥६॥

#### □ जघन्य एवं उत्कृष्ट, केवली व मुनि

किसी भी समय कम से कम दो करोड़ केवली भगवन्तों की तथा दो हजार करोड़ साधुओं की विद्यमानता तो बनी ही रहती है।

अधिक से अधिक यह संख्या ९ करोड़ केवली एवं ९ हजार करोड़ साधु तक एक समय में पहुँच सकती है।

वर्तमानकाल में महाविदेह जैसे अनन्त-अनन्त पुण्यवान क्षेत्र में धर्मतीर्थ रूप तीर्थकर, केवली, साधु-साध्वी आदि जो भी विराजमान हैं और जो निर्दोष संयम का पालन करते हुए सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय की सम्यक् आराधना कर रहे हैं, ऐसे सभी महान् तपःपूतों की पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयमल जी म. सा. ने भावपूर्वक वन्दना की है। वे कहते हैं कि ये सभी 'मोटा तपसी घोर' अर्थात् बहुत बड़े तपस्वी हैं।

#### □ तप माहात्म्य

जैनधर्म में तपस्या का बड़ा महत्त्व है और इसे कर्म-निर्झरण का कारण माना गया है। फलस्वरूप तपश्चरण को निर्जरा भी कहते हैं। आत्मा जब तक जन्म-मरण करता है, उसके साथ बाह्य एवं आभ्यंतर साधन सदा रहते हैं। बाह्य साधन के रूप में शरीर तथा आन्तरिक साधन के रूप में मन को लिया जा सकता है।

तप शरीर को भी स्वस्थ, संतुलित रखता है और मन को भी नियन्त्रित। अतः तप चाहे अनशन आदि शरीर-सम्बन्धी हो या स्वाध्याय आदि मन-सम्बन्धी दोनों से ही आत्मा निर्मल, उज्वल, विशुद्ध बनती है। आत्म-तेज तप से उद्दीप्त होता है। मैंने आपको पूर्व में यह बताया था कि निर्ग्रन्थ की श्रेष्ठता तप के कारण है, क्योंकि उसकी समस्त साधना, सारी धर्मक्रियाएँ आत्म-लक्षित होती हैं।

सत्कर्मों में प्रवृत्ति और असत्कर्मों का नाश करने के लिए तप एक अमोघ अस्त्र है। तप से शरीर-शुद्धि होती है। शरीर शुद्ध और स्वस्थ है तो मन भी स्वस्थ एवं नियन्त्रित रहेगा। मन शुद्ध होगा, नियन्त्रित होगा तो आत्मा की अनन्त शक्तियों का उद्घाटन होगा,

आत्मा पर लगी कर्मरज दूर होगी। आत्मार्थी मुनि तप पर विशेष बल देते हैं। महाविदेह जैसे महापुण्यवान क्षेत्र में तो उन निर्ग्रन्थ मुनिराजों की तपस्या का कहना ही क्या ?

#### □ तप-स्वरूप

किसे कहते हैं तप ? तप शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'तप्' धातु से हुई है। 'तप्' धातु का अर्थ है तपना या प्रकाशित करना। अतः तप के भी दो कार्य हैं—आत्मा को तपाकर उज्ज्वल बनाना। जैसे अग्नि में तपकर स्वर्ण शुद्ध बनता है। दूसरा कार्य है—प्रकाश देना। तप शरीर में ऊर्जा पैदा करता है। सम्यग्ज्ञान द्वारा इस ऊर्जा को प्रकाश में बदलकर निवृत्ति-पथ को प्रकाशित किया जाता है।

स्थानांगसूत्र की टीका में सूत्र के पाँचवें स्थान में आया है—“रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जा-शुक्राण्यनेन तप्यन्ति, कर्माणिवाशुभानि इत्यतस्तपोनाम निरुक्तम्।”

इसका अर्थ यह है कि शरीर का रक्त, माँस, चर्बी, हड्डियाँ, मज्जा, वीर्य आदि जिसके द्वारा तपें, तप्त हों अथवा जो अशुभ कर्मों को तपाकर नष्ट कर दे, वह तप है।

यही परिभाषा आवश्यक टीका में भी दी गई है—“तापयत्यनेक भवोपात्तमष्टविध कर्मेति तपः।”—अनेक भवों के संचित आठ प्रकार के कर्मों को तपाकर, जलाकर भस्म करे उसे कहते हैं तप।

यहाँ एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि जब आत्मा को तपाकर उसे उज्ज्वल बनाना है तो इस शरीर को अनशनादि तपों द्वारा कष्ट में क्यों डाला जाता है? डायरेक्ट (Direct) आत्मा को ही क्यों नहीं तपाया जाता ? समाधान यह है कि जैसे चाहे स्वर्ण को तपाकर शुद्ध बनाना हो या मक्खन को तपाकर घी निकालना हो, डायरेक्ट तो किसी को भी नहीं तपाया जा सकता। इन्हें तपाने के लिए अग्नि और तपायी जाने वाली वस्तु के मध्य किसी बर्तन की आवश्यकता तो रहती ही है, ठीक इसी भाँति आत्मारूपी स्वर्ण या मक्खन को तपाकर शुद्ध बनाने के लिए भी शरीररूपी बर्तन को तो तपना या तपाना ही पड़ेगा। बिना बर्तन (शरीर) को तपाए मेटेरियल (आत्मा) तप नहीं सकता।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने तप को परिभाषित करते हुए लिखा है—

**कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः।**

अर्थात् कर्मक्षय के लिए जो (सम्यग्दर्शनपूर्वक) तपा जाता है अर्थात् शरीर, इन्द्रियों, मन आदि को तपाया जाता है, उसे तप कहते हैं।

टीकाकार ने अर्थ देते समय सम्यग्दर्शनपूर्वक तप की बात कही है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है तप की भावना से तप करना, आत्म-विकास के लिए तप करना, तप को तप समझकर तप करना। सम्यक्त्व के बिना किया हुआ असम्यक् तप आध्यात्मिक-साधना की दृष्टि से निरर्थक है। वह भले ही पुण्यार्जन कर दे पर सकामनिर्जरा का कारण नहीं बन सकता और सकामनिर्जरा के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है।

#### □ तप अन्तर्भावों में उद्भूत होना चाहिए

किसी का मन उपवास करने का नहीं, पर उसे इतना समझाया गया कि उसने उपवास कर लिया। अब वह सूर्योदय का इन्तजार करेगा, एक-एक पल बेचैनी से बितायेगा, कब उपवास समाप्त हो और कब भोजन करूँ—जैसा विचार उसके मन में आयेगा। सोचेगा—‘मैं कहाँ फँस गया, इस उपवास के चक्कर में।’ भजन की जगह वह भोजन में ध्यान लगायेगा। क्या काम का इस तरह का उपवास जहाँ आन्तरिक इच्छा का अभाव हो।

आज आप लोग उपवास तो करते हैं पर उपवास से पूर्व चकाचक माल ‘धारणा’ के नाम पर हजम कर जाते हैं और उपवास के पश्चात् ‘पारणा’ के नाम पर। उपवास की आध्यात्मिक विचारणा में ये विघ्न हैं। तप विवेकयुक्त ही होना चाहिए। जैसा कि आपको बताया गया, तप आत्म-शुद्धि के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। आगम का उद्घोष है—“तवेण परिसुज्झइ।” अर्थात् तप से आत्म-शुद्धि होती है।

#### □ इच्छाओं का निरोध तप है

तप की एक अन्य आगमिक परिभाषा है—“इच्छा निरोहो तवो।” वासना, कामना, इच्छा के निरोध को तप कहते हैं। मानव वासना का दास है, उसकी इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, अपार हैं। उसे हजार मिलेंगे, वह लाख-करोड़-अरब-खरब की इच्छाएँ करता हुआ लोभ करता ही जायेगा। जो इन इच्छाओं पर अंकुश करे, वह सबसे बड़ा तपस्वी है। गहरी से गहरी, मलिन से मलिन चित्तवृत्ति की शुद्धि के लिए आन्तरिक व बाह्य क्रियाओं का अनुष्ठान भी तप है।

### □ तप से कषाय शमन

तप वह क्रिया है जिससे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों की प्रवृत्तियों का शमन किया जाये, उपशमन किया जाये। सच्चा तप वही है, जिसमें इन्द्रियाँ व मन, वचन, काया के योगों को नियन्त्रण में लिया जाये। कौन-सा तप वस्तुतः सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ाता है, इसके लिए ज्ञानीजन लिखते हैं—

निर्दोषं निर्विदानाढ्यं, तन्निर्जरा प्रयोजनम्।  
चित्तोत्साहेन सद्बुद्ध्या, तपनीयं तपः शुभम्॥

चार विशेषताओं से तपःसिद्धि बताई है इस पद में—(१) तप निर्दोष हो, (२) वह कामनाओं से रहित हो, (३) वह केवल कर्म तोड़ने के भावों से किया जाये, और (४) उसमें सद्बुद्धि व मनोत्साह हो।

### □ विकारों-कुसंस्कारों को दूर करने की प्रक्रिया है तप

अनेक विकारों और कुसंस्कारों का घर बन गया है आज का मानव। तप शारीरिक व मानसिक विकारों को दूर करने की प्रक्रिया है। कुसंस्कारों को मिटाने का अचूक उपाय है। शायद यह सब सुनकर आप कहें कि “महाराज! क्यों इतना सब विस्तार? तप आखिर तप है। तीन या चार आहारों का त्याग किया, बस हो गया तप।” पर यह उचित नहीं है। तप का लक्ष्य यदि शरीर को कष्ट देना ही बनायेंगे तो वह ताप-संताप बन जायेगा। दशवैकालिक में स्पष्ट कहा है—“परिक्कमिज्ज तव संजमम्मि।” अर्थात् संयम व तप में पराक्रम करो जिससे विकारों को जीता जा सके।

आज के भौतिकवादी मनुष्यों में तप से दूर रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। लीक पीटने के लिए ही एक संवत्सरी का उपवास करेंगे और उसका भी समय गप्पों में, टी. वी. में, ताश में बितायेंगे। बंधुओं! यह तप का दुरुपयोग है, यह तो तप के मूल्य को घटाना है। वर्ष के शेष साढ़े तीन सौ से अधिक दिन केवल शरीर का पोषण करेंगे, उसे सजायेंगे, उसके लिए ही प्रवृत्ति करेंगे। यह शरीर-पोषण ही तो आत्म-शोषण है। जितना अधिक शरीर पर आपका ध्यान रहेगा, आत्मा को उतने ही अधिक परिमाण में हानि होगी। अनन्त-अनन्तकाल से यह हानि हो रही है, आत्मा मलिन बनती जा रही है। सम्यक् तप ही उसे शुद्ध, निर्मल, पवित्र बना सकता है।

सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्णं वह्निना यथा।  
तपोग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुद्ध्यति ॥

□ करोड़ों भवों के संचित कर्म नष्ट करता है तप

प्रभु महावीर ने अपने पिछले नन्दन-भूपति के भव में ग्यारह लाख साठ हजार बार मासक्षमण की तपस्याएँ की थीं। कारण ? कारण था उन निविड़ कर्मबंधनों को तोड़ना, जो उन्होंने पूर्व में बाँध रखे थे। उत्तराध्ययनसूत्र के ३०वें अध्ययन की पाँचवीं व छठी गाथा कहती है—

जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।  
उस्सिंचणाए तवणाए, कम्मेणं सोसणा भवे ॥  
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।  
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई ॥

महातालाब में पानी आने के रास्तों को रोककर अत्यंत तीव्र गर्मी से जैसे उसे सुखा दिया जाता है, इसी प्रकार आस्रव अर्थात् पापकर्म आने के रास्तों को संवर द्वारा बन्द कर करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा निर्जरित किया जा सकता है।

□ केवल अनशन ही तप नहीं है

बंधुओं! केवल उपवास, बेला, अठई आदि अनशन ही तप हों, यह बात नहीं है। जयगच्छीय पूज्य आचार्य श्री आसकरण जी महाराज ने अपनी छोटी साधु वन्दना में कहा है—

एक-एक मुनिवर रसना त्यागी,  
एक-एक ज्ञान-भण्डार रे प्राणी।  
एक-एक मुनि वैयावचिया वैरागी,  
ज्यारां गुणां रो नहीं पार रे प्राणी ॥  
साधु जी ने वन्दना नित-नित कीजे।  
प्रातः उगन्ते सूर रे प्राणी ॥

कोई मुनि रस-परित्याग करके कर्मनिर्जरा कर रहे हैं, तो कोई ज्ञानाराधना (स्वाध्याय) द्वारा। किसी ने वैयावृत्य (सेवाधर्म) को तप के रूप में स्वीकार किया है, तो कोई विरक्ति की भावना में रमण कर तपाराधन कर रहा है। बारह प्रकार के तप हैं, सभी का अपना-अपना महत्त्व है, कोई भी न कम है और न ही कोई ज्यादा। ध्यान केवल एक बात का रखना है—‘बारह भेदे तावे तप’ में से कोई भी तपस्या करे पर अन्तर् के भावों की उसमें पूर्ण सजगता, सहायता और निर्मलता हो। ऐसा तप ही पूर्व संचित पापों को नष्ट करता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

**तवसा धुणई पुराण पावगं।**

उत्तराध्ययन में यही बात दूसरे ढंग से कही गई है—

**तवेगं वोदाणं जणयइ।**

अर्थात् तप से पुराने पाप नष्ट होते हैं।

#### □ तप सहज नहीं, पर आवश्यक

तप, तन और मन को स्वस्थ बनाता है तथा स्वस्थ मन एवं तन द्वारा किया गया विवेकपूर्ण कार्य तपमय ही होता है। यद्यपि तप करना सहज नहीं है क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र में प्रभु महावीर ने कहा है—

**असिधारा गमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो।**

अर्थात् तपाचरण तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर है। इस पर भी प्रभु ने आत्म-समाधि, शाश्वत-सुख एवं हृदय की शान्ति के लिए तप करने की प्रेरणा दी है।

“समाहि कामे समणे तवस्सी।” अर्थात् आत्मार्थी श्रमण को राग-द्वेष क्षय करने हेतु एवं आत्म-समाधि हेतु तपस्वी बनना चाहिए।

आचारांगसूत्र के आठवें अध्ययन में भी प्रभु का श्रमण व श्रमणोपासक साधकों के लिए यही सन्देश है—“मज्झत्थो निज्जरापेही, समाहिमणुपालए।”

अर्थात् मध्यस्थभाव रखता हुआ तथा निर्जरा (तपों) की आराधना करता हुआ साधक अपने समाधिभावों की सम्यक् परिपालना करे।

### □ तप को विकृतियों से मुक्त बनाएँ

आज जो तपस्या का रूप-स्वरूप समाज में, आप लोगों के बीच प्रचलन में है, वह चिन्तनीय है। आज तपस्या का रूप कीर्तिलिप्सा में, लेन-देन के लोभ-लालच में, ऐश्वर्य के प्रदर्शन में विकृत-सा बन गया है। अनेक संत-सती तपस्याएँ कर उपाधि-विभूषित बनते जा रहे हैं, उनकी तपस्याओं का, तपस्या-पूर्ति समारोहों का व पारणे का खूब प्रचार-प्रसार ही नहीं, उनके उपलक्ष्य में उत्सव समारोह कर मेले-ठेले लगाए जा रहे हैं। आप श्रावक-श्राविकाएँ भी इसमें पीछे कहाँ हैं? बेंडबाजे, गीतों का आडम्बरी आयोजन, पारणों पर रिश्तेदारों को प्रीतिभोज, लेन-देन सभी कुछ तो करते हैं। कर्मनिर्जरा के हेतु जो शुद्ध-निर्मल-निष्काम तपस्या है, वह शायद कहीं-कहीं मिल जाये पर इतना निश्चित है कि स्थिति चिन्तनीय है। पर कौन चिन्ता करे, कौन सुधारे स्थिति को?

ध्यान रहे तप का यह रूप, सम्यक् तप की कोटि में शायद ही गिना जाये। कर्ममल तो केवल सम्यक् तप से ही दूर होंगे। कहा भी है—

मलं स्वर्णगतं वह्निः, हंसः क्षीरगतं जलम्।  
यथा पृथक् करोत्येवं, जन्तोः कर्ममलं तपः ॥

और भी—

प्रलीयन्ते न कर्माणि, तपः कर्म विना ननुः।  
सकर्मा शिव शर्माणि, शाश्वतानि लभेत न ॥

स्वर्ण का मैल अग्नि से दूर होता है, दूध में मिले पानी को हंस अलग कर देता है, वैसे ही तप द्वारा कर्ममल को आत्मा से अलग किया जा सकता है। यह तप मोक्ष-प्राप्ति अर्थात् कर्म-विनाश का प्रधान कारण माना गया है। तप किये बिना कर्म नष्ट नहीं होते, कर्मों के रहते मोक्ष नहीं मिलता। यहाँ जिस तप का मैंने उल्लेख किया है, ध्यान रहे, वह सम्यक् तप के तात्पर्य को अपने में समेटे हुए है।

### □ तप के बारह भेद

तप के १२ भेद होते हैं। प्रतिक्रमण में आप मुनिराज को जब पाँच पदों की भाव-वन्दना करते हैं तो कहते हैं—‘१२ भेदे तपस्या करें।’ कौन-से हैं ये १२ भेद, पच्चीस बोल में भी



आता है। बोल चौदहवाँ, छोटी नवतत्त्व के ११५ भेद। नवतत्त्व हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष। जीव के १४, अजीव के १४, पुण्य के ९, पाप के १८, आस्रव-संवर के २०-२०, निर्जरा के १२, बंध के ४ तथा मोक्ष के ४। इनमें निर्जरा के जो १२ भेद हैं, वही तप के प्रकार हैं।

सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा ।  
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो ॥

उपर्युक्त बारह प्रकार का जो तप बताया गया है उनमें छह तो बाह्य तप हैं और छह आभ्यंतर तप।

**बाह्य तप**—बाह्य जो भौतिक पदार्थ हैं, उनके त्याग से मन, शरीर और इन्द्रियों पर असर होता है। ऐसा त्याग ही बाह्य तप है। यह छह प्रकार का है—

अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रस-परिच्चओ ।  
काय-क्लेशो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥

इनके नाम हैं—(१) अनशन, (२) ऊणोदरी, (३) भिक्षाचरी, (४) रस-परित्याग, (५) काया-क्लेश, और (६) प्रतिसंलीनता।

### (१) अनशन

अर्थात् आहार का त्याग। असन, पान, खादिम, स्वादिम आदि का शमन व उपशमन की वृत्ति अनशन का ही रूप है। इसके दो भेद कहे गये हैं—

इत्तरिय मरण काले य, दुविहा अणसणा भवे ।  
इत्तरिय सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥

एक तो अल्पकालिक अनशन होता है और दूसरा मरणकालिक। अल्पकालिक अनशन तप सावकांक्ष होता है अर्थात् इसमें नियतकाल (यथा—नवकारसी, पोरसी, उपवास, बेला, मासक्षमण आदि) के बाद आहार पुनः ग्रहण कर लिया जाता है। पंचम आरे में आगमानुसार यह सावधिक अनशन अधिकतम छह मास तक का चउविहार तप होता है।

मरणकालिक नामक दूसरे प्रकार के अनशन तप में जीवन-पर्यन्त तीन अथवा चारों आहारों का पूर्णरूपेण त्याग कर दिया जाता है। इसे 'संधारा' भी कहा जाता है।

यह मरणकालिक अनशन अर्थात् संथारा दो प्रकार का होता है—

**अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया।  
नीहारि-अनिहारी वा, आहारच्छेओ य दोसु वि॥**

इसका प्रथम प्रकार है—सपरिकर्म संथारा। इसे भक्तप्रत्याख्यान संथारा भी कहते हैं। इसमें आहार त्याग होता है और निरन्तर स्वाध्याय, ध्यान, मनन, आत्म-चिन्तन भी। शरीर की उत्थान आदि क्रिया इसमें की जाती है, शरीर की सँभाल ली जाती है।

दूसरा संथारा है—अपरिकर्म। इसे पादोपगमन संथारा भी कहते हैं। इसमें देह को चेष्टारहित बना दिया जाता है। एक ही स्थान पर जिस मुद्रा में स्थित है, उसी में यावत्मरण स्थित रहना होता है। पलकें खुली हैं तो खुली ही रहेंगी, झपकेंगी नहीं।

अपरिकर्म या पादोपगमन संथारा केवल वज्रऋषभनाराच संहनन के धनी ही कर सकते हैं। चौदह पूर्वों के विच्छेद के साथ ही इसका भी विच्छेद हो जाता है। अंतगडदसांगसूत्र में जिन नब्बे पावन मुक्तिगामी आत्माओं का वर्णन है, वे सभी आत्माएँ पादोपगमन संथारा करके ही सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बनीं।

## (२) ऊणोदरी

भोजनादि के परिमाण को तथा क्रोधादि कषायों को कम करना ऊणोदरी तप है। ऊणोदरी तप के दो भेद हैं—(१) द्रव्य ऊणोदरी, (२) भाव ऊणोदरी।

(१) द्रव्य ऊणोदरी—आहार-पानी, भंडोपकरणों का आगमोल्लेखित जो परिमाण बताया गया है, उस परिमाण में कमी करना, सरस भोजन-पान का त्याग करना द्रव्य ऊणोदरी है। द्रव्य ऊणोदरी के दो भेद हैं—(अ) उपकरण द्रव्य ऊणोदरी, (ब) भक्त-पान द्रव्य ऊणोदरी।

(अ) उपकरण द्रव्य ऊणोदरी के तीन भेद हैं—(१) एक वस्त्र, (२) एक पात्र, और (३) जीर्ण उपधि।

(ब) भक्त-पान द्रव्य ऊणोदरी के पाँच भेद हैं—(१) आठ कँवल प्रमाण आहार करना पौन ऊणोदरी है, (२) बारह कँवल प्रमाण आहार करना उपाद्ध ऊणोदरी है, (३) सोलह कँवल प्रमाण आहार करना अद्ध ऊणोदरी है, (४) चौबीस कँवल प्रमाण

आहार करना पाव ऊणोदरी है, (५) इकतीस कँवल प्रमाण आहार करना किञ्चित् ऊणोदरी है।

पूरे बत्तीस कँवल आहार पुरुष का प्रमाणोपेत आहार कहलाता है। स्त्री का प्रमाणोपेत आहार २८ कँवल तथा नपुंसक का प्रमाणोपेत आहार २४ कँवल का बताया गया है।

द्रव्य एवं भाव ऊणोदरी पर पाँच-पाँच प्रकार से विचार किया जाता है।

द्रव्य ऊणोदरी के पाँच प्रकार—

ओमोयरियं पंचहा, समासेण वियाहियं।

दव्वओ खेत्त-कालेणं, भावेण पज्जवेहि य ॥

(१) द्रव्य ऊणोदरी, (२) क्षेत्र ऊणोदरी, (३) काल ऊणोदरी, (४) भाव ऊणोदरी, और (५) पर्याय ऊणोदरी।

१. जो जस्स उ आहारो, तत्तो ओमं तु जो करे।  
जहन्नेणेगसिस्थाई, एवं दव्वेण उ भवे ॥
२. गामे नगरे तह रायहाणि, निगमे य आगरे पल्ली।  
खेडे, कब्बड-दोणमुह, पट्टण-मडम्ब-संवाहे ॥
३. दिवसस्स पोरुसीणं, चउण्हंपि उ जत्तिओ भवे कालो।  
एवं चरमाणो खलु, कालोमाणं मुणेयव्वो ॥
४. इत्थी वा पुरिसो वा, अलंकिओ वा नलंकिओ वावि।  
अन्नयरवयत्थो वा, अन्नयरेणं व वत्थेणं ॥  
अन्नेणविसेसेणं वण्णेणं, भावमणुमुयन्ते उ।  
एवं चरमाणो खलु, भावोमाणं मुणेयव्वं ॥
५. दव्वे खेत्ते काले भावम्मि, य आहिया उ जे भावा।  
एएहिं ओमचरओ, पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

ये वे गाथाएँ हैं, जिनमें ऊणोदरी के पहले बताए हुए पाँच भेदों को समझाया गया है।

(१) जिसके जितने आहार की मात्रा खपत होती है, अपनी उस भूख से एक ग्रास, दो ग्रास यावत् जितना साधक कर सके कम करें। यह द्रव्य ऊणोदरी तप है।

(२) ग्राम, नगर, राजधानी आदि अनेक आकार-प्रकार के जो क्षेत्र हैं, उनमें मर्यादा करे कि अमुक क्षेत्र, अमुक मोहल्ले, अमुक गली आदि से ही भिक्षा या आहार लूँगा। श्रावक के लिए एक चूल्हे पर निर्मित, अपने घर में निर्मित आहार लूँगा अथवा अमुक-अमुक के यहाँ छोड़कर अन्यत्र आहार नहीं लूँगा। यह क्षेत्र ऊणोदरी तप है।

(३) एक मुहूर्त समय तक या एक प्रहर तक यावत् चार प्रहर के काल तक अभिग्रह कर, नियत समय में ही आहार करना अर्थात् अमुक-अमुक कालावधि में आहारादि का त्याग करना काल ऊणोदरी तप है।

(४) स्त्री हो तो आहार लूँगा, पुरुष हो तो आहार लूँगा, अलंकृत हो तो आहार लूँगा, अलंकाररहित हो तो आहार लूँगा, इसी प्रकार अन्य तरह से भी कि अमुक प्रकार से मिले तो आहार करूँगा, यह भाव ऊणोदरी तप है।

(५) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का समुच्चय विचार से अवमौदर्य तप करना द्रव्य पर्याय ऊणोदरी तप है।

(२) भाव ऊणोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ को कम करना, कषायों को शांत करना भाव ऊणोदरी है। भाव ऊणोदरी के छह भेद हैं—(१) अल्प क्रोध, (२) अल्प मान, (३) अल्प माया, (४) अल्प लोभ, (५) अल्प शब्द, एवं (६) अल्प कलह।

**भाव ऊणोदरी पर भी पाँच प्रकार से विचार**

(१) क्रोध, मान, माया, लोभ कम करना द्रव्य से भाव ऊणोदरी है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा कषाय-चौकड़ी कम करना क्षेत्र से भाव ऊणोदरी है।

(३) काल की अपेक्षा कषाय-चतुष्क को कम करना काल से भाव ऊणोदरी है।

(४) भाव की अपेक्षा कषायों में कमी लाना भाव से भाव ऊणोदरी है।

(५) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—इन चारों के सामूहिक अपेक्षा से कषाय शमन करना पर्याय भाव ऊणोदरी है।

(३) भिक्षाचरी (वृत्ति-संक्षेप)

अट्टविहगोयरगं तु, तहा सत्तेव एसणा।

अभिग्गहा य जे अन्ने, भिक्खायरियमाहिया ॥

तीस प्रकार के अभिग्रह धारण करना, आठ प्रकार की गोचरी एवं सात प्रकार की एषणाओं द्वारा भिक्षा की अन्वेषणा कर भिक्षा ग्रहण करना भिक्षाचरी तप है।

आठ प्रकार की गोचरी में—मनोज्ञ अशन, पान, खादिम, स्वादिम और अमनोज्ञ अशन, पान, खादिम, स्वादिम आते हैं।

सात प्रकार की एषणाओं में—गवेषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा, द्रव्यैषणा, क्षेत्रैषणा, कालैषणा तथा भावैषणा को लिया गया है।

साधु की भिक्षाचरी के लिए दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की अन्तिम गाथा में कहा गया है—

**महुगार-समा बुद्धा, जे भवन्ति अणिस्सिया ।  
नाणा पिंडरया दंता, तेण वुच्चन्ति साहुणो ॥**

तात्पर्य यह है कि श्रामण्य-भिक्षाचरी भ्रमरवृत्ति वाली होती है। श्रमण भ्रमर की तरह किसी कुल, जाति या व्यक्ति के आश्रित हो आहार नहीं करते या लेते। दाता द्वारा दिये गये अल्प मात्रा में चाहे वह सरस हो या नीरस हो, किसी भी प्रकार के आहार को समभाव में ग्रहण कर संतुष्ट रहते हैं। मुनि जितेन्द्रिय होते हैं, अतः उन्हें साधु कहा जाता है।

बंधुओं! भिक्षा का एक अर्थ है माँगना, पर केवल माँगना तप नहीं कहलायेगा। अनाथ, अपंग आदि का दीनतापूर्वक माँगना, समर्थ होकर भी काम से जी चुराते हुए माँगना, पुरुषार्थ का नाश करने वाली इस तरह की भिक्षावृत्ति तप में कभी नहीं आती।

शास्त्र में कहा है—“अदीणो वित्तिमेसिज्जा।”—दीन भावरहित होकर भिक्षा की ऐषणा करो।

जो त्यागी, अहिंसक श्रमण-साधना की पूर्ति हेतु उदरनिर्वाहार्थ मधुकरी वृत्ति से उच्च-मध्यम-निम्न कुलों के गृहस्थों के घर में उनके अपने लिए सहजभाव से निर्मित निर्दोष-विधि से सम्मानपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं, वस्तुतः वही होता है—भिक्षाचरी तप।

(४) रस-परित्याग

**खीरदहिसप्पिमाई, पणीयं पाण-भोयणं ।  
परिवज्जणं रसाणं तु, भणियं रसविवज्जणं ॥**

दूध, दही, घी, तेल, मीठा इन पाँच विगयों एवं अन्य रसों को प्रणीत-पान भोजन कहा जाता है। इस प्रकार के विभिन्न रसों का त्याग कर स्वाद पर नियन्त्रण करने रूप जो तप है वह रसवर्जन या रस-परित्याग है। इसके लिए सर्प जैसे अपने बिल में घुसता है, उस प्रकार से आहार ग्रहण करने का उल्लेख आगमों में मिलता है।

रस भोजन में प्रीति पैदा करता है। रस से युक्त जितने भी भोजन के पदार्थ होते हैं, वे स्वादिष्ट, गरिष्ठ एवं पौष्टिक होते हैं अतः दुष्पाच्य होते हैं और उत्तेजना देते हैं अतः भोजन में रसास्वादन को साधना में विकृति माना गया है। ऐसे विकार पैदा करने वाले, संयम से भ्रष्ट करने वाले स्वादिष्ट आहार का त्याग संयम-पालन के लिए, व्रतादि निर्वहन के लिए अति आवश्यक है। 'एक-एक मुनिवर रसना त्यागी'—पहले उल्लेख किया था। घेवरिया मुनि ऐसे ही एक रसासक्त मुनि थे, जो रस-परित्याग तप द्वारा केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन गये।

घेवरिया मुनिवर संयम के वैसे तो उत्कृष्ट पालक थे पर उनकी एक कमजोरी थी—घेवर। उन्हें घेवर बहुत प्रिय थे। घेवर कहीं, किसी गृहस्थ के घर मिलने की संभावना का पता चलते ही वे वहाँ पहुँच जाते थे। बंधुओं! बयालीस दोष टालकर, एषणा समिति का पालन करके भी वे घेवर के लिए गोचरी हेतु चले जाते थे। उनकी घेवर के प्रति इस रसासक्ति के कारण लोगों ने उनका नाम 'घेवरिया' मुनि रख दिया। कालान्तर में लोग उनका वास्तविक नाम ही भूल गये और वे घेवरिया मुनि के नाम से ही पहचाने जाने लगे।

एक बार संघपति के घर में पुत्र-विवाह का उत्सव था। प्रातः के प्रीतिभोज हेतु एक दिन पूर्व घेवर तैयार हो गये थे। मुनि जी ने लोगों को बातें करते सुन लिया कि प्रातःकाल संघपति के घर जीमण-वार है, जिसमें घेवर-मिष्ठान्न परोसे जायेंगे।

मुनि जी रात्रि-शयन के लिए शय्या-आसन पर आ तो गये पर मन में रह-रहकर विचार आता कि प्रातः नवकारसी आते ही संघपति के घर भिक्षार्थ जाना है और गोचरी में घेवर लाना है।

पूर्णिमा की रात थी। पूर्ण चन्द्रमा की उज्ज्वल-धवल चाँदनी गगन से धरती-तल तक फैली हुई थी। कपिल ब्राह्मण की तरह ये मुनि जी भी अर्ध-रात्रि में चमककर उठ बैठे। चाँदनी ऐसी बिछी हुई थी, मानो प्रभातकालीन सूर्य की रोशनी बिखरी हुई हो। मुनि भ्रम में

रह गये कि 'प्रातःकाल हो गया। मैं लेट उठा। उन्होंने प्रतिक्रमण की विधि भी शीघ्रता में पूर्ण की। नवकारसी भी आ गई होगी। जीमण प्रारम्भ हो चुका होगा। घेवर कहीं सब समाप्त न हो जायें।'

उठाए भिक्षापात्र, डाले झोली में, ली झोली हाथ में और चल पड़े संघपति जी के घर। विवाह का मामला था, धूमधाम मची थी, रोशनी विद्युत् की सी चमचमा रही थी। अनेक लोग निद्रित थे पर अनेक जाग्रत भी थे। संघपति व्यवस्था में लगे थे, अतः निद्रा का तो प्रश्न ही नहीं था वहाँ। देखा मुनिवर को आते हुए, देखी हाथ में भिक्षापात्रों की झोली तो आश्चर्य में भर गये। अभी तो रात बाकी थी फिर ये मुनिवर इस तरह यहाँ..... ?

बंधुओं! आज ऐसी परिस्थिति बन जाये तो क्या हालत होगी, आप जानते हैं! मुँह पर ही निन्दा, अपशब्द, मरते हैं खाने के लिए, जगह-जगह उस मुनि की उस बात का प्रसार....., न जाने क्या-क्या हो जाये? पर वह युग था जब श्रावक संत-वर्ग के वस्तुतः 'अम्मापियरो' उपाधि को सार्थक बनाने वाले थे।

मुनि जी पहुँच गए संघपति के घर। संघपति घर के मुख्य द्वार तक आये। विधिवत् वंदन किया। ससम्मान भीतर ले गये। मुनि जी ने पात्र खोले, संघपति ने भावपूर्वक घेवर से पात्र भर दिये। मुनि जी ने झोली समेटी, उठाई, चलने लगे कि संघपति ने कहा—“मत्थएण वंदामि, नवकारसी कब आयेगी?”

वह समय था जब घड़ियों का प्रचलन नहीं हुआ था। लोग सूर्य, चन्द्र और विशेषकर रात्रि में तारों को देख समय का अनुमान लगाते थे। मुनि जी ने भी 'नवकारसी कब आयेगी?' प्रश्न का उत्तर देने के लिए मुँह आकाश की ओर कर दिया।

अरे! यह क्या? अभी तो भोर का तारा भी नहीं दिख रहा है, तीन तारों वाली किरणी भी इस ओर है। क्या अभी रात्रि ही है, प्रातःकाल भी नहीं हुआ? हाय! यह मैंने क्या कर दिया? मेरी रसना ने मेरे संयम को दाग लगा दिया। मेरी जिह्वा की लोलुपता और घेवर की आसक्ति ने मेरी साधना को भ्रष्ट कर दिया। न होती यह आसक्ति तो क्या होता? मुनि को तो किसी भी वस्तु से आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। यह आसक्ति ही तो डुबोती है, भव-भ्रमण बढ़ाती है। कहाँ मैं कर्म काटने चला था, संसार-घर-परिवार त्यागकर और कहाँ

एक रसनेन्द्रिय तक के विषय का त्याग भी न कर सका? पंचमहाव्रत पाले, पाँच इन्द्रिय जीते और मैंने.... ?

मुनि जी का मन पश्चात्ताप करने लगा। मन पूरी तरह पश्चात्ताप में ही डूब गया। संघपति-श्रावक जी से क्षमायाचना की, घेवर वहीं खाली किए, रिक्त पात्र ले स्थानक की ओर चले। पैर स्थानक की ओर गतिशील पर मन अपने को धिक्कारते हुए पश्चात्ताप की आग में जल रहा था। बड़ी भावना, चढ़े परिणाम, रस-परित्याग की उत्कृष्ट-रसायन वाली श्रेणी आ गई, केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त हो गया।

आहार-त्याग सरल है पर भोजन की थाली पर बैठकर कुछ कम खाना ज्यादा कठिन है और रस-परित्याग तो बहुत ही कठिन है। यह रसना है और रसना के विषय 'रस' पर नियन्त्रण मानव तो क्या ऋषि-मुनि, देवी-देवों के भी वश की बात नहीं है। धन्य है उन त्यागियों, विरागियों, व्रतधारियों को जो 'रस' का त्यागकर जीवन को रसयुक्त बनाते हैं।

#### (५) काया-क्लेश

शब्दों को यदि पकड़ेंगे तो अर्थ का अनर्थ संभाव्य है। काया को क्लेश देना अर्थात् कष्ट देना। जलती आग में हाथ डाल दिया, चलती ट्रेन के नीचे पाँव दे दिया.... नहीं, यह तप नहीं है। काया को कष्ट देना है पर ऐसा कष्ट कि जिससे अन्तर् की शुद्धि हो। शरीर पर ममत्वभाव है, आसक्ति है, रागभाव है—उसे हटाना और साधना के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो कष्ट शरीर को मिलें, उन्हें समभाव से सहन करना, यह है काया-क्लेश।

ठाणावीरासणाईया, जीवस्स उ सुहावहा।

उग्गा जहा धरिज्जन्ति, कायकिलेसं तमाहियं ॥

वीरासन जैसे कष्टप्रद आसन में बैठकर स्थिरता लाना, केशलुंचन आदि उग्र कष्टों को समभावपूर्वक धारण करना काया-क्लेश तप कहलाता है।

दशवैकालिकसूत्र के दूसरे अध्ययन की पाँचवीं गाथा में कहा है—

आयावयाहि चय सोगमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।

छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुहीहोहिसि संपराए ॥



तात्पर्य यह है कि साधक शीत और ताप की आतापना लेते हुए सुकुमारता का परित्याग करे, कामनाओं का निवारण करे, द्वेषभाव का छेदन करे, राग को दूर हटाए-ऐसा करने पर संसार के दुःख दूर होंगे और जीव सुखी बन जायेगा।

### (६) प्रतिसंलीनता

प्रति अर्थात् अन्दर, लीनता अर्थात् तल्लीन, मगन बनना। आत्मा का आत्मा में रमण ही प्रतिसंलीनता तप है। पर-भाव में लीन आत्मा को स्व-भाव में लाने एवं स्थिर बनाने की प्रक्रिया ही प्रतिसंलीनता है। पाँच इन्द्रियों, चार कषायों, तीन योगों आदि को बाहर से हटाकर, भौतिक साधनों के आकर्षण से मोड़कर भीतर में गुप्त करना प्रतिसंलीनता तप है।

इन्द्रिय प्रतिसंलीनता तप, कषाय प्रतिसंलीनता तप और योग प्रतिसंलीनता तप के अतिरिक्त विविक्त शय्यासन-प्रतिसंलीनता का वर्णन भी आगमों में मिलता है। इस वर्णन में सोलह प्रकार के स्थानक बताये गए हैं—वाटिका, बगीचा, उद्यान, यक्षालय (देवस्थान), प्याऊ, धर्मशाला, लोहार आदि की हाट, वणिक् की दुकान, साहूकार की हवेली, धान्य के खाली कोठार, सभागार (टाउनहाल), पर्वत की गुफा, राजा का दरबार, ग्राम-नगर के बाहर स्थित छतरियाँ, श्मशान और वृक्ष के नीचे। इन स्थानकों में जहाँ स्त्री, पुरुष, नपुंसक न रहते हों वहाँ एक रात्रि आदि उचित काल तक साधक का ठहरना विविक्त शय्यासन-प्रतिसंलीनता तप है।

ये छह ही बाह्य तप व्यक्ति को आभ्यंतर तप की ओर ले जाते हैं। तप का प्रारम्भ बाह्य तप से होता है और उसमें पूर्णता आती है आभ्यंतर तप से। बाह्य तप शरीर को तपाता है, शरीर तपता है तो मन में निर्मलता आती है, मन की निर्मलता आभ्यंतर तप में खो जाती है और तब नष्ट होती है आत्मा की मलिनता।

**आभ्यंतर तप**—आभ्यंतर तप में अन्तःकरण के व्यापारों की प्रधानता रहती है। ये भी छह ही हैं—

**पायच्छिन्नं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।**

**झाणं च विऊस्सग्गो, एसो अब्भिंतरो तवो ॥**

(७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयावृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान, और (१२) व्युत्सर्ग।

## (७) प्रायश्चित्त

व्रत, प्रत्याख्यान, नियम लेने वाले को जब प्रमाद आदि कारणों से दोष लग जाता है तब दोष-शुद्धि के लिए गुरुजन के समक्ष सरल मन से आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त-दण्ड द्वारा उसकी शुद्धि की जाती है। प्रायश्चित्त आत्म-शुद्धि का, दोषों से मुक्ति का सहज उपाय है।

आलोयणारिहाईयं, पायच्छित्तं तु दसविहं।

जं भिक्खू वहई सम्मं, पायच्छित्तं तमाहियं॥

दण्ड और प्रायश्चित्त दो अलग-अलग चीजें हैं। दण्ड तो जबरदस्ती दिया या थोपा जाता है और अपराधी बिना मन के उसे सहन करता है जबकि प्रायश्चित्त भूल करने वाला स्वयं स्वेच्छा से स्वीकार करता है। दण्ड पाकर भूल करने वाला सुधर जाये, यह जरूरी नहीं है, जबकि प्रायश्चित्त करने वाला निश्चित ही अपना सुधार करता है।

जाने-अनजाने में जो पाप, अपराध, भूलें हो गई हों, चिन्तन द्वारा उन्हें शोधकर आलोचना करना, गुरु भगवन्तों के सम्मुख प्रकट करना और भूल से लगे पाप-दोष के निवारण हेतु जो भी कष्टकर साधना करने को गुरु कहे, वह करना ही प्रायश्चित्त है। भूल के लिए कोई व्यक्ति यदि क्षमायाचना करे तो समझ लीजिए, उसके मन में प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप की भावना है। रस-परित्याग में अभी मैंने घेवरिया मुनि की बात कही थी। भूल हुई उनसे, पश्चात्ताप किया और कैवल्य मिला। पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त तक पहुँचाता है।

अर्जुनमाली, चण्डकौशिक सर्प, सती मृगावती जैसे अनेक प्रसंग जैनशास्त्रों में इतस्ततः बिखरे हुए हैं जिनमें भव्यात्माओं ने आलोयणा, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त करके कैवल्य प्राप्त कर जन्म-मरण के बन्धन को काट दिया।

## महाभारत का एक प्रसंग

महाभारत के एक प्रसंग में द्रौपदी ने जाते हुए कर्ण को देखकर उसके रूप, सौन्दर्य एवं शारीरिक सौष्ठव पर मुग्ध होकर मन ही मन सोचा था कि यदि ये छठे पाण्डव होते तो मुझे ये भी पतिरूप में प्राप्त होते। मन की यह चंचलता उनके शील में दोष लगा बैठी। कर्मयोगी श्रीकृष्ण को योग द्वारा यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने द्रौपदी को बिना उस पर कोई बात प्रकट किये युक्तियुक्त ढंग से पश्चात्ताप के लिए तैयार किया।

भ्रमण के बहाने से वे पाँचों पाण्डव एवं द्रौपदी को तपोभूमि में ले गये। वहाँ एक सघन आम्रवृक्ष था, जिस पर पके हुए बड़े-बड़े मधुर, रसीले आम बहुतायत में लगे हुए थे। श्रीकृष्ण ने तपोभूमि का उल्लेख करते हुए सभी को सचेत कर दिया कि देखो कोई आम न तोड़े। यह ऋषियों की सम्पत्ति है। उनकी अनुमति के बिना किसी फल-फूल को तोड़ना, यहाँ की किसी वस्तु का उपयोग करना सर्वथा निषिद्ध है।

भीम से रहा नहीं गया। उन्होंने सोचा—‘स्वयं श्रीकृष्ण तो बचपन में मक्खन चुराते थे, हमें चोरी न करने (बिना पूछे आम तोड़कर खाना चोरी है) की शिक्षा देते हैं।’ भीम सबसे पीछे रह गये और चुपके से एक आम तोड़ लिया।

तभी श्रीकृष्ण पीछे मुड़े और देखा भीम की तरफ। भीम के हाथ का आम जमीन पर गिर गया, शर्म से उसकी गर्दन झुक गई। श्रीकृष्ण ने कहा—“भीम! बड़ा भारी अपराध किया है तुमने, इस आम को पुनः डाली से जोड़ो, चढ़ाओ इसे ऊपर।”

भीम सकपकाए। कहा—“महाराज! ऐसा कैसे सम्भव है? मुझसे जो भूल होनी थी हो गई पर अब पुनः इसका डाली से जुड़ना तो असम्भव है।”

श्रीकृष्ण ने कहा—“जोड़ना तो होगा ही उसे, वरना इसका दण्ड आप सभी को भोगना पड़ सकता है।” इतना कहकर वे युधिष्ठिर की ओर देखने लगे।

धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा—“क्या यह संभव है कि टहनी से टूट चुका फल क्या पुनः उसी टहनी से जुड़ सकता है?”

श्रीकृष्ण बोले—“अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा से यह असंभव कार्य भी संभव हो सकता है।”

धर्मराज बोले—“मधुसुदन! हम तो सांसारिक प्राणी हैं। आध्यात्मिक ऊर्जा तो ऋषियों-मुनियों के पास में होती है, जो निरन्तर तप-जप-ध्यान आदि साधनाओं में निमग्न रहते हैं।”

श्रीकृष्ण बोले—“धर्मराज! आपका चिन्तन थोड़ा अधिक विस्तृत होना चाहिये। आध्यात्मिक ऊर्जा ऋषियों-मुनियों के पास ही उपलब्ध होती है, यह बात सामान्यतया कही जाती है किन्तु हर जीव में प्रभुता का अस्तित्व विद्यमान है। जहाँ प्रभुता विद्यमान है वहाँ ऊर्जा का अभाव नहीं। आवश्यकता है उस ऊर्जा और प्रभुता को पहचानने की। आप

धर्मावतार हैं, अपने जीवन में आप अनैतिक आचरण नहीं करते, असत्य भाषण नहीं करते हैं, गुरुजनों की अवज्ञा का पाप आप नहीं करते, सत्य ही ही आप का जीवन है। क्या यह तपस्या कम है? आप राजधर्म को क्या प्रामाणिकता से नहीं पाल रहे हैं?”

धर्मराज ने कहा—“माधव! उसके लिये मैं सदा प्राण-प्रण तत्पर रहता हूँ।”

श्रीकृष्ण बोले—“बस, आज आपको उसी की परीक्षा देनी है कि आपके राजधर्म में कितना सत्व है?”

धर्मराज युधिष्ठिर ने आत्मावलोकन प्रारम्भ किया साथ ही अपने धैर्य धर्म को टटोल लिया।

धर्मराज युधिष्ठिर ने तब मन की पूर्ण दृढ़ता से कहा—“हे आम्रराज! मैंने यदि अपने जीवन में कभी भी मन या वचन से झूठ न बोला हो तो तुम कृपया वापस अपनी डाल से जुड़ जाओ।”

जमीन पर गिरा आम ऊपर उठने लगा। श्रीकृष्ण महाराज ने अपने योगबल से उसे फिर बीच ही में रोक दिया और अर्जुन से बोले—“तुम भी अपनी परीक्षा दे दो, जाँच लो अपने आप को।”

अर्जुन ने कहा—“हे रसाल! यदि मैंने अपने जीवन में गाण्डीव से अनीतिपूर्वक कभी बाण न चलाया हो, स्त्री पर या निरपराध पर बाण न चलाया हो तो आप अपनी डाली पर जुड़ जायें।”

आम्र फिर ऊपर उठने लगा। अब भीम की बारी थी। श्रीकृष्ण बोले—“कहो भीम कि मैंने कभी किसी का कुछ भी चुराया न हो तो.....।”

भीम बीच में बोल उठे—“पर महाराज! अभी-अभी तो मैं चोरी करते रँगै हाथों पकड़ा गया हूँ।”

श्रीकृष्ण—“तो यों कहो कि आज से पूर्व यदि मैंने.....।”

भीम ने विचार किया, अपना विगत सम्पूर्ण जीवन टटोला, जब आश्वस्त हुए तो बोल गये—“हे आम्रफल! मैंने आज से पूर्व यदि किसी का कुछ भी न चुराया हो तो तुम अपनी डाल से जुड़ जाओ।”

आम फिर ऊपर उठा। कृष्ण ने उसे फिर रोक दिया। नकुल व सहदेव ने भी परीक्षा दी और वे परीक्षा में खरे उतरे। अतः वृक्ष की टहनी की ओर आम बढ़ता गया। कृष्ण उसे रोकते गये। अब आम अपनी डाली से मात्र चार अंगुल ही दूर रह गया था। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी की ओर देखा।

द्रौपदी ने न कुछ सोचा, न विचार और बोल गई—“मैंने अपने जीवन में अपने पति इन पाँच पाण्डवों को छोड़ अन्य किसी भी पर-पुरुष की मन से भी वांछा न की हो तो हे आम्रराज! तुम अपनी डाली से जुड़ जाओ।”

द्रौपदी का कथन समाप्त हुआ और आम जो इतना ऊपर उठ चुका था, धड़ाम से पुनः धरती पर गिर पड़ा। द्रौपदी हक्की-बक्की रह गई। उसे स्वप्न में भी यह आशा न थी। पाँच पाण्डव उसके पति उसके सामने खड़े थे और छठे श्रीकृष्ण। इन सबके सामने यह क्या हो गया? द्रौपदी की आँखों के सामने अंधेरा-सा छा गया। धरती चक्कर खाने लग गयी प्रतीत हो रही थी। जीभ लालुए से चिपक गयी। होंठ सिल गये। आँखों से अश्रुधारा बहने लगी। मुँह से बोल नहीं फूट रहे थे। पाँचों ही पांडव अवाक् खड़े थे। क्या हो गया द्रौपदी के शील को? किस में उलझकर रह गयी? आपस में कभी एक-दूसरे का मुँह ताकते तो कभी द्रौपदी की दयनीय स्थिति को निहारते।

अब द्रौपदी बिलख-बिलख कर रो रही थी। उसकी हिचकियाँ बँध गयी थी रोते-रोते। पांडव किकर्तव्य विमूढ़ खड़े ताक रहे थे। क्या बोलना, मुँह से बोल ही नहीं निकल पा रहे थे।

श्रीकृष्ण गम्भीर एवं तेजस्वी स्वर में बोले—“पांचाली! कहाँ तुमने त्रुटी कर दी। तुम्हारी इस त्रुटी ने धर्म एवं नीति परायण पाँचों पतियों के ओज और तेज धर्म को नष्ट कर दिया। तुम्हारे शील के आधार पर कुरु वंश का गौरव टिका हुआ है और आज यह क्या हो रहा है? त्रुटि की खोज करो और उस का परिमार्जन करो।” यह आवाज मानों अन्तरिक्ष से गूँजती हुई आ रही थी।

श्रीकृष्ण बोले—“इस तरह आश्चर्य करने या रोने से कुछ नहीं होगा। धैर्य से अपने पिछले जीवन को दोहराओ और याद करो कि कहाँ चूक हुई है?”

द्रौपदी ने अपने विगत जीवन के पत्रों को मन ही मन उलटना प्रारम्भ किया। वह ढूँढ़ती, खोजती उन भूल के क्षणों में पहुँच ही गई। अब चेहरे पर आश्चर्य या उदासी या रुआँसापन नहीं अपितु शान्ति के साथ भूल स्वीकृति वाला ग्लानिभाव भी था। उसने कहा—“आप धन्य हैं केशव! आज आपने मुझे अपनी भूल का अहसास कराकर जीवन में लगे इस दाग से बचा लिया।” उसने पश्चात्ताप करते हुए सभी के समक्ष कर्ण को छठे पाण्डव के रूप में मन की आँख से देखने की घटना कह सुनाई। आलोचना हुई, प्रकट-कथन से प्रतिक्रमण हुआ और पश्चात्ताप से प्रायश्चित्त तप भी। सती का दाग, शील का दोष धुल गया। प्रायश्चित्त ने उस सती को पुनः बेदाग बना दिया।

मधुर मुस्कान फैलाते हुए श्रीकृष्ण बोले—“पांचाली अब अपना दोष प्रकट एवं उस पर पश्चात्ताप करके कुन्दन के समान शुद्ध हो गयी हो। अब इस फल को पुनः उस डाल पर आरोपित करो। रुदन बंद कर दो, स्वस्थ हो जाओ।”

द्रौपदी बोली—“केशव! मैं पापिन यह कार्य कैसे कर पाऊँगी। मैंने तो कितना बड़ा अधर्म कर लिया। अब मेरे पास ओज-तेज कहाँ रह गया?”

श्रीकृष्ण बोले—“पांचाली अब तुम निर्मल निष्कलंक हो।” तब द्रौपदी ने कहा—“उस घटना के अतिरिक्त स्वप्न में भी अगर किसी पर-पुरुष की कामना नहीं की हो तो हे फल! तू तत्काल जाकर उस टहनी के लग जा।” तत्काल वह फल टहनी की ओर बढ़ने लगा। श्रीकृष्ण ने फल को रुकने का आदेश दिया फिर भी वह फल जाकर टहनी पर जा लगा।

श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा—“पांचाली अब मेरा कार्य पूरा हुआ।”

बंधुओं! शास्त्रों में प्रायश्चित्त देने के अधिकारी मुनिवर में दस गुणों का होना आवश्यक बताया है। कौन से हैं ये दस गुण? (१) उन मुनिवर को शुद्धाचारी होना चाहिए, (२) शुद्ध व्यवहारी होना चाहिए, (३) वे प्रायश्चित्त विधि के ज्ञाता हों, (४) वे शुद्ध श्रद्धावान हों, (५) वे लज्जा दूर करके पूछने वाले हों, (६) वे शुद्धि करने की सामर्थ्य रखते हों, (७) वे गंभीर हों, किसी के दोष सुनकर अन्यान्य से न कहें, (८) वे दोषी के मुख से दोष सुनकर प्रायश्चित्त देने वाले हों, (९) वे दृष्टि से ही दोषों को भाँप लेने वाले विचक्षण सूझ-बूझ के धारक हों, और (१०) जिसे वे प्रायश्चित्त दें, उसकी शक्ति-सामर्थ्य की उनको जानकारी हो। प्रायश्चित्त देने वाले अधिकारी के इन दस गुणों की तरह ही प्रायश्चित्त लेने वाले के

दस गुण, प्रायश्चित्त के दस प्रकार, प्रायश्चित्त के दस दोष एवं प्रायश्चित्त सेवन करने के दस कारण—ये सब मिलाकर प्रायश्चित्त के पचास भेद होते हैं।

अहंकार, प्रमाद, भय, आपत्ति, प्रद्वेष आदि दोष प्रतिसेवना के दस कारणों से दोष लगने पर उसका जो प्रायश्चित्त होता है, वह नहीं लिया जाए तो वह विराधक बनकर अपनी गति बिगाड़ लेता है। प्रायश्चित्त करके शुद्ध होने पर वह आराधक बन जाता है और उसकी गति सुधर जाती है।

### (८) विनय

“आणाए धम्मो ।”—आज्ञा में धर्म है। महापुरुषों की, गुरुजनों की व अपने से गुणों, आयु, पद में बड़ों की आज्ञा का पालन विनय है। गुरुजनों की इच्छा, आज्ञानुसार आचरण शिष्य का विनयधर्म है। अहं, गर्व, अभिमान के नष्ट होने पर स्वभाव में सरलता रूप विनय का समावेश होता है। सूत्रकृतांग के अनुसार—“विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयः ।”—अर्थात् कर्मों का जो विनयन करें, वह विनय है। उत्तराध्ययन में उस विशिष्ट प्रकार की नीति को विनय बताया है जो व्यक्ति को विशिष्टता की ओर ले जाये। दशवैकालिक में कहा है—नम्रता और सद्व्यवहार ही विनय है।

अब्भुट्टाणं अंजलिकरणं, तहेवासण-दायणं।

गुरुभक्तिभाव सुस्सूसा, विणओ एस वियाहिओ ॥

गुरुजनों आदि के आने पर उठना, करबद्ध होना, उन्हें आसन प्रदान करना तथा गुरु की भक्तिभावपूर्वक सेवा-सुश्रूषा करना विनय नाम का तप है।

भगवतीसूत्र में विनय के सात प्रकार बताये हैं—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्र-विनय, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय, और (७) लोकोपचारविनय।

विनय मुख्यतया पाँच उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है—(१) लोक-व्यवहार के लिए माता, पिता, शिक्षक आदि का, (२) अर्थ-लोभ से मालिक, दाता, सेठ आदि का, (३) काम-वासना की पूर्ति के लिए पुरुषों द्वारा स्त्रियों का और स्त्रियों द्वारा पुरुषों का, (४) न्यायाधीश, कोतवाल, राजा आदि का भय के कारण, और (५) आत्म-कल्याण के लिए धर्मगुरु आदि का।

विनय चीता, चतुर और धनुष की कमान जैसा ठगने हेतु, चापलूसी-भरा, घात करने हेतु नहीं होना चाहिए। अशुभ हेतु से किया गया विनय, विनय तप नहीं है।

विनय पर 'बड़ी साधु वन्दना' पर प्रवचनों के प्रारम्भ में मैंने आपको बहुत कुछ बताया है।

### (९) वैयावृत्य

वृद्ध, रुग्ण, अशक्त तथा ऐसे ही अन्य साधकों की जिन्हें किसी भी प्रकार की सेवा की आवश्यकता है, उनकी आहार, दवा, वस्त्र-पान आदि से सेवा-सुश्रूषा करना यह भाव रखते हुए कि मेरी इस सेवा से साधक की धर्मारोधना में सहयोग मिलेगा। उत्तराध्ययन में उल्लेख मिलता है कि वैयावृत्य से साधक को तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन हो जाता है।

आयरियमाइयम्मिय, वैयावच्चम्मि दसविहे।

आसेवणं जहाथामं, वैयावच्चं तमाहियं ॥

—उत्तरा. २९/३

आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, कुल, गण, संघ व साधर्मिक इन दस की अपनी शक्ति के अनुसार गुणानुरागपूर्वक कल्पनीय-निर्दोष विधि से वैयावच्च (सेवा-सुश्रूषा) करके उनका दुःख दूर करना, व्याधि या परीषह आदि का उपद्रव होने पर औषध, आहार-पान, उपाश्रय आदि देकर उपकार करना, उपसर्ग-पीड़ित या वृद्ध या शक्तिहीन मुनि की निरपेक्ष होकर सेवा-सुश्रूषा करना वैयावृत्य तप है।

सर्वार्थसिद्धि में बताया है कि वैयावृत्य से समाधि की प्राप्ति होती है, विचिकित्सा नष्ट होती है, प्रवचन-प्रभावना बढ़ती है और तीर्थकर पद-प्राप्ति की संभावना भी वैयावृत्य के फलस्वरूप बढ़ जाती है।

विनय और वैयावृत्य की शुद्धि के लिए ज्ञान आवश्यक है अतः स्वाध्याय को भी भाव-सेवा माना है।

गणधर गौतम ने प्रभु महावीर से प्रश्न किया—“भन्ते! एक साधक आपकी सेवा करता है और दूसरा साधक रोगी, वृद्ध श्रमणों की सेवा करता है तो श्रेष्ठ कौन?”



प्रभु बोले—“जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने।” अर्थात् जो रोगी आदि श्रमणों की सेवा करता है, वही श्रेष्ठ है। मेरी सेवा का उतना महत्त्व नहीं है, जितना मेरी आज्ञा की आराधना का महत्त्व है। “आणाराहणं खु जिणाणं।”

### उत्कृष्ट सेवाभावी—मुनि नन्दीषेण

बाल, वृद्ध एवं ग्लान मुनियों की अम्लानभाव से वैयावृत्य करने के लिए आगमों में मुनि नन्दीषेण का उदाहरण मिलता है। ये बचपन से ही अत्यन्त कुरूप थे। माता-पिता इनके बालवय में ही काल कवलित हो गये थे। अन्य सभी स्वजनों के द्वारा परित्याग कर दिए जाने पर इनके सात कन्याओं वाले मामा ने इन्हें शरण भी दी और लोभ भी दिया कि मैं अपनी एक कन्या का विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा। तुम मेरे घर का छोटा-बड़ा कार्य कर लिया करो।

विवाह के लोभ में नन्दीषेण मामा के घर के सभी कार्य मन लगाकर किसी दास की भाँति करने लगे। एक बार मामा ने अपनी सातों कन्याओं में से किसी एक कन्या को अपने भानजे से विवाह करने का सुझाव दिया तो उन्होंने कहा कि इसे ब्याहने की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है। मामा की सातों कन्याओं की आपसी वार्ता को नन्दीषेण ने सुनी तब मालुम हुआ कि ये तो सभी मुझसे अत्यधिक घृणा करती हैं। उन्होंने मामा से भी सारी बात बता दी। जानता मामा भी था यह बात, अतः बोला—“कोई बात नहीं, मैं किसी अन्य कन्या से तुम्हारी शादी करा दूँगा।”

नन्दीषेण समझ गये कि मुझे बहलाया जा रहा है। वे दुःखी होकर मामा का घर छोड़ आत्महत्या के लिए निकल जाते हैं, जहाँ सुस्थित मुनि उन्हें आत्महत्या से विरत कर धर्मोपदेश देते हैं और नन्दीषेण उनके पास दीक्षित हो जाते हैं। गुरु कहते हैं—‘धर्म का मर्म है सेवा, वैयावृत्य।’

मुनि नन्दीषेण ने गुरुदेव के इस कथन को जीवन में उतार लिया। अब वे कठोर तप के साथ ही साथ रुग्ण, अशक्त, वृद्ध, बाल-मुनियों की अग्लानभाव से सेवा करने लगे। ऐसे जुट गये वे सेवा-कार्य में जैसे उन्होंने वैयावृत्य का अभिग्रह ले लिया हो। साधु-सेवा ही उनका धर्म बन गया।

एक दिन इन्द्र ने अपनी देव-सभा में मुनि नंदीषेण की अग्लानभाव से साधु-सेवा की बहुत प्रशंसा की। सभा में उपस्थित एक देव विश्वास न कर सका इस बात पर और परीक्षार्थ रत्नपुर के बाहर वन में ग्लान-मुनि के रूप में बैठ गया। उसी देव ने अपना एक अन्य मुनिरूप बनाया और नंदीषेण के पास गया। उस समय मुनि पारणे के लिए बैठकर पहला ग्रास खाने ही वाले थे, तभी मुनिरूप में देव ने आकर कहा—“भद्र! साधु-सेवा का व्रत लेकर भी तुम इस समय पारणे के लिए कैसे बैठे हो?”

मुनि ने प्रश्नवाचक दृष्टि से उन्हें देखा तो मुनिरूप में उस देव ने फिर कहा—“नगर के बाहर अतिसार रोग से पीड़ित मुनि भूखे-प्यासे पड़े हैं।”

यह सुनते ही नंदीषेण मुनि ने आहार के पात्रों को व्यवस्थित बाँध कर यत्ना पूर्वक एकान्त में रख दिया। वे पात्र उठाकर पहले प्रासुक जल लेने के लिए गृहस्थों के घरों में गये। देवमाया ने प्रासुक जल की उपलब्धि में भी अनेक विघ्न डाले, पर अन्त में मुनि सफल हुए। वे प्रासुक जल लेकर नगर के बाहर वन में गये।

मुनि नंदीषेण ने वहाँ अतिसार से पीड़ित मुनि को देखा। उनका सारा शरीर मल-मूत्र से भरा हुआ तथा अत्यधिक दुर्गन्धयुक्त था। साधारण व्यक्ति का तो वहाँ खड़े रह पाना मुश्किल था, किन्तु नंदीषेण मुनि दुर्गन्ध को दुर्गन्ध नहीं मानते हुए उनके निकट पहुँचे। इस पर रुग्ण साधु ने क्रोधित स्वर में कहा—“अरे! तुम अब आये हो। मैं कितनी देर से यहाँ पड़ा हूँ। बड़े प्रतिज्ञाधारी बने फिरते हो साधु-सेवा के। धिक्कार है तुम्हारे इस सेवा के धर्माडम्बर को।”

नंदीषेण इस पर विनम्रता से बोले—“मुनिवर! मेरा अपराध क्षमा करिये। मुझसे बड़ी भारी गलती हुई।”

इतना कह नंदीषेण मुनि ने प्रासुक जल से उनका शरीर अग्लान भाव से साफ किया। स्वच्छता हो जाने पर स्वयं शुद्ध हो दूसरे पात्र से प्रासुक जल रुग्ण मुनि को पिलाया और कहा—“भगवन्! आप चलिये, मैं आपको स्थानक तक ले चलता हूँ।”

मुनि ने कुपित मुद्रा में कहा—“मैं स्थानक चलूँगा? अरे मैं इतना अशक्त हूँ, दिखता नहीं क्या? हँसी उड़ाता है मेरी।”

इस पर नंदीषेण ने उन्हें कंधे पर बिठाया और स्थानक की ओर चल दिये। तभी मुनिरूप देव ने क्रोध में भरे वचन कहे—“अरे दुष्ट! इतनी तेजी से क्यों चल रहा है? जल्दी है क्या तुझे स्थानक में जाने की? देखता नहीं तेरे तेज चलने से मेरे अंग-प्रत्यंग किस तरह हिल-डुलकर मुझे कष्ट पहुँचा रहे हैं।”

सुनकर नंदीषेण ने अपनी गति धीमी कर दी कि कहीं इन्हें कोई कष्ट न हो। तभी पुनः आवाज कानों में पड़ी—“अरे मूर्ख! पहले तो इतना तेज चल रहे थे और अब बिलकुल धीमी चाल कर दी। इस तरह तुम स्थानक में कब तक पहुँच पाओगे? मैं तुम्हारे कंधे पर बैठा कितनी तकलीफ पा रहा हूँ। तुम्हारे कंधे की हड्डियाँ मुझे चुभ रही हैं।”

नंदीषेण सोचने लगे कि किस तरह से चलूँ जिससे मुनि को कष्ट न हो। अभी वे सोच ही रहे थे कि रुग्ण मुनि ने विष्टा कर दी। नंदीषेण का पूरा शरीर उस विष्टा से लिपट गया। अत्यंत दुर्गन्ध वहाँ फैलने लगी। नंदीषेण ने विचारा कि कहीं रुककर मुनि जी को स्वच्छ बना दूँ। उचित स्थान के लिए रुककर इधर-उधर देखा तभी रुग्ण मुनि बोले—“क्यों रुक गया यहाँ? यहीं ठहरना है क्या? या मुझे यहीं छोड़कर भाग जाना चाहता है?”

नंदीषेण ने स्वच्छता आदि का विचार त्याग दिया और पुनः स्थानक की ओर गति की। मन में उनके यही चिन्तन था कि ‘अहो! ये मुनि बहुत ही कष्ट में हैं। मैं कैसे, क्या करूँ कि इनका कष्ट मिट जाये। हलन-चलन से भी ये कष्ट पा रहे हैं, अतः मुझे बहुत ही सँभल-सँभलकर चलना चाहिए।’ नन्दीषेण अब अत्यन्त धीमे-धीमे धैर्यपूर्वक कदम रखने लगे।

नंदीषेण मुनि की ऐसी उत्कृष्ट, दृढ़, अटूट साधु-सेवा देख वह देव दंग रह गया। अपने दिव्य देवरूप में प्रकट हो उसने मुनि को वन्दन-नमन किया और पूरी बात बताते हुए अपने अपराध की क्षमा माँगी।

ऐसा होता है बंधुओं! वैयावृत्य तप। आज तो थोड़ी-सी सेवा करनी पड़ जाये तो धैर्य समाप्त। लोक-व्यवहार में करनी भी पड़े तो मन में हजारों गालियाँ और अकेला रुग्ण हो, आसपास कोई न हो तो उसे भी भाँति-भाँति के शब्दों से अन्तर् तक व्यथित कर दें। तन तो पीड़ित है ही, मन को भी पीड़ित बना दें अधिकांश में ऐसी हैं आज की सन्तानें, आज के शिष्य।

**(१०) स्वाध्याय**

शब्द एक है पर अर्थ अनेक। अपना अपने भीतर ही अध्ययन, आत्म-चिन्तन का नाम है स्वाध्याय।

सद्साहित्य का मर्यादापूर्वक विधियुक्त पठन-पाठन भी स्वाध्याय है।

स्वाध्याय से बुद्धि विकसित होती है, नये-नये विचार आते हैं, नया चिन्तन आता है। स्वाध्याय समस्त दुःखों, चिन्ताओं, व्यथाओं से मुक्ति दिलाता है।

स्वाध्याय एक महान् तप है क्योंकि स्वाध्याय से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, आत्म-शुद्धि होती है, विचार परिष्कृत होते हैं।

स्वाध्याय सभी भावों का प्रकाशक है, सद्गुणों का विकास करने वाला है। इससे ज्ञान की वृद्धि, सम्यग्दर्शन की शुद्धि, चारित्र्य की संवृद्धि, मिथ्यात्व की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

भगवती एवं स्थानांग आदि सूत्रों में स्वाध्याय के पाँच प्रकार बताये हैं—

**वायणा, पुच्छणा चेव, तहेव परियट्टणा।**

**अणुप्पेहा धम्म क्हा, सज्झाओ पंचहा भवे ॥**

(१) वाचना—शास्त्रादि की वाचना देना अथवा लेना।

(२) पृच्छना—जो नहीं आता है, उसके लिए शास्त्रादि का वाचन करने के बाद गुरुदेव से पूछना।

(३) परिवर्तना—पढ़े हुए ज्ञान का आवर्तन करना।

(४) अनुप्रेक्षा—पढ़े हुए आगम शास्त्रों को स्वयं दूसरी बार पढ़ना या दूसरों से सुनना, चिन्तन-मनन करना।

(५) धर्मकथा—धर्म को बढ़ाने वाली, आत्मोत्थान-प्रेरक कथाएँ कहना, सुनना। वार्त्तादि का विषय भी धर्म में वृद्धि हो ऐसा रखना।

बृहत्कल्पभाष्य में बताया है—

**न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झायसमं तवोकम्मं।**

अर्थात् स्वाध्याय के समान न तो कोई अन्य तप है, न था, न होगा।  
उत्तराध्ययनसूत्र के छब्बीसवें अध्ययन की दसवीं गाथा में बताया है—

**सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्ख विमोक्खणे।**

अर्थात् स्वाध्याय ही एक ऐसा उपाय है जिसमें मन की एकाग्रता के कारण सब प्रकार के दुःखों से सम्पूर्णरूपेण मुक्ति मिल जाती है और जैनाचार्यों का मानना है कि “दुःखात्यन्तनिवृत्तिर्मोक्षः।” सभी प्रकार के आधि भौतिक, आधि दैविक और यहाँ तक कि आत्मिक (कर्मबंध) दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् पूर्ण अभाव ही मोक्ष है।

उत्तराध्ययनसूत्र के ही २९वें अध्ययन की १८वीं गाथा में स्वाध्याय से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होना बताया गया है—

**सज्झाएणं णाणावरणिज्जं कम्मं खवेई।**

जीवन में दुःख आते हैं अज्ञान के कारण। स्वाध्याय अज्ञान को मिटाता है। वह चिंतामणि रत्न से भी बढ़कर है। चिंतामणि रत्न भौतिक सुविधाएँ देता है जबकि स्वाध्याय समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है। स्वाध्याय, शुभ ध्यान का आलम्बन है अतः आभ्यंतर तप में स्वाध्याय के बाद ध्यान कहा गया है।

### (११) ध्यान

“ध्यानं आत्मस्वरूप चिन्तनम्।”—अर्थात् आत्म-स्वरूप के चिन्तन का नाम ही ध्यान है। इसका अभिप्राय है एकाग्र होकर विचार करना। तत्त्वार्थसूत्र में बताया है—“एकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्।” अर्थात् एकाग्ररूप से चिन्ता का निरोध अथवा पदार्थ पर विचार का केन्द्रीयकरण ध्यान है। ‘गीता’ में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं—“ध्यानं निर्विषयं मनः।” अर्थात् मन को विषयों से मुक्त करना ही ध्यान है।

शुभ ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की निर्जरा से ही आत्म-शान्ति है, मुक्ति है, अखण्ड आनन्द है। भगवान महावीर ने ध्यान को धर्म का मूल बताते हुए कहा है—

**सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।  
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते ॥**

—समणसुत्तं

अर्थात् जैसे मनुष्य के शरीर में उसका सिर महत्त्वपूर्ण है तथा वृक्ष में जड़ मुख्य है वैसे ही साधक के समस्त धर्मों का मूल ध्यान है।

स्थानांगसूत्र में ध्यान के चार भेद बताये हैं—आप भी बता सकते हैं कि ये चार भेद कौन-कौन-से हैं? पच्चीस बोल में आते हैं, उन्नीसवाँ बोल है। वैसे सामायिक व प्रतिक्रमण में भी ध्यान खोलने के पश्चात् कहे जाते हैं। उनके नाम हैं—(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान, (४) शुक्लध्यान।

इन चारों में प्रथम दो (आर्त्त व रौद्र) संसार-भ्रमण बढ़ाने वाले हैं तथा अन्तिम दो (धर्म व शुक्ल) मोक्ष-प्राप्ति के कारण हैं। आप इन चार ध्यानों का स्वरूप समझने के लिए उत्सुक होंगे। होना ही चाहिए। स्वरूप समझकर ही अशुभ से बचकर शुभ में आ सकेंगे।

(१) **आर्त्तध्यान**—संसार के भोगोपभोग, स्त्री-पुत्र-धन-धान्य-अलंकरण आदि की प्राप्ति में लगे रहना, इनका तीव्र चिन्तन करना, इनके वियोग में हाय-त्राय करना, इष्ट सांसारिक वस्तुओं में राग और उनके वियोग में दुःख करना, अनिष्ट संयोग अर्थात् अनभिलषित पदार्थों के मिलने की संभावना से या मिल जाने पर दुःख उत्पन्न होना तथा तीव्र रोग को हटाने, अप्राप्त भोगों की प्राप्ति की लालसा व प्राप्त भोगों को चिरस्थायी रखने की तीव्रेच्छा में जो मन की एकाग्रता होती है तथा तप-संयम को दाँव पर लगाकर भी अप्राप्त भोगों की प्राप्ति की जो लालसा होती है (निदान) वह आर्त्तध्यान है।

(२) **रौद्रध्यान**—हिंसा, झूठ, चोरी, संरक्षणानुबंधी में क्रूर परिणाम रखने के निमित्त से जो ध्यान होता है वही रौद्रध्यान है। इसमें सभी पापातिचारों का तिरोभाव रहता है। रौद्रध्यान वाला जीव करुणा, दया, अनुकम्पा से रहित होता है और पाप में ही आनन्द मानता है। यह ध्यान पाँचवें गुणस्थान तक होता है।

(३) **धर्मध्यान**—जब जीव में रागभाव की न्यूनता हो जाये तथा वह आत्म-चिन्तन में लीन रहने लगे तो उसमें धर्मध्यान का आविर्भाव हो जाता है। धर्मध्यान आत्म-विकास का प्रथम चरण है।

द्वादशांगरूप जिनवाणी के विभिन्न विषयों पर निरन्तर चिन्तन धर्मध्यान है।

धर्मध्यान, शुक्लध्यान की भूमिका है। धर्मध्यानवर्ती जीव को बाह्य साधनों का आधार रहता है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय व संस्थानविचय—ये चार प्रकार के धर्मध्यान बताये गये हैं।

धर्मध्यान के चार लक्षण हैं—आस्थारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि व प्रगाढ़रुचि।

धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं—(१) वाचना, (२) पृच्छना, (३) अनुवर्तना, और (४) परिवर्तना। धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) हैं—(१) एकत्व भावना, (२) अनित्य भावना, (३) अशरण भावना, तथा (४) संसार भावना।

(४) शुक्लध्यान—जिस ध्यान द्वारा आठ प्रकार की कर्मरज से आत्मा मुक्त बन जाता है, वह शुक्लध्यान होता है। इसका उदय सातवें गुणस्थान के पश्चात् ही संभव है। ध्यान से चलित न होना, सम्मोहन अवस्था का न होना, भेदविज्ञान तथा आत्मा से सर्वसंयोगों का पृथक्करण, सर्वउपधि व शरीर से छुटकारा—ये सभी शुक्लध्यानी के लक्षण हैं।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन बताये हैं—(१) क्षमा, (२) निर्लोभता, (३) सरलता, तथा (४) मृदुता।

साधकों को निर्देश दिया गया है कि वे—

अट्ट रुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।

धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए॥

आर्त्त व रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म व शुक्लध्यान का चिन्तन करें, यही उत्तम समाधि है, श्रेष्ठ तप है।

### (१२) व्युत्सर्ग

काया के ममत्व, आसक्तिभाव को छोड़कर अयोग की साधना। आत्मा के साथ अन्यान्य जितने भी सम्बन्ध हैं सबको तोड़ देना, विसर्जित कर देना। इसमें (१) शरीर का, तथा (२) कर्म का व्युत्सर्ग किया जाता है। इसके स्वरूप के बारे में आगमिक उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

सयणासणठाणे वा, जे उ भिक्खू न वावरे।

कायस्स विउस्सगो, छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

अर्थात् बैठने, खड़े रहने या सोने में जो साधक किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करे वह छठा आभ्यन्तर तप काय-व्युत्सर्ग है।

व्युत्सर्ग में सामान्य रूप से द्रव्य व भाव-व्युत्सर्ग—ये दो प्रकार आते हैं। द्रव्य-व्युत्सर्ग—गण, देह, उपधि व भक्तपान रूप चार प्रकार का है तथा कषाय, संसार, कर्म, योग—ये चार भाव-व्युत्सर्ग है।

आशा, तृष्णा, भय, आसक्तिभाव सभी का त्याग व्युत्सर्ग में हो जाता है। इसमें जीवन की लालसा का त्याग है और अपने आप का उत्सर्ग है। व्युत्सर्ग तप करने वाला साधक चिन्तन करता है कि शरीर और आत्मा भिन्न है। मैं शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ। शरीर तो नाशवान, क्षणिक है और आत्मा अर्थात् मैं शाश्वत, नित्य।

ऐसा साधक मुक्ति के निकटतर होता हुआ मुक्त बन जाता है।

अन्य परम्पराओं में भी तपाराधन का विधान है पर एक बहुत बड़ा अन्तर है जैन तपाराधन में और अन्य परम्पराओं के तप में। जैन-परम्परा में तप, संवर के साथ निवृत्ति की भावना के साथ किया जाता है। आत्मा को भावित बनाते हुए, कषायों को त्यागते हुए तप करने का विधान है जैन-परम्परा में।

बारह प्रकार के इन तपों से अपने को तपाते हुए जो मुनिवर हैं, उत्कृष्ट तपस्वी हैं, तपश्चरण के द्वारा कर्मबन्धनों को शीघ्र हटाने वाले हैं, पल-पल, क्षण-क्षण मुक्ति के निकटतर होते जा रहे हैं, उन सभी को भाव-वन्दना की जा रही है। वन्दना का कारण बताते हुए साधक कवि ने बताया है कि ये सभी संसार की कमियों को टालकर, भव-भ्रमण निमित्त कर्मबन्धों को काटकर मोक्षगामी होंगे।

आज तक मुक्ति-प्राप्त आत्माओं एवं महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान मोक्षगामी अर्हंत-तीर्थंकर-केवली व मुनि भगवंतों को आज के दिन हम सभी अपना कोटिशः वन्दन कर, इस वन्दना द्वारा एक ध्येय निश्चित करने के लिए संकल्पित हो जायें कि हम भी उन्हीं के द्वारा बताये गये प्रशस्त धर्म-पथ पर निरन्तर बढ़ेंगे।

आनन्द ही आनन्द !





## सुत्तं गंथंति गणहरा

(इन्द्रभूति गौतम)

आत्म-बंधुओं !

जिनवाणी जनकल्याणी, विश्वहितकारिणी, प्राणीमात्र तारिणी है। संसार बंधनरूप है, इस बंधन से मुक्ति का उपाय बताती है जिनवाणी। बंधन को कैसे हटाना ? मिथ्यात्व को कैसे घटाना ? आत्मभाव को कैसे बढ़ाना ? इस तरह के सभी प्रश्नों के समाधान यह वाणी देती है। मोह का स्वभाव है बाँधे रखना और आत्मा का स्वभाव है—मुक्त रहना। बद्ध आत्मा को चाहिए शरीर का सहयोग क्योंकि शरीर के बिना साधना हो नहीं सकती पर जब शरीर मिलता है आत्मा को तो मन और इन्द्रियाँ आत्मा को विभाव में लाने के लिए मचलती रहती हैं, जोर मारती रहती हैं। शरीर स्वयं पुद्गलपिंड होने से वह जीव को मोह-माया से आवृत कर स्वयं पुद्गलानन्दी बन सांसारिक सुखों में रच-पचकर निरन्तर भवभ्रमण कराता रहता है और जीव विवश-सा इस भँवर चक्र में फँसकर चौरासी के चक्कर काटता जाता है। अनादिकाल से यही चल रहा है।

□ जान अचंभो कौन ?

अब जब अनेक शुभ संयोग मिले हैं तो इस चक्र को काटने का पुरुषार्थ करना है। मानव का चोला, संतों का सत्संग, श्रुतवाणी का संयोग.....इतना सब कुछ होते हुए भी चंचल मन और विषयी इन्द्रियाँ कैसे पाप कार्यों में ही रमण करते हुए मगन रहती हैं, यह आश्चर्य का विषय है। कवि जसराज जी कहते हैं—

दस द्वारे का पिंजरा, तामें पंछी पौन।

रहन अचंभो है जसा, जान अचंभो कौन ?

बात यही है—दस द्वारों के होते हुए भी प्राणरूपी पंछी शरीररूपी पिंजरे में कैद रहता है, उड़ता नहीं, स्वच्छंद नहीं बनता। कारण है—पिंजरे का मोह। वैसे ही मोक्ष के कितने-कितने

मार्ग हैं पर जीवरूपी पंछी, शरीररूपी पिंजरे में सांसारिक मोह-माया के कारण नित्य आसक्तिभाव से पाप कार्यों में लगा रहता है।

मानव को बंधन-मुक्त कराने की भावना से प्रभु ने अनेक सरल से सरल विधि-विधान बताए हैं और उनमें मेरी दृष्टि में सबसे सरल अर्थात् सरलतम विधान है गुणीजनों की भाववन्दना। 'बड़ी साधु वन्दना' में भी यही दृष्टिकोण रखा गया है।

आगे की दो कड़ियों में वर्तमान जिन-शासन के चौबीस तीर्थकरों के गणधर भगवन्तों का स्मरण करते हुए, वन्दन करते हुए शासनपति भगवान महावीर के गौतमादिक गणधरों का स्मरण कर उन्हें शिवसुख प्रदाता, शाश्वत आनन्द के दाता बताया है। यह सत्य भी है। गौतम नाम की ही इतनी महिमा है कि भावपूर्वक स्मरण कर, गुणकीर्तन करने पर मनवांछित फल की प्राप्ति की जा सकती है।

चौबीसे जिनना, सगलां ही गणधार।

चौदह सौ ने बावन, ते प्रणमूं सुखकार ॥ ७ ॥

जिन-शासन नायक, धन्य श्री वीर जिनंद।

गौतमादिक गणधर, वर्तायो आनन्द ॥ ८ ॥

वर्तमान चौबीस तीर्थकर भगवन्तों के कुल चौदह सौ बावन गणधर बताए गए हैं। प्रत्येक तीर्थकर के गणधरों की संख्या व प्रथम गणधर के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थकर नाम	प्रथम गणधर	कुल गणधर संख्या
१. श्री ऋषभ देव जी	ऋषभसेन जी	८४
२. श्री अजित नाथ जी	सिंहसेन जी	९०
३. श्री संभव नाथ जी	चारु जी	१०२
४. श्री अभिनन्दन नाथ जी	वज्रनाभ जी	११६
५. श्री सुमति नाथ जी	चमर जी	१००
६. श्री पद्मप्रभ नाथ जी	सुव्रत जी	१०७
७. श्री सुपाशर्व नाथ जी	विदर्भ जी	९५
८. श्री चन्द्रप्रभ नाथ जी	दिनकर्ण जी	९३

९.	श्री सुविधि नाथ जी	बारु जी	८८
१०.	श्री शीतल नाथ जी	आनंद जी	८१
११.	श्री श्रेयांस नाथ जी	गौतम जी	७६
१२.	श्री वासुपूज्य स्वामी जी	सुधर्म जी	६६
१३.	श्री विमल नाथ जी	मिन्दर जी	५५
१४.	श्री अनन्त नाथ जी	जशोधर जी	५०
१५.	श्री धर्म नाथ जी	अरिष्ट जी	४३
१६.	श्री शांति नाथ जी	चक्राप्रभ जी	३६
१७.	श्री कुंथु नाथ जी	शम्भु जी	३७
१८.	श्री अरह नाथ जी	कुम्भ जी	३३
१९.	श्री मल्लि नाथ जी	भीसग जी	२८
२०.	श्री मुनिसुव्रत स्वामी जी	इन्द्रकुंभ जी	१८
२१.	श्री नमि नाथ जी	कुंभ जी	१७
२२.	श्री अरिष्टनेमि जी	ब्रह्मदत्त जी (वरदत्त जी)	१८
२३.	श्री पार्श्व नाथ जी	आर्यदिन्न जी	८
२४.	श्री महावीर स्वामी जी	इन्द्रभूति 'गौतम'	११

### □ किसे कहते हैं गणधर ?

जिन गणधरों को उस महान् युगप्रवर्तक आचार्य ने नमन किया, उनका ज्ञान कर लेना हमारे लिए आवश्यक है। किसे कहते हैं गणधर ? 'गणधर' में दो पद हैं—'गण' एवं 'धर'। 'गण' का अर्थ है समूह, झुंड, दल और 'धर' का अर्थ है रखने वाला, धारण करने वाला। इसका शाब्दिक अर्थ हुआ—वह व्यक्ति जो किसी समूह, दल का नायक हो। यहाँ 'गणधर' शब्द का विशिष्ट भाव में प्रयोग किया गया है। वह उत्कृष्ट साधक जो आत्म-कल्याण करने वाले किसी साधक-समूह की सारणा-वारणा-धारणा करता हो, गणधर होता है। गणधर इस साधक-समूह का नायक, मुखिया, प्रमुख भी होता है। तीर्थंकर के बाद समूह के साधु-साध्वीवृंद अपने गणधर की आज्ञा में ही धर्म मानते हैं।

गण कहते हैं एक ही प्रकार की वाचना वाले साधुओं के समुदाय को। एक गणधर इस तरह के एक साधु-समुदाय की व्यवस्था का संचालन करता है। व्यवस्था के अतिरिक्त गणधर अपने समय में वीतराग-वाणी को सूत्ररूप देते हैं। कहा भी है—“अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहर निउणं।” अर्थात् अरिहंत अर्थरूप में वाणी उच्चारते हैं और गणधर उन्हें सूत्ररूप में ग्रंथित करते हैं। जैसा कि पूर्व में बताया था—प्रभु महावीर के ग्यारह गणधर थे, इन ग्यारह गणधरों में सर्वप्रथम एवं प्रमुख थे—इन्द्रभूति ‘गौतम’।

#### □ महावीर के प्रथम गणधर—‘इन्द्रभूति गौतम’

इन्द्रभूति भगवान महावीर के प्रथम शिष्य तो नहीं पर प्रथम सुशिष्य थे। प्रथम सुशिष्य इसलिए कि गौतम से पूर्व गौशालक प्रभु का शिष्य बना था पर वह कुशिष्य सिद्ध हुआ। भगवान का ही अपकार करने वाला हुआ।

इन्द्रभूति जब प्रभु के सम्मुख आए थे उस समय दीक्षा के भाव से नहीं आए थे। वे तो आए थे प्रभु के लिए मन में शत्रुभाव लेकर, करना चाहते थे शास्त्रार्थ, देखना चाहते थे प्रभु को अपने सम्मुख परास्त होते, पर हो गया बिलकुल विपरीत अर्थात् प्रभु के अतिशय से प्रभावित गौतम प्रभु के पावन चरणों में वहीं समर्पित हो गए।

अद्भुत, अलौकिक, विराट् व्यक्तित्व वाले महापुरुष इन्द्रभूति ‘गौतम’ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय देना जिह्वा या शब्दों के वश की बात नहीं है। गौतम गोत्रीय ब्राह्मण-कुल में जन्म के कारण ये ‘गौतम’ कहलाए। ये वेद-विद्या के एक प्रख्यात पारंगत विद्वान्-आचार्य थे। पाँच सौ वेदपाठी पंडित-पुत्र ब्राह्मण उनसे वेदों का गूढ़ ज्ञान प्राप्त करने हेतु उनके पास नियमित अध्ययन करते थे।

#### □ यज्ञ का आयोजन

जिन दिनों श्रमण भगवान महावीर को कैवल्य की प्राप्ति हुई, उन्हीं दिनों अपापा नगर के निवासी सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण ने अपने यहाँ एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया। उस समय तक कर्मकांड एवं यज्ञादि अनुष्ठान में अतिनिष्णात एवं वेद-विद्या में पारंगत होने के कारण इन्द्रभूति की यशोगाथा दशों दिशाओं में फैल चुकी थी। कोई भी ऐसा वादी नहीं बचा जो उनसे वाद में परास्त न हुआ हो अतः गौतम तब वादी-केसरी, वादी-मान-मर्दक, सरस्वती-कंठाभरण, वादि-मद-गंजन, वादि-गज-सिंह,

पंडित शिरोमणि आदि उपाधियों से सम्बोधित किये जाते थे। वादि के वाद-मान-मर्दन में तब ब्राह्मण समुदाय में उनके तुल्य कोई अन्य नहीं था।

सोमिल ने अपने यज्ञ के अनुष्ठान हेतु ऐसे महान् पंडित इन्द्रभूति को बुलाया और साथ ही अग्निभूति, वायुभूति (दोनों इन्द्रभूति के भ्राता), व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अकंपित, अचलभ्रात, मेतार्य एवं प्रभास नाम के दस अन्य महादिग्गज पंडितों को भी यज्ञ में बुलाया गया। सुविशाल यज्ञ के आयोजन एवं इन्द्रभूति जैसे उद्भट्ट आचार्यों की कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर-दूर के अनेक प्रदेशों से अपार जन-समूह अपापा नगर की ओर तब उमड़ पड़ा।

#### □ इन्द्रादि के विमानों का आगमन

इन्द्रभूति के निर्देशन में यज्ञ प्रारम्भ हुआ। गगनमंडल सहस्रों कण्ठों से निकली समवेत वेद-मंत्रों की ध्वनि से गुंजायमान होने लगा। यज्ञ में आहुति के रूप में दी गई मणों (४० सेर का एक मण) सुगंधित द्रव्यों से दशों दिशाएँ सुगंधित-सुवासित हो उठीं। यज्ञ के उठते हुए धूम से गगन ऐसा लगा मानो मेघाच्छादित हो गया हो। उपस्थित जनता भी यज्ञ के उस वातावरण से मुग्ध-सी बनी हुई थी।

सहसा आकाशमंडल में सहस्रों सूर्यों का प्रकाश एक साथ भर गया। यज्ञ-मंडप में उपस्थित सभी जन गगनमंडल की ओर निहारने लगे। सभी की आँखें एक अद्भुत प्रकाश से चुंधियाँ-सी गईं। गगन देवों के देदीप्यमान विमान से जगमगा गया था। सभी लोग सोमिल के भाग्य एवं गौतम के अनुष्ठान की प्रशंसा करने लगे—“कैसा विद्वान् पंडित है? कितनी शक्ति है उसके मंत्रोच्चारण एवं अनुष्ठानिक क्रियाओं में! देवलोक के इन्द्रादि सभी देवों को साक्षात् यज्ञ में आना पड़ा। आज तक जो नहीं देखा, वह आज देख लिया। धन्य है सोमिल जिसने ऐसा विशाल अनुष्ठान करवाया और धन्य है इन्द्रभूति आदि पंडित जिनकी यज्ञ-क्रियाओं के बल से देव खिंचे चले आए।”

प्रशंसा अहंकार को जगाती है। गौतम ने भी जन-जन के मुखोच्चारित प्रशंसा-शब्दों को सुना। सोचा—‘यह हुआ मेरे ज्ञान, मेरी विद्वत्ता, मेरे पांडित्य का साक्षात् चमत्कार! मैं जानता था, मैं सर्वज्ञ हूँ, अब सभी जान गए। सबको मानना पड़ेगा कि मेरे जैसा ज्ञानी दूसरा कोई नहीं है।’

वह सोमिल से बोला—“हमने तुम्हारे यज्ञ का अनुष्ठान कर तुम्हारे भाग्य को जगा दिया है। देखो, हमारे ज्ञानबल से देवतादि भी तुम्हारे यज्ञ में अपना भाग ग्रहण करने साक्षात् सशरीर आ रहे हैं।”

मंत्रोच्चार के स्वर अब और अधिक तेज कर दिये गए। लग रहा था जैसे सभी अपनी आवाज देवों तक पहुँचाकर ही मानेंगे। आँखें अभी भी सभी की आकाश-स्थल में ही स्थिर थीं। विमान निकट, निकटतर, निकटतम आए और अगले कुछ ही क्षणों में फरटि भरते हुए यज्ञ-स्थल के ऊपर होते हुए आगे चले गए। सबने देखा यह, सभी के स्वर मंद पड़ गए, मंत्रोच्चार में अब वह उत्साह तेज नहीं रह गया। निराश और हताश लक्ष-लक्ष लोचन सोमिल और इन्द्रभूति आदि पण्डितों की ओर उठ गए।

#### □ देव-विमान कहीं और ! भ्रांति मिटी तो अचरज बढ़ा

कुछ ही क्षणों पश्चात् देव-विमान किसी निकटस्थ स्थान पर उतरते दिखाई पड़े। इन्द्रभूति अचरज में पड़ गए। देव-विमान यज्ञ-स्थल पर क्यों नहीं उतरे? आगे क्यों चले गए? थोड़ी दूर जाकर उतरने का देवों का क्या प्रयोजन? क्या वे वहाँ से चलकर यहाँ आयेंगे पर ऐसा कैसे हो सकता है? क्या वे मार्ग भूल गए? पर गए तो इधर से ही थे। क्या उनकी स्मरण-शक्ति चूक गई है?

जनसमूह के लिए तो वे विमान विशिष्ट कौतुक ही थे अतः एकत्रित जन अब यज्ञ-स्थल को छोड़ उधर जाने लगे, जहाँ देव-विमान उतरे थे।

इन्द्रभूति को आश्चर्य तो था ही अब आवेश भी आ गया। उसने अपने विद्यार्थी शिष्यों को कहा—“तुममें से कुछ छात्र जाओ और छानबीन कर बताओ कि बात क्या है?”

#### □ जो देखा, अविस्मरणीय देखा

शिक्षार्थी वहाँ गए तो वहाँ जो कुछ आश्चर्यजनक अविस्मरणीय देखा उसे अपने गुरुदेव इन्द्रभूति को सुनाते हुए बोले—“वहाँ सर्वज्ञ श्रमण भगवान महावीर पधारे हुए हैं। उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई है। अब वे लोकालोक के, चराचर के तीनों कालों का विवरण हस्तामलकवत् जान सकते हैं। उन्हीं के समवसरण की रचना की गई है। समस्त देवगण वहीं पधारे हैं।”

### □ कौन है यह महावीर ?

यह सुनकर इन्द्रभूति का तेज अचानक मंद पड़ गया। अन्दर का अहंकार भी कुछ नीचे उतर गया पर आवेशभाव क्रोध में बदलने लगा। शिष्यों ने जब प्रभु महावीर के आभामंडल की ज्योति, अष्ट-प्रतिहार्य, स्वर्ण-रत्न से मंडित समवसरण की बातें सुनाई तो उनका अन्तर् उफान खाने लगा। मन में सोचा—‘सर्वज्ञ तो मैं हूँ, यह सर्वज्ञ कहाँ से आ गया? लगता है कोई बहुत बड़ा मायावी, ऐन्द्रजालिक (इन्द्रजालिया) है जिसने देवों तक को छल लिया है और वे उसे सर्वज्ञ समझ बैठे हैं। मैं अभी जाकर देवों के भ्रम को दूर करता हूँ। ऐसे-ऐसे जटिल प्रश्नों की झड़ी लगाता हूँ कि उसकी सर्वज्ञता का आवरण छन्न से टूटकर बिखर जाए। मेरे सामने भला वह क्या ठहर सकता है? अभी उसे परास्त कर अपना सिक्का जमाता हूँ।’

चले इन्द्रभूति प्रभु महावीर के समवसरण की ओर। अपने पांडित्य के अनुरूप पीतवस्त्र, यज्ञोपवीत आदि उन्होंने धारण कर रखे थे। पाँच सौ शिष्यों का समुदाय उनके पीछे था। उनका कमंडल किसी एक शिष्य के हाथ में था तो एक अन्य शिष्य छत्र लिए हुए उनके साथ चल रहा था। वे सभी शिक्षार्थी-शिष्य इन्द्रभूति की अनेक प्रकार से जयकार करते हुए चल रहे थे। चलते हुए इन्द्रभूति के मन में अनेक संकल्प-विकल्प पनप रहे थे-मिट रहे थे।

### □ ये महावीर ही अंतिम तीर्थंकर हैं !

चलते हुए जब वे समवसरण के निकट पहुँचे तो दंग रह गए। अष्ट-महाप्रतिहार्य और अलौकिक ऐश्वर्य, महावीर और इस समवसरण ने उस पंडित को एक पल के लिए मूढ़ बना दिया। वे सीढ़ियों के निकट ही अचल खड़े हो अपलक प्रभु को निहारने लगे। सोचा—‘यह मैं कहाँ आ गया? यह महावीर हैं या ब्रह्मा? पर ब्रह्मा तो वृद्ध हैं तो क्या विष्णु हैं? पर विष्णु तो श्याम रंग के हैं और ये तप्त स्वर्ण जैसे स्वर्णिम रंग के। महेश्वर ये हो नहीं सकते क्योंकि वे तो संहारक हैं और इनका चेहरा तो अमृत-रस का झरना है। सूर्य के समान तेजस्वी हैं पर सूर्य नहीं हैं क्योंकि सूर्य तो जला देता है और ये तो शांत हैं। चन्द्र भी ये नहीं क्योंकि चन्द्र तो सकलंक है और ये निष्कलंक हैं। कामदेव अशरीरी है अतः कामदेव भी ये हो नहीं सकते, तो क्या ये ही सर्वगुण-सम्पन्न और सभी दोषों से रहित अंतिम

तीर्थकर हैं? निश्चित ही ऐसा ही है तो फिर मेरा तो यहाँ आना निष्फल हो जाएगा। अब बिना कुछ बोले वापस जाता हूँ तो मेरा तो सारा अर्जित-यश मिट्टी में मिल जाएगा। लोग मुझे 'पलायन करने वाला' कहेंगे। बड़ी भूल कर दी मैंने यहाँ आकर। लौटकर जा नहीं सकता और इन्हें परास्त कर नहीं सकता। अब तो कोई चमत्कार ही मेरे यश, मेरे मान-सम्मान की रक्षा कर सकता है।'

#### □ "सागयं सु आगतं"

इधर गौतम की यह विचारधारा चल रही थी कि तभी प्रभु ने कहा—“हे इन्द्रभूति गौतम! “सागयं सु आगतं।” अर्थात् हे इन्द्रभूति गौतम! 'स्व-पर' कल्याणकारी होने से तुम्हारा आगमन अच्छा है, लाभकारी है।” प्रभु तो सर्वज्ञ थे, जानते थे कि ये दीक्षा लेकर अपनी आत्मा तो भावित करेंगे साथ ही जन-जन के लिए कल्याण का पथ भी प्रशस्त करेंगे।

इन्द्रभूति ने सोचा—‘आश्चर्य है! ये मेरा नाम भी जानते हैं।’ पर कुछ ही पलों बाद विचार आया—‘मेरे नाम को कौन नहीं जानता। मेरे पांडित्य के कारण सारी दुनिया मुझे जानती है।’ उनके अन्दर के अहंभाव ने पुनः सिर उठा लिया था। यह भी मोहकर्म के उदय का ही प्रताप है। कर्म जब तक उदय में नहीं आते, निर्झरित नहीं हो सकते। कर्म कभी स्वतः उदय में आ जाते हैं और भोगे जाकर निर्झरित होते हैं तो कभी साधक उन्हें जबरदस्ती खींचकर उदय में लाने की साधना कर उदीरणा द्वारा उदय में ले आते हैं।

#### □ कर्मोदय के भोग पर रोक व्यर्थ है !

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कर्म उदय में आते हैं पर भोगते समय उन पर रोक लगा दी जाती है। बड़ी खुशी होती है कि चलो आपद् टली, रोग मिटा। क्या वास्तव में आपद् टल जाती है? नहीं, रोकी हुई उस आपद् को तो पुनः आगे या किसी अन्य जन्म में ब्याज सहित भोगना ही पड़ता है।

भगवान महावीर को दीक्षा के पश्चात् पहला उपसर्ग जब आया तो इन्द्र ने उसे बीच में ही रोक दिया। उपसर्ग देने वाला था एक ग्वाला। उसे गौ-दोहन करने अपने घर जाना था। बैलों की एक जोड़ी उसके पास थी, वह उसे साथ ले जाना नहीं चाहता था अतः महावीर के पास छोड़ गया और कह गया कि इनका ध्यान रखना। महावीर तो स्वयं



ध्यानमग्न थे, साधनालीन थे। उन्हें कुछ पता ही नहीं चला कि क्या हो चुका है और बैल थे कि चुपचाप खिसक गए। जानवर थे, चंचल थे, जंगल में चले गए।

गवाला गायों को दुहकर वापस आया तो बैल वहाँ नहीं थे। रातभर इधर-उधर खूब ढूँढ़ा पर वे नहीं मिले। प्रातःकाल उसने देखा तो पाया कि बैल तो प्रभु के पास ही खड़े हैं। सोचा—‘चोर है, बैल लेकर शायद भागना चाहता था। ध्यान तो इसका ढोंग लगता है।’ लिया चाबुक हाथ में। पीटना चाहता था प्रभु को। इन्द्र का आसन डोला। उन्होंने स्वयं आकर गवाले का हाथ पकड़ लिया, रोक दिया उसे, भेज दिया उसे समझा-बुझाकर वापस घर। प्रभु से हाथ जोड़कर इन्द्र ने कहा—“प्रभु! अभी-अभी तो आपने दीक्षा ली है और यह उपसर्ग आ गया। आगे न जाने कितने-कितने, कैसे-कैसे उपसर्ग आयेंगे? आप आज्ञा करें तो मैं आपकी सेवा में रहकर उनसे आपकी रक्षा करूँ, उन उपसर्गों को दूर कर दूँ, रोक दूँ।”

प्रभु बोले—“देवेन्द्र! यह सही है कि तुम इसके लिए सामर्थ्य रखते हो। उपसर्ग आयेंगे और तुम उन्हें रोक लोगे पर यह बताओ कि क्या वे उपसर्ग फिर कभी भी, किसी भी जन्म में पुनः नहीं आयेंगे? क्या तुम उन्हें सदा-सदा के लिए रोक लोगे?”

इन्द्र ने कहा—“ऐसा तो कैसे हो सकता है प्रभु! जिसने भी जो किया है, वह तो उसे भोगना ही पड़ेगा। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों।”

#### □ कर्मोदय जब हो तो.....!

कर्म तो हमें भी भोगने पड़ते हैं और आपको भी। बंधुओं! आप अशुभ कर्मों के उदय में आने पर जब उन्हें भोगते हैं तो मारे व्यथा के पत्थर-पत्थर को याद करते हैं। हनुमान जी को प्रसाद चढ़ाते हैं, भैरूँ जी के मालीपत्रा लगाते हैं, शनिश्चर जी को तेल चढ़ाते हैं, पीतर जी को पानी देते हैं और भी न जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन की मनौती करते फिरते हैं। कभी-कभी तो हजारों-लाखों की परसादी, भोगावली को मिटाने निमित्त लौकिक देवी-देवताओं के चढ़ा दी जाती है। जगह-जगह भटककर रेख में मेख देने का, उदय में आ रहे कर्मों को रोकने का प्रयत्न करते हैं पर पहली बात तो यह कि अधिकांश देवों में इन्हें रोकने की शक्ति ही नहीं होती, कुछेक देवों में शायद हो पर निश्चय समझिए कि सदा-सदा के लिए तो वे भी रोक नहीं पायेंगे, ऐसी शक्ति तो किसी में हो ही नहीं सकती। अस्थायी, किसी सीमित अवधि के लिए उन्हें जबरदस्ती रोका भी तो ब्याज सहित फल भोगना ही

पड़ेगा। अच्छा तो यह है कि उन्हें उसी समय भोग लिया जाए और भोगते समय प्रयत्न किया जाए कि मन समभावों में रमण करे। पुरुषार्थ यदि कर सकें तो बंधे कर्मों को, निर्जरा के १२ भेदों के द्वारा उदय में आने से पूर्व ही उदय में लाकर उन्हें निर्झरित कर दें अथवा उनके रूप को शुभ परिणामों में प्रयत्नपूर्वक परिवर्तित कर दें।

उदाहरण के लिए, मान लें वेदनीय कर्म का उदय आज, कल, परसों कभी भी आगे आने वाले समय में होने वाला है तो उसे उपवास, बेला, तेला आदि तप के रूप में पहले ही भोग लीजिए। वह जब उदय में आता तो जाने क्या गुल खिलाता, किस-किस तरह से कष्ट भोगना पड़ता पर आपने भोग से पूर्व ही उसके रूप का परिवर्तन कर उपवास आदि के रूप में भोग लिया तो वे कर्म निर्झरित हो जायेंगे।

#### □ सम्यग्दृष्टि ही समाधान है

बंधुओं! यदि आपने अपने आप को सम्यग्दृष्टि बना लिया तो ये सारी बातें आप स्वतः करने लग जायेंगे, लौकिक देवी-देवताओं को आपका मनाना, प्रसाद चढ़ाना स्वतः समाप्त हो जाएगा। इसके विपरीत जितने ज्यादा उन लौकिक देवों की मानता रखेंगे, वे देव उतना ही ज्यादा आपको परेशान करेंगे। भूल जाइए इन्हें और पूरी श्रद्धा के साथ देव अरिहंत को मन में स्थान दे दीजिए, कल्याण निश्चित है।

पीपलियाँ-कलां में हमारा चातुर्मास था। मद्रास से एक श्रावक-परिवार गुरु-दर्शनार्थ आया। दर्शन-वन्दन किया। प्रवचन सुना। मध्याह्न में श्राविका ने आकर मुझे कहा—“महाराज! बहुत परेशानी में हूँ इस समय, आप ही कोई मार्ग सुझाइये।”

मैंने बाई से पूछा—“क्या बात है बाई जी?”

उसने बताया—“आपके श्रावक जी के पिण्ड में पीतर आकर विराजमान हो गए हैं। पीतर के साथ और भी कोई है। पूरे परिवार को दुःख दे रहा है। जगह-जगह भटके, टोने-टोटके कराए, हजारों रुपये फूँके पर स्थिति इनकी वैसी की वैसी है। हम सभी पूर्ण रूप से हताश और निराश हो चुके हैं। ये अब काम-धंधे पर जाते नहीं, इनकी अनुपस्थिति में धंधा भी लगभग चौपट हो गया है। मदद करने वाला हमारे और कोई नहीं है। आप ही कुछ करें, बड़ी भारी कृपा होगी आपकी।”

मैंने कहा—“बाई जी! मिथ्यात्वभाव का त्यागकर लौकिक देवी-देवताओं को मनाना, टाणा-टूमणा, डोरा-डांडा बंद कर दीजिए। सम्यक्त्व को धारण करिए। अरिहंत को देव, निर्ग्रंथ को गुरु और केवली-जिन-प्ररूपित वाणी को धर्म मानिए। दृढ़ता से इसका पालन करके देखिए। धर्म का परिणाम, श्रद्धा का फल अवश्य मिलेगा।”

पूरे परिवार ने मिथ्यात्वी देव देवता की पूजा अर्चना करने के त्याग ग्रहण कर लिये। कर्मवाद और वीतराग धर्म पर दृढ़ श्रद्धा स्थिर कर ली।

कल ही उस बहन के समाचार आए। सद्गुरु, सद्धर्म एवं अर्हत में श्रद्धा-निष्ठा तथा धर्म के कार्यों में रुचि बढ़ाने से सारी समस्याएँ हल हो गईं। देवी-प्रकोप अब बिलकुल मिट गया है। स्वास्थ्य सभी का अनुकूल चल रहा है और धंधा भी पटरी पर आ गया है।

बंधुओं! मिथ्यात्व ज्यादा तो कर्मबंधन ज्यादा होंगे ही, दुःख अधिक भोगना ही पड़ेगा पर कुदेवों को मानेंगे ही नहीं, मिथ्यादृष्टि रखेंगे ही नहीं तो कुछ बिगड़ेगा भी नहीं। सम्यक्त्व आ गया, श्रद्धा दृढ़ बन गई—‘अरिहंतो महदेवो’ पर, तो ये लौकिक देव स्वयं आपकी सेवा करेंगे। चाहिए अटूट विश्वास, दृढ़ आस्था, मजबूत श्रद्धा।

कर्मोदय हुआ तो गौतम का अहंकार फिर जग गया—‘मैं जगत्-विख्यात! महावीर तो मुझे जानेंगे ही। फिर विचार किया, नाम तो मेरा सभी जानते ही हैं, नाम से पुकारा तो क्या बड़ी बात? मेरे मन के भावों को जान जाएँ तो मैं मानूँ कि ये सर्वज्ञ हैं।’

#### □ मन की शंका का समाधान

तभी प्रभु बोले—“हे गौतम! क्या तुम्हारे मन में यह शंका है कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं? जब वह घट-पट आदि की तरह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता तो उसका अस्तित्व नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिए। क्या यही बात तुम्हारे मन में है?”

गौतम भाव-विभोर हो गए। उनके मन में इसी समस्या पर विचार-संघर्ष चल रहा था। यही शंका उनके दिल-दिमाग में उठ रही थी। कितना समय हो गया था इस पर चिन्तन करते-करते पर आज तक उन्होंने मन में उठ रही इस शंका को प्रकट नहीं किया था, किसी को बताया नहीं था, प्रभु ने उसे जान लिया। गौतम मान गए कि महावीर निश्चय ही सर्वज्ञ हैं।

### □ 'मैं' की अनुभूति ही आत्मा है !

प्रभु इस पर बोले—“इन्द्रभूते! तुम्हारे अन्तर् में जीव के अस्तित्व और अनास्तित्व की जो ऊहापोह है, उसी से सिद्ध होता है कि जीव है। तुम्हारे मन में यह जो संशय उठा उसका मूल कारण यह है कि तुमने वेद की ऋचाओं के वास्तविक अर्थ को हृदयंगम नहीं किया। वहाँ आया है—

विज्ञानघन एवेतेभ्यो, भूतेभ्यः समुत्थाय ।  
तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति ॥

जहाँ से शंका उत्पन्न हुई वह चीज क्या है? वही तो आत्मा है। तुम जब कहते हो— 'मैं आया, मैं गया, मैं प्रसन्न हूँ, मैं यह करना चाहता हूँ, तो इन सब में यह 'मैं' कौन है? 'अहंब्रह्मास्मि !' यही जो 'मैं' की अनुभूति है, वही तो आत्मा है। आत्मा की ही अभिव्यक्ति है यह 'मैं' शब्द का उच्चारण। ज्ञान, उपयोग एवं चेतना-लक्षण से आत्मा का स्वरूप निर्धारित किया गया है।

### □ गौतम प्रभु चरणों में समर्पित

शंका का समाधान हो गया। आए थे इन्द्रभूति वहाँ प्रभु को परास्त करने पर स्वयं को समर्पित कर बैठे प्रभु चरणों में। आए थे शत्रुभाव लेकर पर नतमस्तक हो गए उनके समक्ष। दंभ था कि वाद करके परास्त करूँगा पर दंभ स्वयं ही नष्ट हो गया। अन्तर् में सद्ज्ञान की ज्योति जल उठी। मिथ्यात्व की कारा को तोड़कर सम्यग्दर्शन के सुखासन पर आसीन हो गये। तन और मन से पंचांग नमाकर बोले—“प्रभु! आप सर्वज्ञ हैं, आपने मेरे मन की गहराई में छिपी शंकाओं का समाधान कर मेरे मन को संतुष्टि प्रदान की है। भगवन्! मैं अब इन पावन चरणों की शरण छोड़कर अन्यत्र कहीं भी जाना नहीं चाहता। आपने मेरे अन्तर् के ज्ञान-चक्षुओं को पूर्णतः उघाड़ दिया है अतः मेरा यह जीवन आपको समर्पित है। मैं आप ही की तरह का साधक-जीवन आपके सान्निध्य में बिताना चाहता हूँ।”

### □ अहा सुहं देवाणुप्पिए !

बंधुओं! प्रभु ने यह नहीं कहा कि फुर्ती से आ जाओ, सुखी बन जाओगे। जो आनन्द साधक जीवन में है, वह अन्यत्र कहाँ? आज तो शिष्य की चाहना में बड़े-बड़े दिग्गज साधक, जिनमें आचार्य एवं उपाध्याय भी हो सकते हैं, जाने क्या-क्या करते हैं और थोड़ी

भी आशा की किरण चमकी तो 'झट बन्दोले पट दीक्षा' करवा देते हैं। प्रभु अत्यन्त धैर्यशाली थे, कामनारहित थे अतः गौतम के कल्याण की भावना से बोले—“हे गौतम! तुम्हें जैसा सुख उपजे वैसा करो, धर्मकार्य में क्षण मात्र का भी विलम्ब मत करो।”

#### □ पाँच सौ शिष्य भी प्रभु-चरणों में समर्पित !

गौतम के साथ थे उनके पाँच सौ विद्यार्थी-शिष्य। गौतम उन्हें कह सकते थे कि मैं जैसा कर रहा हूँ, वैसा ही तुम्हें भी करना है। तुम मेरे शिष्य हो, शिष्य का धर्म है गुरु की आज्ञा का पालन। पर उन्होंने ऐसा नहीं कहा। वे अपने शिष्यों की ओर उन्मुख होकर बोले—“मुझे तो आज मेरे सच्चे गुरुवर की प्राप्ति हो गई है। आज से मेरा समस्त जीवन इन्हीं की चरण-शरण में अर्पित रहेगा। आप सभी एक लम्बे समय तक मेरे पास रहकर वेद-वेदांत का अध्ययन करते रहे। आज से आप लोग किसी अन्य के पास जाकर विद्याध्ययन करना चाहें तो जा सकते हैं, पुनः घर लौटना चाहें तो भी जा सकते हैं, जिसकी जैसी भावना हो वह वैसा करे।”

शिष्य भी गुरु की तरह समर्पित भाव रखने वाले थे। बोले—“गुरुवर! जो आपके गुरु, आज से वही हमारे भी गुरु। आपकी इस साधना-यात्रा में हम भी आपके साथ ही रहेंगे, आपकी सेवा-सुश्रूषा करते हुए महावीर के इसी साधना-पथ पर चलेंगे।”

#### □ आदेश नहीं, उपदेश दें !

बंधुओं! ऐसा होता है तीर्थंकर भगवंतों के अतिशय का महाप्रभाव। होना भी यही चाहिए कि गुरु आदेश न दे अपितु योग्य पात्र को उपदेश मात्र दे। शिष्य यदि विवेकशील है, प्रज्ञावान है तो उपादेय को ग्रहण कर जीवन को सुधार लेगा। कल एक श्रद्धालु भक्त आए और बोले—“गुरुदेव! अमुक व्यक्ति आजकल यहाँ नहीं आते। वे तो आपके (खास) विशिष्ट भक्त हैं, पाट के पागे (स्तंभ) हैं, उन्हें बुलाकर सेवा में रहने के लिए संकल्पित बना दें।”

#### □ आचरण शुद्ध होगा तो खिंचे चले आयेंगे

बंधुओं! हम तो संत हैं। हमारा न कोई विशिष्ट है, न साधारण। मैंने तो कभी किसी को अपना माना ही नहीं, कभी यह भावना नहीं बताई कि अमुक मेरे श्रावक हैं। प्रतिदिन

अनेक बन्धु, अनेक बहनें आती हैं। कोई दर्शन-वन्दन कर चला जाता है, कोई प्रवचन सुन लेता है, कुछ ज्ञान-ध्यान का लाभ लेते हैं। मैं तो उन्हें कम ही जानता हूँ। अरे, हमारे पकड़े हुए आप कब तक पकड़ में रहेंगे। हाँ! हमारा स्वयं का त्याग प्रबल होगा, आचरण यदि शुद्ध होगा तो अभी नहीं तो आने वाले समय में, आज नहीं तो कल श्रावक स्वयं ही खिंचे चले आयेंगे। हममें कुछ विशेष होगा तो आप श्रावक-श्राविकावृन्द में अवश्य समर्पण के भाव उठेंगे, हिलोरें लेंगे।

साधक यदि निर्दोष संयम का दृढ़ता से पालन करता है, त्याग और तप में आगे बढ़ता है तो जहाँ वह विराजमान है, उसके द्वारा परिग्रहीत क्षेत्र में प्रवेश करते ही साधक के अतिशय से क्षेत्र के पुद्गल आगन्तुक को प्रभावित करेंगे। आगन्तुक स्वयं ही अपने दुर्व्यसनों का त्याग करेगा, हठधर्मिता को तिलांजलि देगा, ज्ञान-ध्यान की भावना बनाएगा, जप-तप के विचार रखेगा। उसके अन्तर् में समर्पित भावों का प्रस्फुटन हो जायेगा। ऐसा साधक निश्चय ही अपनी आत्मा का कल्याण करेगा।

मैंने कहीं पर पढ़ा है कि पंडित जी महाराज ने अपने जीवन में कभी किसी को आदेश देकर व्रत-प्रत्याख्यान नहीं कराए। वे आगमज्ञाता एवं सरलता की मूर्ति थे। जहाँ सरलता हो, वहाँ आदेश की आवश्यकता नहीं रहती। कभी-कभी बड़ी विचित्र स्थिति सुनने में आती है। साधक दर्शनार्थी भक्त से अमुक संकल्प (सौगंध) लेने की बात कहता है। भक्त के मना कर देने पर साधक आवेश में आ जाता है। 'इसने आज मेरी बात नहीं मानी, बस, आज से इससे वार्तालाप बंद।'।

#### □ शुद्धात्मा में ही धर्म की स्थिरता

कषाय ने जोर मारा, रोष का प्रादुर्भाव हुआ, मानसिक तनाव हुआ, महाव्रत में दोष लगा। साधक आदेश यदि दें ही नहीं तो यह सब क्यों हो? स्वयं की रमणता में ही लगे रहें साधक तो रोष आने का प्रश्न ही नहीं उठेगा, रोष नहीं आयेगा तो सरलता समाप्त नहीं हो सकेगी, सरलता समाप्त नहीं होगी तो धर्म अन्तर् में टिककर, स्थिर बनकर रह सकेगा। उत्तराध्ययनसूत्र के तीसरे अध्ययन की १२वीं गाथा यही कहती है—

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।

अर्थात् जो ऋजुभूत (सरलता से परिपूर्ण) होता है, उसी की शुद्धि होती है और जो शुद्ध होता है उसी में धर्म स्थिर रहता है।

#### □ दीक्षा : गौतमादिक ग्यारह गणधरों व उनके चवालीस सौ शिष्यों की

सोमिल के यज्ञ में आमंत्रित गौतम के अतिरिक्त अन्य दस महापंडितों ने भी मध्यम पावा के समवसरण में भगवान के समक्ष अपनी शंका का समाधान पाकर दीक्षा ली। ये ग्यारह ही प्रभु के प्रथम शिष्य कहलाए और अपनी असाधारण विद्वत्ता तथा आचारदक्षता के कारण गणधर बने। गणधर तीर्थंकर के संघ के स्तम्भ होते हैं। ये कुशल शब्दशिल्पी भी होते हैं।

गौतमादिक ग्यारह पंडितों ने अपने उन शिष्यों को आदेश नहीं दिया कि यह करो पर उन सभी की पुण्यवानी प्रबल थी, आत्म-बल दृढ़ था, विचारों की शुद्धता का आकर्षण था उनमें अतः उन सभी के शिष्य भी गौतमादिक इन ग्यारह पंडितों के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षित बन गए।

बंधुओं! वर्तमान युग में भी गौतम की भाँति संयम का तेज, पुण्यवानी की प्रबलता और विचारों की शुद्धता का प्रभाव विद्यमान है। आचार्य भूधर जी म. सा. ने जयमल जी से कब कहा था कि तुम ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लो। दे रहे थे सुदर्शन का दृष्टांत। चल रहा था ब्रह्मचर्य का माहात्म्य। सुनकर खड़े हो गए भरी सभा में जयमल जी। हाथ जोड़ दिये और बोले—“आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत दिला दीजिए।” त्यागी, वीतरागी, महाभागी पुरुषों के वचनों का प्रभाव ऐसा ही होता है।

महासती श्री लीलावती जी कहती थीं—“दीक्षा लेनार पोतपोतानी आत्मकल्याणार्थ दीक्षा लिए छे, कोई गुरुगोराणी माटे दीक्षा लेता नथी। तम ने संसारसागर तरवो होय, दावानलसमो संसार छोड़वो होय तो तमे संजम आदरो, अमारे माटे अहसान रूप थवानी जरूरत नथी।”

श्री विजय रामचन्द्र सूरि जी म. सा. ने सैकड़ों व्यक्तियों को प्रतिबुद्ध बनाकर जैन-भागवती-दीक्षा प्रदान की पर कभी किसी को व्यक्तिगत रूप से यह नहीं कहा कि तुम दीक्षा ले लो। बस, प्रवचन मात्र देते और बताते श्रोताओं को पाप का स्वरूप, संसार की विचित्रता व क्षणिकता। दिखाते धर्म-पथ, त्याग का मार्ग, संयम की राह।

गौतम के अतिरिक्त शेष गणधरों का परिचय इस प्रकार है—

## २. अग्निभूति

ये इन्द्रभूति के मँझले भ्राता थे। छियालीस वर्ष की आयु में कर्म अस्तित्व के सम्बन्ध में शंका निवारण होने पर भगवान महावीर की सेवा में पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष तक केवलीपर्याय में विचरण किया और भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व राजगृह के गुणशील उद्यान में मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। आपकी कुल आयु चौहत्तर वर्ष की थी।

## ३. वायुभूति

ये इन्द्रभूति और अग्निभूति के छोटे भाई थे। इन्होंने भी महावीर से शरीर से भिन्न जीव के अस्तित्व का बोध पाकर अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर की सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय इनकी आयु बयालीस वर्ष की थी। दश वर्ष छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरे। भगवान महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पूर्व इन्होंने एक मास के अनशन से सत्तर वर्ष की आयु में गुणशील उद्यान में निर्वाण प्राप्त किया।

## ४. आर्य व्यक्त

इनके पिता का नाम धनमित्र और माता का नाम वारुणी था। ये भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। ये कोल्लाग सन्निवेश के निवासी थे। इन्होंने पचास वर्ष की अवस्था में सर्वत्र शून्य विषयक शंका का समाधान होने पर भगवान महावीर की सेवा में अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया फिर अठारह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरते रहे। राजगृह के गुणशील उद्यान में एक मास के अनशन से अस्सी वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

## ५. आर्य सुधर्मा

इनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम महिला था। ये कोल्लाग सन्निवेश के वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। परभव में एक-सी अवस्था विषयक अपनी शंका का



समाधान पाकर इन्होंने भगवान के पास अपने पाँच सौ शिष्यों सहित दीक्षा ग्रहण की। भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् संघ-व्यवस्था का नेतृत्व आपके पास रहा। भगवान महावीर के निर्वाण के बाद बीस वर्ष पर्यन्त तक ये संघ की सेवा करते रहे। बयालीस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और आठ वर्ष तक केवलीचर्या में रहकर धर्म-प्रचार किया। आपने पचास वर्ष गृहस्थावस्था में व्यतीत किये थे। इस प्रकार कुल एक सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर राजगृह के गुणशील उद्यान में एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया।

#### ६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वशिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजयादेवी था। भगवान महावीर से आत्मा का संसारित्व समझकर इन्होंने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास (३५०) छात्रों के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल में इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सड़सठ वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान के निर्वाण पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवलीपर्याय में रहकर तिरासी वर्ष की अवस्था में गुणशील उद्यान में अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की।

#### ७. मौर्यपुत्र

इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजयादेवी था। ये काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और मौर्य सन्निवेश के निवासी थे। देवलोक सम्बन्धी शंका का समाधान होने से इन्होंने अपने तीन सौ पचास शिष्यों के साथ पैंसठ वर्ष की आयु में भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। चौदह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवलीचर्या में रहकर भगवान महावीर के समक्ष ही ९५ वर्ष की आयु में अनशनपूर्वक गुणशील उद्यान में मुक्ति प्राप्त की।

#### ८. अकंपित

इनके पिता का नाम देव और माता का नाम जयंती था। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे और मिथिला के निवासी थे। इन्होंने अड़तालीस वर्ष की आयु में नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी शंका समाधान होने पर अपने तीन सौ छात्रों के साथ भगवान महावीर

के पास दीक्षा ग्रहण की। नौ वर्ष तक छद्मस्थावस्था में विचरण कर सत्तावन वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष तक केवलीचर्या में रहे। भगवान महावीर के अंतिम वर्ष में अठहत्तर वर्ष की आयु में राजगृह के गुणशील उद्यान में ये निर्वाण को प्राप्त हुए।

### ९. अचलभ्रात

इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था। ये कौशला के हारित गोत्रीय ब्राह्मण थे। ये छियालीस वर्ष की आयु में पाप-पुण्य विषयक शंका का समाधान होने पर अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर के पास दीक्षित हुए। बारह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष तक केवलीचर्या में विचरते रहे। इन्होंने बहत्तर वर्ष की कुल आयु प्राप्त की और राजगृह के गुणशील उद्यान में मासिक अनशन के साथ मुक्ति प्राप्त की।

### १०. मेलार्य

इनके पिता का नाम दत्त तथा माता का नाम वरुणादेवी था। ये वत्स देश के अन्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के निवासी थे। ये कौंडिल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। पुनर्जन्म विषयक अपनी शंका का समाधान होने पर इन्होंने अपने तीन सौ शिष्यों के साथ छत्तीस वर्ष की आयु में भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की। दस वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे, छियालीस वर्ष की आयु में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवलीचर्या में विचरकर भगवान महावीर के जीवनकाल में ही राजगृह के गुणशील उद्यान में बासठ वर्ष की अवस्था में मुक्ति प्राप्त की।

### ११. प्रभास

इनके पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्रा था। ये राजगृह के कौंडिल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। मुक्ति विषयक संदेह का समाधान होने पर इन्होंने सोलह वर्ष की आयु में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण की। आठ वर्ष छद्मस्थावस्था में रहे, सोलह वर्ष केवलीचर्या में विचरे और चालीस वर्ष की आयु में प्रभु महावीर के समक्ष ही राजगृही नगरी के गुणशील उद्यान में एक मास के अनशनादि संथारे से निर्वाण को प्राप्त किया।

यहाँ ध्यान रखने की बात है कि गणधर मंडित और गणधर मौर्यपुत्र, दोनों की माताओं के नाम विजयादेवी थे पर ये दोनों सहोदर नहीं थे, माताएँ दोनों की अलग-अलग पर नाम उनके समान थे।

प्रथम गणधर गौतम मगध के गोबर ग्राम के निवासी थे। इनके पिता थे वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था।

#### □ महावीर का ग्यारह गणधरों को दिया गया प्रथम उपदेश : 'त्रिपदी'

गौतमादि गणधरों ने दीक्षा के पश्चात् ज्ञान-पिपासा को शांत करने और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करने के लिए विनयपूर्वक प्रभु से पृच्छ की—“किं तत्त्वं?” अर्थात् तत्त्व क्या है?

प्रभु ने समाधान देते हुए कहा—“उप्पन्नेइ वा।” अर्थात् उत्पन्न होना।

गौतमादि गणधरों ने विचार किया—‘यदि तत्त्व अर्थात् पदार्थ का अर्थ उत्पन्न होना है, पदार्थ उत्पन्न ही होते रहेंगे यदि, फिर लोक में समायेंगे कैसे?’ उन्होंने प्रभु से पुनः वही पृच्छ की—“किं तत्त्वं?” प्रभु तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी थे। उन्होंने गौतमादि गणधरों के मन की शंका को जान लिया और उस शंका का समाधान करते हुए फरमाया—“विगमेइ वा।” अर्थात् तत्त्व वह जो नष्ट होता रहे। इस पर भी गौतमादि तत्त्व को पूरी तरह समझ नहीं पाए। उनके भीतर में जिज्ञासा उठ खड़ी हुई कि तत्त्व उत्पन्न होकर नष्ट होते रहेंगे तो बचेगा क्या? अतः उन्होंने फिर वही प्रश्न किया—“प्रभु! किं तत्त्वं?”

प्रभु ने उनके मन में उठ रही जिज्ञासाओं को जाना और कहा—“धुवेइ वा !” अर्थात् तत्त्व ध्रुव है, शाश्वत है, सदा विद्यमान रहेगा।

महान् प्रज्ञावान् थे वे ग्यारह ही गणधर। प्रभु द्वारा ‘किं तत्त्वं?’ के समाधान में कही हुई त्रिपदी—“उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा।”—पर वे सभी चिन्तन-मनन करने लगे। बंधुओं! चिन्तन की ऐसी गहराई में गोते लगाए कि जैसे समुद्र में गोताखोर गोता लगाकर बहुमूल्य मोती प्राप्त करते हैं, वैसे ही उन गणधरों ने भी उस त्रिपदी में गोता लगाकर चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

वस्तुतः चौदह पूर्वों के ज्ञान का सार यही है—तत्त्व की जानकारी। प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न परिणाम रूप से उत्पन्न होना व नष्ट होना ही उत्पाद और व्यय है तथा अपनी-अपनी जाति अर्थात् अपने-अपने गुण-स्वभाव को न छोड़ना ही सभी द्रव्यों का ध्रौव्य है। बस, इसी पर मनन-चिंतन से ज्ञानवृद्धि होती रहती है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का चक्र द्रव्य-मात्र में सदैव चलता रहता है। ऐसा कभी हुआ नहीं, होता नहीं कि किसी भी वस्तु मात्र में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य कभी हो व कभी न हो। तत्त्व या द्रव्य में प्रत्येक समय उत्पादादि तीनों अंश अवश्य होते हैं।

एक स्वर्ण-पिण्ड है। उसे तपाया, गलाया और उससे एक कंगन बनाया तो कंगन का उत्पाद हुआ, स्वर्ण-पिण्ड का व्यय हुआ और स्वर्ण-द्रव्य की विद्यमानता रही अतः यह उस स्वर्ण का ध्रौव्य हुआ।

यही बात आत्मा के साथ है। विभिन्न गतियों में उसकी उत्पत्ति की अपेक्षा से उसका उत्पाद है, एक गति त्यागकर दूसरी धारण करने की अपेक्षा से जिस गति को त्यागा है वह उसका व्यय है और आत्मा तो दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है। अतः वह उसकी ध्रौव्यता है।

तत्त्व की ध्रुवता का ध्यान केन्द्र में रखकर उत्पाद-व्यय को पर्याय मानते हुए व्यक्ति समभावों में स्थिर रह सकता है। समभाव आने पर क्रोधादि कषाय-चतुष्क नष्ट हो जाते हैं तब आत्म-कल्याण का पथ प्रशस्त बन जाता है। जो साधक इस तरह अपना जीवन-पथ प्रशस्त करेंगे उन्हें शाश्वत-सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

आनंद ही आनंद !



## गौतम नाम प्रत्यक्ष

आत्म-बंधुओं !

अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन के धारक विश्ववन्दनीय त्रिलोकीनाथ प्रभु महावीर ने इस संसार-सागर को पार करने के लिए भव्य प्राणियों को जो उपदेश दिया, उससे मुक्ति का पथ प्रशस्त हुआ। प्रभु ने बताया कि जिस समय जो कार्य जिस प्रकार से करना श्रेष्ठ होता है, यदि साधक उस समय उसी कार्य को करे तो निश्चित ही वह संसार-सागर से तिर सकता है। मनुष्य जैसा दुर्लभ भव और दुर्लभ श्रुतवाणी के अनेक अवसर प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति समय पर उनका लाभ नहीं उठाता, व्यर्थ में ही दुर्लभ अवसर को यदि गँवा देता है तो यह उसका दुर्भाग्य है। क्योंकि न मालूम यह देव-दुर्लभ मानव-देह फिर कितने-कितने जन्मों के बाद, किन-किन योनियों में भ्रमण कर लेने पर, कितने-कितने प्रकार के दुःख भोग लेने पर, कितनी-कितनी दुर्गतियों में जाने के बाद मिले ?

क्यों व्यर्थ खो देते हैं ऐसा दुर्लभ अवसर। कारण स्पष्ट है—जो जीव अज्ञानी हैं, मिथ्यात्व में रचे-पचे हुए हैं, वे इस अवसर को समझ नहीं पाते। वे न तो इसे पहचान पाते हैं और न अवसरों की उपलब्धता को वे मानते ही हैं।

### □ मोक्ष-प्राप्ति का सरल पथ

आप सभी श्रावक-श्राविकावृन्द तो अवश्य ही संसार-सागर को तैरकर पार जाना चाहेंगे। हम साधु-साध्वीवर्ग यह कामना करते हैं कि आप लोग ऐसा पुरुषार्थ अवश्य करें जिससे भवसागर से पार हो जाएँ। हमारे पूर्व ज्ञानी संतों, ऋषि-महर्षियों, आत्म-कल्याणी महापुरुषों ने हम अज्ञ-अल्पज्ञ-जन पर अनंत उपकार करते हुए उस पार जाने का सरल से सरल पथ बता दिया है। प्रभु कहते हैं—यदि अनशन न कर सको तो ऊणोदरी करो अर्थात् कम खाओ। मारवाड़ में कहावत है—‘कम खाना और गम खाना’ वस्तुतः दोनों ही तपरूप हैं। जो कम न खा सकें वे रस-परित्याग करें अर्थात् वस्तु का स्वाद ले-लेकर नहीं

खाएँ। खाते-पीते धर्म एवं मोक्ष बताने वाले उन विश्व-कल्याणी वीर ने तो यहाँ तक कहा कि आसक्ति के बिना खाना भी तप है। साधक के लिए भोजन करते समय नित्य यह चिन्तन करना आवश्यक है कि “शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनं।” अर्थात् संयम-साधना के लिए मुझे इस हाड़-माँसमय देह को चलाना है अतः इसे खिला दूँ। इस चिन्तन के साथ आहार-ग्रहण करना भी तप है।

शरीर क्या है? शरीर पुद्गलपिंड है, नश्वर है, मरणधर्मा है अतः इसका ममत्व मेरा अहित ही करेगा। ऐसे चिन्तन द्वारा शरीर पर से आसक्ति को हटाना बहुत बड़ा तप है, धर्म है। भीतर में कषायों का उद्वेग आता रहता है, क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार चतुर चोर हैं। इन कषाय-लुटेरों से अपनी रक्षा करते हुए कषायों को शनैः-शनैः घटाना और हटाना भी तप है। प्रभु ने कोई एक रास्ता नहीं, अनेक-अनेक रास्ते, मुक्ति-पथ हमें दर्शाए हैं।

कितने व्रत, कितने प्रत्याख्यान हैं जैनधर्म में! आपकी रुचि के अनुसार एक या एकाधिक धारण करिए। कितनी प्रकार से होते हैं व्रत-प्रत्याख्यान? आप सुनते हैं, गुनते हैं पर चिन्तन की धारा में उसे उतारते नहीं हैं। हम भी खूब सुनाते और सिखाते हैं पर आपका तो प्रण है कि जो ज्यादा आ गया उसे (उस ज्ञान को) विस्मृति गर्भ में डालेंगे ही क्योंकि रटते हैं जिसे उसे समझने का प्रयत्न तक नहीं करते। इसका परिणाम अनेक बार बहुत ही कष्टप्रद होता है।

#### □ मूर्ख न पावे ज्ञान (कथा-प्रसंग)

एक बहेलिया नित्य जाल लेकर जंगल में पक्षियों को पकड़ने के लिए जाता था। वह दाना डालता, जाल बिछाता और छुपकर बैठ जाता। संध्या तक उन दानों को चुगने के लोभ में अनेक छोटे-बड़े पक्षी आते और जाल में फँस जाते तब बहेलिया अपने छुपने के स्थान से बाहर आता। पक्षियों समेत जाल समेटता, घर आकर उन्हें जाल से निकाल पिंजरों में डाल लेता और समय आने पर बेच देता।

एक दिन तोतों का एक बड़ा झुण्ड दानों के लोभ में उस जाल में फँस गया। फँसने से पूर्व यद्यपि एक वृद्ध तोते ने “इस जंगल में इतने दाने एक जगह बिखरे हुए हैं, आश्चर्य की बात है। लगता है दाल में कुछ काला है अतः कोई नीचे न उतरे” कहकर चेतावनी दे दी थी पर किसी ने सुनी नहीं और सुनी भी तो ध्यान नहीं दिया।

अब जब फँस गए जाल में तो पश्चात्ताप करने लगे कि व्यर्थ नीचे उतरे, वृद्ध बाबा ने कितना मना किया पर हमारी ही बुद्धि पर पत्थर पड़ गए थे। अब तो मृत्यु निश्चित ही है। मृत्यु के भय ने सभी को उदास, हताश, निराश बना दिया था। इतने में उसी वृद्ध तोते ने फिर कहा—“सुनो मेरे बंधुओं! एकता में बहुत बड़ी ताकत होती है। यदि हम एक साथ मिलकर पूरा जोर लगाते हुए इस जाल को ही ले उड़ें तो शायद बच जाएँ। ताकत तो पूरी खर्च करनी होगी पर परिणाम भी सुखद ही होगा।”

इस बार सभी ने वृद्ध की बात मान ली। शिकारी ने चारों ओर से जैसे ही जाल को खुला किया, वृद्ध ने आवाज कर संकेत दिया तो सभी ने एक साथ सम्पूर्ण ताकत लगाई और जाल सहित उड़ चले। उन्मुक्त गगन में पंख-पसार स्वच्छंद विचरण करने वाले वे विहंग आज जाल-बद्ध होकर उड़े जा रहे थे। कुछ देर पश्चात् दूरी पर उन्हें एक कुटिया नजर आई। वृद्ध तोते के कहने पर सभी उस कुटिया के निकट उतर गए।

उस कुटिया में एक संन्यासी रहता था। कुटिया के बाहर तोतों को जाल में फँसा देख उसे उन पर दया आ गई। उसने अत्यन्त श्रमपूर्वक एक-एक कर सभी को जाल-मुक्त किया। तोते तब से अपने कृपानिधान संत के आसपास ही रहने लगे। ऋषि ने तोतों को देख विचार किया कि तोते तो कुछ सीख ही सकते हैं। मैं ऋषि हूँ। मेरा तो कार्य ही सिखाना और जीव मात्र का कल्याण करना है।

बंधुओं! अन्य पक्षी तो ज्ञान ग्रहण नहीं करते पर तोते सिखाने पर सीख जाते हैं। आप कहेंगे—‘राम-राम’ तो तोता भी बोलने लगेगा—‘राम-राम’। ऋषि-महात्मा ने विचार किया कि यदि मैं इन्हें जाल से बचने की बात सिखा दूँ तो इनका परम हित होगा। अब वे तोतों को नित्य सिखाने लगे—“शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा लेकिन फँसना नहीं।” बार-बार ऋषि इन शब्दों का उच्चारण तोतों के समक्ष करते तो तोते भी इन्हीं शब्दों को दुहराते—“शिकारी आएगा.....फँसना नहीं।” ऋषि का उद्देश्य तो ठीक ही था। आचार्य श्री जीतमल जी म. सा. ने भी कहा है—

**ठोकर लगते एक ही, समझे चतुर सुजान ।  
ठोकर पर ठोकर लगे, मूर्ख न पावे ज्ञान ॥**

तोते भी ठोकर खा चुके थे, दुबारा मूर्खता न कर बैठें ऋषि को यही डर था। बड़े प्रयत्नपूर्वक उसने तोतों को सिखा दिया—“शिकारी आएगा.....फँसना नहीं।” तोतों ने भी उसे अच्छी तरह रट लिया। अब वे नित्य बार-बार इन्हीं वाक्यांशों को बोलते रहते।

एक बार फिर बहेलिया उधर आया। उसने दाना डाला, जाल बिछाया और प्रतीक्षा करने लगा कि कोई आएगा और फँसेगा जाल में। तोते आए दाना देखा उन्होंने। वे पहले निकट के पेड़ों पर बैठे और बोलने लगे—“शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा लेकिन फँसना नहीं।” वे बोलते जाते और फुदक-फुदककर जाल के निकटतर होते जाते। अंत में वे दाने के लोभ में आ गए। टूट पड़े दानों पर लेकिन दाना मिलने से पूर्व ही फँस गए जाल में। फँस तो गए पर आश्चर्य फँसने के पश्चात् भी बोलते रहे—“शिकारी आएगा, दाना डालेगा, जाल बिछाएगा लेकिन फँसना नहीं।”

#### □ महावीर ने यह कब कहा.....?

बात तोतों की है पर समझना आपको है। क्या आपका ज्ञान भी वही रटन ज्ञान तो नहीं है? क्या आप नहीं जानते कि संसार दुःखों का कारण है और दुःखों का सागर भी? चाहे कोई वृद्ध हो, चाहे युवा, किसी से भी पूछे विवाह के गठबंधन के बारे में तो सभी यही कहेंगे कि “इस जैसा कोई मजबूत बंधन नहीं है, भोग जैसा कोई भयंकर रोग नहीं है।” जानते सभी हैं, मानते भी हैं, कहते भी रहते हैं अर्थात् रटन भी सही है पर फिर भी वहीं जाकर फँसते हैं, उसी बंधन में बँधते हैं। जानते हैं पाप है, यह भी जानते हैं कि फल बुरे होंगे पर अधिकाधिक पापकार्य करते जाते हैं। कितना अंतर है आज के मानव की कथनी और करणी में।

आज अनेक व्यक्ति यह कहते हैं कि जैनधर्म का पालन बड़ा कठिन कर्म है। मैं समझता हूँ यह उनकी भूल है जो ऐसा कहते हैं। शायद उन्हें जिनधर्म की पूरी जानकारी नहीं है। अरे! वीतराग प्रभु ने कब कहा कि “मानव! सब कुछ छोड़ दे, सर्वस्व त्यागकर सभी से नाता तोड़ दे। स्थानक में चला जा और सारे दिन मुँह बाँधकर बैठ जा।”

#### □ जैसी शक्ति वैसी भक्ति

प्रभु ने तो जैसा जिसका सामर्थ्य है वैसा ही उसके लिए कर्म निर्धारण किया है। आपमें से जिन्हें पच्चीस बोल का स्तोक आता है, वे जान सकते हैं कि व्रत-प्रत्याख्यानादि ४९



प्रकार से लिए जा सकते हैं। कितनी छूट, कितने विकल्प आपके लिए रखे हैं प्रभु वीर ने। जैसी शक्ति, जैसी आपकी इच्छा उसी के अनुरूप व्रत और उसका प्रकार चुन लीजिए। त्याग जब भी होता है उसमें करण और योग का उल्लेख अवश्य आता है। तीन हैं करण—स्वयं अमुक पापकार्य का त्याग करता हूँ, दूसरों से अमुक पापकार्य करवाने का त्याग करता हूँ और जो अमुक पापकर्म में रत हैं मैं उनकी अनुमोदन का भी त्याग करता हूँ। तीन करण की तरह योग भी तीन हैं—मन, वचन और काया।

उदाहरणार्थ आपने अमुक सावद्य कार्य का एक करण एक योग से त्याग किया। ऐसा त्याग नौ प्रकार से संभव है—(१) पापकार्य करूँगा नहीं मन से, (२) पापकार्य करूँगा नहीं वचन से, (३) पापकार्य करूँगा नहीं काया से, (४) पापकार्य कराऊँगा नहीं मन से, (५) पापकार्य कराऊँगा नहीं वचन से, (६) पापकार्य कराऊँगा नहीं काया से, (७) पापकार्य का अनुमोदन न मन से करूँगा, (८) पापकार्य का अनुमोदन न वचन से करूँगा, (९) पापकार्य का अनुमोदन न काया से करूँगा।

‘करूँगा नहीं वचन से’ जब कहा जाता है तो उस प्रकार के पापकार्य के लिए आप मौन धारण कर लेते हैं। मौन करना भी त्याग की श्रेणी में आया है और व्रत हो गया है।

बंधुओं! व्रत धारण करने की अपेक्षा से आप देवों से भी ऊपर हैं, अतः विशिष्ट हैं। सम्यग्दृष्टि जीव नरक में भी पाए जाते हैं और देवलोक में भी पर वे व्रत धारण नहीं कर सकते। अतः मेरा आप सभी से यही कहना है कि बनना है तो मनुष्य बनिए, देव मत बनिए और नरक के नेरिए तो बनिए ही मत। मानवता को यदि आपने अपने अन्तर् में सँजोए रखा तो सत्य-पक्ष आपके भव-भ्रमण को कम करने वाला सिद्ध होगा।

#### □ भाव-वन्दन; जन्म के साथ मरण भी सुधारे

वीतराग वाणी को आधार मानकर संसार-परित्त करने एवं मोक्ष-सुख की प्राप्ति करने का एक सरलतम उपाय है—गुणियों का भाव-वन्दन। आचार्यसम्राट् श्री जयमल जी म. सा. ने अपनी प्रातःस्मरणीय रचना ‘बड़ी साधु वंदना’ में ऐसे ही गुणीजनों का भाव-वन्दन किया है। जिन्होंने भी भावपूर्वक इसका पठन-पाठन किया है, उन्हें प्रत्यक्ष सुफल भी मिला है।

ज्ञानगच्छीय श्री सुगन मुनि जी म. सा. के सांसारिक मातुश्री जो जयगच्छीय उपासक श्री खेमचन्द जी लोढ़ा (हरसोलाव वाले) की धर्मपत्नी हैं, उन्होंने गुरुदेवश्री से नियम लिया था—“जब तक शरीर में शक्ति रहेगी और स्मरण-शक्ति साथ देगी, मैं नित्य प्रातः ‘बड़ी साधु वंदना’ का पाठ करूँगी।” संकल्प लेकर उस श्राविका ने नित्य पाठ प्रारम्भ किया जो निरन्तर चलता रहा। कुछ वर्षों पूर्व जब गुरुदेवश्री का पुनः जोधपुर पदार्पण हुआ तो श्राविका ने सन्देश भिजवाया—“गुरुदेव! शीघ्र पधारकर दर्शन दिरावें। मेरे चढ़ते परिणाम हैं।” इस पर पंडितरत्न श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. श्राविका के घर पधारे। बाई ने वन्दन किया, मुनिश्री ने मांगलिक पाठ सुनाया और पूछा—“अब बोलो बाई जी, क्या भाव है?”

श्राविका ने कहा—“गुरुदेव! आगे चढ़ते परिणाम हैं। जब तक शक्ति थी, ‘बड़ी साधु वन्दना’ का पाठ किया। शक्ति समाप्त प्रायः हुई तो अपने बेटे-बेटी-बहुओं से सुनती रही। अब तो लगता है समय निकट है। मेरे तो संथारा करने की भावना है। सुखे-सुखे सुगति की ओर गमन करने की लालसा प्रबल हो उठी है।”

उन्होंने संथारा लिया, संथारा सुखसाता से समाधिपूर्वक सीझ गया, उन बाई ने पंडितमरण को वरण किया।

ऐसे पाँच-छह अन्य उदाहरण भी हैं। इस ‘बड़ी साधु वंदना’ के नित्य स्वाध्याय करने से भावों में चढ़ते परिणामों की ऐसी धारा बहती है कि यह जन्म, यह मानव-जीवन सुधर जाता है। आत्मा में सरलता एवं विशुद्धता बढ़ती जाती है। जीवन-शुद्धि के साथ ही मरण के समय अवश्य संलेखना-संथारा की भावना उठती है और तब जन्म के साथ मरण भी सुधर जाता है।

#### □ पुरुषार्थ लगाती है रेख में मेख

बहनें ब्याह के बाद ससुराल जाती हैं तो माता, पिता एवं सभी बड़े पारिवारिकजन उसे एक ही आशीर्वचन कहते हैं—“ससुराल जाकर यश लेना।” यश लेना किसी के हाथ की बात नहीं होती। यशोकीर्ति-नामकर्म का बंधन कभी हुआ हो, वह उदय में आए तो यश मिलता है। यदि अपयश-अपकीर्ति-नामकर्म का बंध पहले हुआ है तो अच्छे से अच्छे कार्य करने पर भी यश के स्थान पर अपयश ही मिलेगा। अनेक भाई-बहन कहते सुने जाते

हैं कि हमारे तो जस-रेख ही नहीं है। नव-विवाहित बहन की स्वयं की एवं उसके परिवारजनों की प्रथम चिंता यही रहती है कि देखें यश मिलता है या नहीं ?

बंधुओं! पुरुषार्थ के द्वारा यश-रेखा बदली भी जा सकती है। जोधपुर के ही एक बुद्धिजीवी हैं जो हस्तरेखा-ज्ञान भी रखते हैं। दीक्षा-पूर्व जब मैं यहाँ संतवृन्द के सान्निध्य में आया करता था तब मेरे मन में दीक्षा लेने की भावना का प्रस्फुटन हो चुका था। ऐसे समय एक दिन उन्होंने मेरा हाथ देखा और बोले—“पदम! क्यों महाराज के पीछे-पीछे घूम रहा है? तेरे हाथ में तो दीक्षा की रेखा ही नहीं है फिर तू दीक्षा ले ही कैसे सकता है?”

मैंने उनका चेहरा पढ़ा, वहाँ दृढ़ता के भाव थे। मैंने मेरा मन टटोला तो पाया, संकल्प वहाँ भी मजबूत है। वस्तुतः मैं इससे पूर्व मंदिरमार्गी आचार्य श्री गुणरत्न सूरि जी के सान्निध्य में आयोजित तीन शिविरों में भाग ले चुका था। वहाँ ही दीक्षा के भाव बनने लगे थे। संयोगवश महामंदिर में जयमल शिक्षण संस्थान ने शिविर का आयोजन किया तो मैं भी कुछ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा से वहाँ शिविरार्थी बन गया। वहीं मुझे इन गुरुदेव आगम विवेचक पंडितरत्न श्री पार्श्वचन्द्र जी म. सा. के सान्निध्य और इनकी महती कृपा से सम्यक्त्व का प्रसाद मिला जिससे मैं उधर से इधर मुड़ सका। अब मुझे यह कहा जा रहा था कि दीक्षा का योग नहीं है।

“यदि दीक्षा ले लूँ तो आप क्या करेंगे?” मैंने कहा।

“ऐसा होगा नहीं और तुमने ऐसा कर दिखाया तो मैं भविष्य में कभी किसी का हाथ नहीं देखूँगा, ज्योतिष-ज्ञान का उपयोग नहीं करूँगा।” वे बोले।

पुरुषार्थ से सब कुछ संभाव्य है। मैंने दृढ़ निश्चय बना लिया। दीक्षा हो गई। मेरे ख्याल से उन्होंने भी अपने वचन की पूर्ति हेतु उस दिन से हस्तरेखाओं से ज्योतिष-ज्ञान फैलाना छोड़ दिया होगा। तात्पर्य यह कि पुरुषार्थ द्वारा सब कुछ किया जा सकता है। आप भी पुरुषार्थ करें तो रेख में मेख लगा सकते हैं, कर्मों को भोगने से पूर्व ही उन्हें क्षय कर सकते हैं। इसी को तो कहते हैं रेखा बदल देना।

#### □ प्रत्यक्ष को प्रमाण क्या ?

‘सम्यक्त्व-पराक्रम’ में उल्लेख आता है कि वन्दना करने से उच्च गोत्रकर्म का उपार्जन होता है और नीच गोत्रकर्म का यदि बंध है तो क्षय होता है। प्रमाण मत माँग बैठना

आप क्योंकि जो प्रत्यक्ष है उसके लिए प्रमाण की कैसी आवश्यकता। 'बड़ी साधु वंदना' का स्वाध्याय प्रैक्टिकली (Practically) करिए एक माह तक, फिर स्वयं देखिए कैसे आप यश के भागी बन जाते हैं। परिवार में किस तरह शांति स्थापित हो जाती है। किस तरह से लोग आपको चाहने लगते हैं। ऐसा सुखद परिणाम सामने आयेगा कि स्वतः लोगों में आपके प्रति आस्था, विश्वास, श्रद्धा पैदा हो जाएगी।

#### □ वीतराग वाणी पर श्रद्धा क्यों नहीं?

यह श्रद्धा ही तो दुर्लभ है। आज व्यक्ति डॉक्टर पर विश्वास करके अपने प्राणों को उसके हाथों सुपुर्द कर देगा। मुँहमाँगी फीस देगा। हो सकता है दवा प्रतिक्रिया (Reaction) कर जाए, इन्जेक्शन पक जाए, चिकित्सा के मध्य प्राण चले जाएँ पर विश्वास फिर भी बना रहेगा।

कोर्ट में केस (Case) चल रहा है। आपका वकील आपका केस लड़ रहा है। आप अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी जो बातें नहीं बताते, वे ही बातें अपने वकील पर पूर्ण विश्वास कर उसे बता देते हैं और केस लड़ने का उसे भरपूर धन भी अदा करते हैं।

ऐसे ही बंगला बनाने वाले इंजीनियर और कारीगरों पर, अपने ड्राइवर पर और भी न जाने किन-किन पर विश्वास करते हैं फिर वीतराग-वचनों पर ही विश्वास क्यों नहीं करते? कारण शायद यही है कि इसका कोई शुल्क नहीं देना पड़ता, कोई फीस नहीं लगती, कोई धनराशि नहीं चुकानी पड़ती। राज्य के बाहर से आप चुंगी चुकाने योग्य सामान मँगाते हैं और चुंगी नहीं चुकाते तो चोर की गिनती में आते हैं। क्या आप जानते हैं कि स्थानक में आकर वीतराग वाणी सुनने की भी चुंगी होती है? नहीं चुकाते यदि आप उस चुंगी को सम्यक् प्रकार से तो क्या आप चोर नहीं हैं?

#### □ केशी श्रमण और राजा प्रदेशी

'रायपसेणीसूत्र' में राजा प्रदेशी का बड़ा विस्तृत वर्णन मिलता है। केशी श्रमण ने उन्हें तब प्रतिबोध दिया था जब वह घोर पापी, मिथ्यात्वी, अज्ञानी था। राजा प्रदेशी जब उद्यान में गए तो वहाँ केशी श्रमण विराजमान थे। उन्हें देख राजा भी कुतूहलवश उनके निकट चले गए और खड़े होकर प्रश्न पूछने लगे। न शिष्टाचार, न विनय, न वंदन। केशी श्रमण ने सुना और कहा—“राजन्! तुम चोर हो।”

राजा ने सोचा—‘यह कैसा श्रमण है जो मेरे ही राज्य में स्थित मेरे ही उद्यान में बैठकर मुझे ही चोर बता रहा है। शायद इन्हें स्थिति का ज्ञान नहीं है। भूल से कह दिया है।’ पूछ लिया—“यह कैसे?”

केशी श्रमण बोले—“राजन्! क्या तुम्हारे राज्य में बाहर से आने वाली वस्तुओं पर चुंगी वसूल की जाती है?”

राजा—“हाँ, की तो जाती है।”

केशी श्रमण—“और जो चुंगी बिना चुकाए, राज्य में चोरी-छुपे माल ले आए तो क्या कहेंगे उसे?”

राजा—“वह कर-वंचक है, अतः चोरी का अपराधी है। उसे उसके चौर्यकर्म का दंड दूँगा।”

केशी श्रमण—“जिस भूमि में तुमने अभी प्रवेश किया है, वह भूमि इस समय हमारी निःश्राय में है। उसमें प्रवेश करने पर चुंगी चुकानी होती है। तुमने वह चुंगी नहीं चुकाई अतः इस अपेक्षा से क्या कहा जाए तुम्हें? क्या तुम चोर नहीं हो?”

राजा प्रदेशी ने संकेत को समझ लिया और तब उन्होंने केशी श्रमण को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वन्दन किया।

#### □ वन्दन नहीं करना भी अदत्तादान

सम्यक् वन्दन बिना किए स्थानक में आना, बैठना, मुनिराज के प्रवचनों को सुनना भी ‘अदत्तादान’ दोष है। वीतराग प्रभु का धर्म जितनी सरलतापूर्वक करणीय है, उसमें पापकर्मों के लिए दंड-विधान (कर्मबंध) उतना ही कठोर है। आपकी पाठशालाओं में पढ़ने वाले छात्र-छात्रा, आपकी सन्तानें यदि किसी कक्षा में पुरुषार्थ न करने पर परीक्षा में अनुत्तीर्ण हों तो उन्हें उसी कक्षा में रोक दिया जाता है। पाँचवीं कक्षा में फेल होने वाला पाँचवीं में ही रखा जाता है। चौथी में नहीं उतारा जा सकता। वीतराग प्रभु का सिद्धान्त ऐसा नहीं है कि आगे नहीं बढ़ो तो वहीं के वहीं। यहाँ तो जिस श्रेणी (गुणस्थान) में आप-हम हैं, उसकी सम्यक् पालना यदि नहीं की तो नीचे की श्रेणी में भी धकेले जा सकते हैं।

### □ महावीर की यूनिवर्सिटी में

आपका गुणस्थान अर्थात् श्रेणी-कक्षा है पाँचवीं। कक्षा का नाम है देशविरति सम्यग्दृष्टि कक्षा। अर्थात् सम्यक् प्रकार से आंशिक रूप में व्रतों का आराधन, नहीं किया यदि आराधन सम्यक् प्रकारेण तो चौथे गुणस्थान में आ सकते हैं, और नीचे गिरे तो मिथ्यात्वरूप पहली कक्षा में भी धकेले जा सकते हैं।

प्रभु के धर्मरूप विश्वविद्यालय में जब डिग्री प्राप्त कर लेता है साधक तो वह सर्वज्ञ बन जाता है। आपके विश्वविद्यालयों में १४वीं कक्षा उत्तीर्ण करने पर डिग्री देते हैं। हमारे वीतराग धर्म में भी १४वीं कक्षा (१४वाँ गुणस्थान) पार कर लेने पर सर्वज्ञ की डिग्री मिल जाती है, मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। आपके विश्वविद्यालय की शिक्षा में तो फिर भी कुछ सीखना शेष रह जाता है पर वीतराग प्रभु की कक्षा १४ के पार निकल जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

बंधुओं! मोक्ष से बढ़कर भला अन्य कौन-सी डिग्री हो सकती है? आपको इस डिग्री के लिए यदि शुरूआत करनी है तो वन्दना से शुरू कर दीजिए। द्रव्य-वन्दन तक ही सीमित न रहे वन्दना। वन्दना में भावों की धारा को खुलकर बहने दीजिए। रोम-रोम में जब हर्षितभाव होंगे तो वन्दना स्वतः सुफलदायी हो जाएगी। 'बड़ी साधु वन्दना' में अनेक स्थलों पर भावपूर्वक वन्दन की सुस्थिति बन रही है। अनेक महापुरुषों को वन्दन के क्रम में महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति 'गौतम' का गुण-कीर्तन द्वारा वन्दन चल रहा है।

### □ गौतम नाम प्रत्यक्ष

गौतम मिथ्यात्व की कक्षा में थे। मन में शंका का बवंडर था। प्रभु के दर्शन किए, अमृतवाणी का पान किया, समस्त सन्देह मिट गए। मोहकर्म की ७० कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति में से ६९ कोटाकोटि सागरोपम से अधिक की स्थिति क्षय हो गई। मिथ्यात्व नष्ट हो गया, सम्यक्त्व का उदय हुआ। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ ही शरीर, मन, आत्मा तक में, रोम-रोम में अद्भुत आनंद की स्थिति व्याप्त हो गई। कहा है—

गगने नाम गौ शब्द थी, तत्ते सुरतरु वृक्ष।

मम्मे नाम चिन्तामणि, गौतम नाम प्रत्यक्ष ॥

### □ गौतम नाम माहात्म्य

गौतम उनकी जाति-गोत्र था अतः उपनाम हुआ। व्यक्ति उपनाम से अधिक प्रसिद्ध होता है। इसे आप ऐसे भी कह सकते हैं कि ज्यादा प्रसिद्धि होने पर लोग उन्हें पूरे नाम के स्थान पर उपनाम (जाति-गोत्र) से ही अधिकांशतया चिह्ते हैं। गौतम शब्द में तीन अक्षर हैं—गौ, त, म। 'गौ' का अर्थ होता है गाय। यहाँ यह साधारण गाय के अर्थ में नहीं अपितु कामधेनु के अर्थ में आया है जिसके दुग्ध में अमृत का प्रभाव है। 'त' का अर्थ है तरु। इसका भी विशिष्ट तरु अर्थात् कल्पतरु के लिए यहाँ प्रयोग हुआ है। 'म' का तात्पर्य मणि अर्थात् चिंतामणि रत्न से है। कल्पवृक्ष मनवांछित फल देने वाला और चिंतामणि प्रत्येक चिन्ता का अंत करने वाला होता है। गौतम नाम का प्रभाव भी कुछ ऐसा ही है। आप बोलते भी हैं—

अंगुष्ठे अमृत बसे, लब्धि तणा भंडार।

श्री गुरु गौतम सुमरिए, मन वांछित फल दातार ॥

प्रश्न होता है उनके नाम का ऐसा दिव्य प्रभाव क्यों? कारण है उस महापुरुष के दिव्य जीवनादर्श, भव्य-गुण! प्रभु के प्रति कैसा अद्भुत समर्पणभाव! कैसी अटूट श्रद्धा! कितना विनय! जब भी गौतम प्रभु से कोई प्रश्न करते, पहले प्रदक्षिणायुक्त वन्दन करते। नीचे बैठकर करबद्ध होकर, दृष्टि प्रभु के चरणों में स्थिर रखते हुए प्रश्न करते। कितने-कितने प्रश्न हैं? सोचिए कितनी-कितनी बार वन्दन करते होंगे। इसे कहते हैं समर्पणभाव का वन्दन।

पूज्य आचार्यप्रवर श्री रायचन्द्र जी म. सा. ने अपनी महान् चमत्कारी अमर रचना 'गौतम-रास' में गणधर श्री गौतम स्वामी के गुणों का गुण कीर्तन करते हुए कहा है—

गोरा ने घणा फूटरा जी, कंचन कोमल गात जी।

देह ज्यांरी दिपु-दिपु करे जी, देवता पिण कितरीक बात जी ॥

रोगरहित काया सात हाथ जी, सेवा कीधी ज्यां दिन-रात जी।

घणा रह्या गुरु जी रे साथ जी, पृच्छा कीधी जोड़ी दोनूं हाथ जी ॥

कहि जावे कठा तक बात जी, ज्यारे वीर माथे दिया हाथ जी ॥

श्री गौतम स्वामी में गुण-घणां ॥

विनयवंत गौतम लब्धिवंत भी थे। तप, क्रिया एवं ज्ञान से वे अलंकृत थे किन्तु उनका हृदय अभिमान से रहित था। उनमें थी अद्भुत सरलता और निराग्रहवृत्ति। वे सत्य-शोधन के लिए पल-प्रतिपल सजग रहते थे। उनके दिव्य जीवन का एक उज्ज्वल प्रसंग इस कथन का जीता-जागता प्रमाण है।

प्रभु महावीर के अनन्य भक्त व्रतधारी श्रावक आनंद सांसारिक प्रवृत्तियों को त्यागकर आजीवन अनशन करके जीवन के अंतिम क्षणों को जिस समय साधना में लगाए हुए थे उस समय वाणिज्य ग्राम के द्युतिपलास नामक उद्यान में प्रभु महावीर साधु-संघ सहित पधारे। गौतम गणधर बेले के पारणे हेतु गोचरी के लिए भ्रमण करते हुए कोल्लाग मौहल्ले के निकट से गुजरे तो जन वार्त्तालाप में एक चर्चा सुनी। इस चर्चा में आनन्द की अंतिम आराधना की प्रशंसा अधिक थी।

गौतम के हृदय में यह सब सुनकर आनंद श्रावक से मिलने की इच्छा हुई। वे कोल्लाग सन्नवेश में निर्मित आनंद के आराधना भवन में पहुँचे। गणधर गौतम को आते देख श्रावक आनन्द भाव-विभोर हुए। हर्ष से हाथ उठा, अंजलिबद्ध कर उन्हें नमन किया और बोले— “भगवन्! मैं शरीर से अत्यन्त दुर्बल, क्षीण और अशक्त हूँ अतः विधिवत् उठकर वन्दना नहीं कर पा रहा हूँ। अतः आप ही स्वेच्छया निकट पधारें जिससे मैं विधियुक्त चरण-वन्दन कर सकूँ।”

दोनों में कुछ देर तात्त्विक प्रश्नोत्तर हुए। अचानक आनन्द ने पूछा— “भगवन्! क्या गृहस्थ को अवधिज्ञान हो सकता है?”

गौतम बोले— “आनन्द! श्रावक को अवधिज्ञान हो सकता है।”

इस पर आनन्द ने पुनः निवेदन किया— “प्रभु! मैं पूर्व, पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवण-सागर में पाँच सौ योजन तक के क्षेत्र को अवधिज्ञान से देख और जान रहा हूँ। उत्तर दिशा में चुल्लहिमवंत वर्षधरगिरि पर्यन्त देख और जान रहा हूँ। ऊपर सौधर्म स्वर्गलोक तक और नीचे प्रथम रत्नप्रभा की लौलुच पृथ्वी तक देख व जान रहा हूँ।

गौतम विस्मित हुए। एक श्रावक को इतना विराट् अवधिज्ञान? वे बोले— “आनन्द! गृहस्थ को जितना तुमने बताया, उतने विशाल परिमाण में अवधिज्ञान नहीं हो सकता। मुझे तो यह तुम्हारा असत्य-कथन लगता है। तुम्हें अपने मिथ्या-भाषण के लिए आलोचना करनी चाहिए, प्रायश्चित्त लेना चाहिए।”



इस पर सरलमना आनन्द ने कहा—“भंते! क्या सत्य-तथ्य कथन करने वालों को भी प्रायश्चित्त लेना पड़ता है? भगवन्! सत्य तो यह है कि मेरा कथन सत्य-तथ्यपूर्ण है अतः आप अपने कथन पर चिन्तन करें, मुझसे कोई अविनय हुआ हो तो क्षमा करें।”

गणधर गौतम सकपका गए। मन शंका से भर गया। तुरन्त महावीर के निकट पहुँचे, वंदन कर विनयपूर्वक पूछा—“स्वामिन्! गाथापति आनन्द के कथनानुसार उन्हें अमुक-अमुक परिमाण तक का अवधिज्ञान हुआ है। क्या गृहस्थ को इतना विशाल और विशुद्ध अवधिज्ञान हो सकता है? क्या आनन्द का कथन सत्य है?”

प्रभु ने तब कहा—“गौतम! आनन्द का कथन सत्य है। उन्हें भावों की श्रेष्ठता से इतना विशुद्ध अवधिज्ञान हुआ है। अतः तुम्हें अपने असत्य कथन का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए।”

गौतम ने सहजता से पूछा—“प्रभु! क्या प्रायश्चित्त करूँ?”

सर्वज्ञ महावीर ने कहा—“जाकर आनन्द से अपनी भूल के लिए क्षमायाचना कर लो।”

बंधुओं! कैसे थे वे गुरु और कैसे थे उनके गणधर गौतम जैसे महान् विनयवान, सरल, शांत, सौम्य, गुणवान शिष्य! मन में किसी प्रकार की ऊहापोह किए बिना तत्काल पुनः आनन्द श्रावक की पौषधशाला में गए एवं सरल मन, निष्कपटभाव, निरहंकारपूर्वक उनसे क्षमायाचना की और आनन्द की आराधना की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

पूज्य आचार्य श्री लालचन्द्र जी म. सा. ने ‘गौतम चालीसा’ में गणधर गौतम के गुणकीर्तन करते हुए कहा है—

मानहि को तुम विनय बनावा । तिहिं ते अथ-इति शुभ फल पावा ॥  
छट्ट-छट्ट तप करत सदाई । पारण तृतीय पहर खुद जाई ॥  
आलस नाहिं, नहिं हुकम चलावा । नायक चउद सहस मुनि व्हावा ॥  
प्रकृति-सुलभ बालहिं बतलावा, इंद्रभूति इन्द्रादि नमावा ॥  
जहाँ खले तहं जब सुधि लेइ । आनन्द श्रावक को खामेइ ॥  
प्रतिबोधक तुम निज-पर जन के । कई प्रमाण हैं सूत्र-वचन के ॥  
गुरु दीक्षित श्री केशी मुनि सा । पास जिनेसर के शुभ सीसा ॥

कैसा महान् व्यक्तित्व! भूल स्वीकार करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं! तप के पारणे की चिन्ता को छोड़ भूल के लिए प्रायश्चित्त को प्राथमिकता दी। वस्तुतः गौतम का सम्पूर्ण जीवन ही विनय का साक्षात् प्रतिरूप था। समर्पणभाव उनके जीवन का मूल मंत्र था। वंदन, स्मरण, ध्यान, तप, जप सभी में समर्पण का अतिरेक, पूर्ण श्रद्धा, असीम विनय!

#### □ ध्यान से आत्म-कल्याण

प्रभु नाम का स्मरण, जाप, ध्यान आप भी करते हैं पर कितना अन्तर? सुधार की आवश्यकता है। स्थिरचित्त हों, एकदम सीधे (खड़ी कमर) बैठें, गुरु भगवंत विद्यमान हों तो दृष्टि उन पर अन्यथा अपने नासाग्र पर स्थिर करें। आपको स्वतः अनुभूति होगी कि अब जाप में कितनी शक्ति आ गई है। ध्यान में यह स्थिति हो गई तो पंच-परमेष्ठी के प्रतीक पाँच रंग स्वतः आँखों के समक्ष आ जायेंगे।

दृष्टि यदि स्थिर है, मन एकाग्र है तो तीसरा नेत्र खुलने के पूरे अवसर हो जाते हैं। तीसरे नेत्र के खुलने का तात्पर्य है केवलज्ञान की प्राप्ति। ये दो नयना स्थिर हो गए तो मन चंचलता छोड़ देगा। मन यदि नियंत्रित हो गया तो उसका आत्मा के साथ एकमेक होना, क्षीर-नीर की भाँति बनना सुनिश्चित है। इसके पश्चात् तो आत्म-रमणता की स्थिति बन जायेगी, उत्तरोत्तर श्रेणी चढ़ती रहेगी, हम अपने लक्ष्य के सन्निकट पहुँचते जायेंगे। अंततः लक्ष्य को अर्थात् सिद्धत्व को प्राप्त होंगे।

आत्म-चिंतन करिए कि इस आत्मा का हित किसमें है? कैसा बनाना है आत्म-प्रदेशों को? चिन्तन करने पर जो भी निष्कर्ष निकले, जिसमें भी आत्म-हित दृष्टिगत हो, वैसा ही बनने का प्रयास प्रारम्भ कर दें तो आत्म-कल्याण निश्चित है।

आनन्द ही आनन्द!



## वैराग्य मन आणी

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम्।  
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

आत्म-बंधुओं !

भव बीजांकुर के विनाशक, सत्य के सर्जक और संसार-तारक जिनेश्वर देव को इस स्तुति-पद में वन्दन किया गया है। कौन हैं हमें मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाले? कैसे ले जाते हैं वे हमें मोक्ष की ओर? क्या जैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को अपने साथ ले जाता है कि चल वहाँ चलते हैं, वैसे ही ले जाते हैं या किसी वृद्ध, रोगी, अशक्त को हाथ पकड़कर, सहारा देकर कहीं ले जाते हैं उस प्रकार से? नहीं, मोक्षमार्ग की ओर ऐसे नहीं ले जाया जा सकता। पहली बात मोक्ष-पथ की ओर वही साधक ले जा सकता है जिसने कर्मरूपी पहाड़ को हटा दिया हो अर्थात् चार घातिकर्मों को जिसने नष्ट (क्षय) कर लिया हो। ऐसे महासाधक जीव-जीवादि तत्त्वों के यथातथ्य ज्ञाता होते हैं। वे ही बता पाते हैं कि कैसे तो नवीन कर्मों की आवक को रोकना और किस प्रकार पिछले बंधे हुए कर्मों को तोड़ना?

जो महापुरुष ऐसे हैं और यही पथ अन्यान्य को दर्शाकर मुक्ति की ओर अग्रसर करते हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ। मैं उन्हें वन्दन इसलिए करता हूँ कि उनमें जो गुण हैं, उन्हें अपने अन्तर् में उतारने के लिए प्रयत्नशील रह सकूँ और वे गुण मुझमें भी प्रकट हो जायें।

□ कितने अनासक्त हैं आप?

आप भी वैसे ही गुणग्रहण कर मोक्ष-पथ पर चलना चाहते होंगे पर उससे पहले अपने अन्तर् को टटोलिए—कितने अनासक्त बन चुके हैं आप इस संसार से? मैं तो यही सोचता हूँ कि आप सभी पूर्ण रूप से अनासक्ति के मार्ग पर हैं। मेरी बात एक उदाहरण द्वारा सिद्ध करता हूँ। किसी पिक्चर-हॉल में पिक्चर देखने जायेंगे। आपसे आगे बैठने पर कम पैसे लिए जायेंगे। क्या आप आगे बैठेंगे? नहीं, आप बैठेंगे बॉक्स या बॉलकनी में, पैसे चाहे दुगुने

लगे या तिगुने। धर्मस्थान में प्रवचन चल रहा है। प्रवचन श्रवण के पैसे नहीं देने पड़ते। यहाँ श्रोताओं की कोई कक्षा नहीं है। जो पहले आया, आगे बैठ गया। जो पीछे आया, पीछे बैठ गया। अब यदि कोई कहें कि भाई! आप पीछे बैठ जाइये। कोई तैयार होगा क्या? नहीं, सभी आगे बैठना चाहेंगे।

आपकी भावना में बल है, आप प्रवचन सुनने के बहुत इच्छुक हैं पर सुनने के बाद चुनने के प्रश्न पर आप पीछे सरक जाते हैं और जब तक चुनकर जीवन में उपादेय को स्थान नहीं देंगे तब तक श्रवण का फल कैसे मिलेगा? यही बात वन्दन में है। जिनको वन्दन, उनके जीवन से गुणग्रहण का भाव यदि नहीं तो वह वन्दन ही क्या? गुणग्राहकता का यह भाव विशेष रूप से मानव में ही आ सकता है।

#### □ मानव-भव प्राप्ति के चार कारण

चार होती हैं गतियाँ, इनमें दुर्लभ है मनुष्यगति। मानव-भव पाने के लिए प्रबल पुण्यवानी का उदय होना चाहिए। कितने-कितने जन्मों तक, कितने-कितने प्रयत्न सद् एवं श्रेष्ठ कार्यों में किये होंगे तब मानव-भव की प्राप्ति हुई होगी। कारण के बिना कोई कार्य हो नहीं सकता। मानव-भव में आने के भी चार कारण शास्त्रकारों ने बताए हैं।

उपासकदशांगसूत्र में प्रभु महावीर ने आनंद गाथापति को धर्मदेशना करते हुए कहा—  
“एवं खलु चउर्हि ठाणोहिं मणुस्सेसु पगइभइयाए, पगइविणीययाए, साणुक्कोसयाए, अमच्छरियाए।”

१. जो जीव प्रकृति से भद्र हो, सरल हो। स्वभाव में उसके ऋजुता हो। जो व्यक्ति कथनी और करणी में अन्तर नहीं लाते। कभी जिनसे पापकार्य भी हो जाये तो बड़ों के सम्मुख प्रकट करने में वे अंशमात्र भी नहीं हिचकिचाते।

२. विनयशीलता का होना भी मनुष्यगति-प्राप्ति का एक कारण बनता है। विनय वहीं प्रकट होता है, जहाँ अन्तर् में सरलता का स्रोत प्रस्फुटित हो। विनय-गुण के जीवन में प्रकट होते ही दुर्गतियों पर रोक लग जाती है। मिलती है देवगति, यदि नहीं मिले तो मानवगति में तो रिजर्वेशन निश्चित समझिये।

मनुष्यगति-प्राप्ति का तीसरा कारण है दयालुता एवं सहृदयता; तथा चौथा कारण है अमत्सरभाव।

गौतम कितने सरल प्रकृति के थे, कितनी विनम्रता थी उनमें! हममें भी वैसी सरलता, वैसा विनय आ जाये तो मुक्ति-पथ प्रशस्त बन जाये। ऐसे ही सरल, विनम्र, संयमी, तपस्वी साधकों को वन्दन करते हुए आचार्य श्री जयमल जी म. सा. महागुणियों का गुणानुवाद अपनी 'बड़ी साधु वन्दना' में कर रहे हैं—

श्री ऋषभदेव ना, भरतादिक सौ पूत।

वैराग्य मन आणी, संयम लियो अद्भूत ॥९॥

केवल उपजाव्युं, कर करणी करतूत।

जिन मत दीपावी, सगला मोक्ष पहूंत ॥१०॥

इस अवसर्पिणी काल की तीर्थकर-चौबीसी के आदि तीर्थकर थे भगवान आदिनाथ अर्थात् प्रभु ऋषभदेव। इस अवसर्पिणी काल के प्रथम आरे के चार कोटाकोटि सागरोपम और दूसरे आरे के तीन कोटाकोटि सागरोपम बीत चुके थे। तीसरा आरा दो कोटाकोटि सागरोपम का होता है, वह भी लगभग बीत चुका था। अत्यल्प समय अवशिष्ट रहने पर (८४ लाख पूर्व ३ वर्ष ८ माह १५ दिन अवशिष्ट थे तब) माता मरुदेवी की कुक्षि से महाराज नाभि जो कुलकर थे, के यहाँ प्रभु का अवतरण हुआ। वैदिक ग्रन्थों में नाभि को सातवाँ मनु मानकर ऋषभ को उनका पुत्र माना गया है।

#### □ आदि तीर्थकर—आदिनाथ ऋषभ

महाराज नाभि तक युगलिक काल था। एक युगल (पुरुष-स्त्री) के एक युगल (लड़का-लड़की) पैदा होते थे। युवा होकर वे ही पति-पत्नी के रूप में जीवन बिताते हुए एक युगल को जन्म देते थे। ऋषभ के जन्म के साथ युग ने करवट बदलनी आरम्भ की तो युगानुरूप व्यवस्था-परिवर्तन करना अत्यावश्यक बन गया। प्रभु ने युगलिक धर्म को समाप्त कर जनता को असि, मसि व कृषि कर्म सिखाया। समाज में नवीन रीति-रिवाजों का प्रचलन कर सामाजिक व्यवस्थाएँ स्थापित कीं। विवाह पद्धति का प्रारम्भ किया गया। 'हकार, मकार, धिक्कार' जैसी दण्डनीति की जगह 'जैसा अपराध वैसा दण्ड' देकर नयी दण्ड-पद्धति का निरूपण किया। स्त्रियों के लिए चौंसठ एवं पुरुषों के लिए बहत्तर कलाओं का ज्ञान सुलभ करवाया। लिखने के लिए ब्राह्मी लिपि, अक्षर व्याकरण आदि का ज्ञान दिया।

### □ भरत-बाहुबलि आदि सौ ऋषभ-पुत्र

ऋषभ के विवाह की उचित समय पर देव-देवेन्द्रों ने रचना की। ऋषभ का युगलोत्पन्न सुमंगला एवं बाल्यावस्था में अकाल मृत्यु प्राप्त एक युगलिक पुरुष के साथ उत्पन्न कन्या, जिसका राजा नाभि ने राजघराने में पालन-पोषण किया था, उस सुनन्दा के साथ विवाह शक्रेन्द्र ने विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करवाया। सुमंगला के प्रथम युगल के रूप में भरत एवं ब्राह्मी हुए। सुनन्दा ने बाहुबलि एवं सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया। दोनों के प्रथम युगल उत्पन्न होने के पश्चात् सुमंगला के ४९ युगल और हुए। ये सभी पुत्र ही थे। इस प्रकार सुमंगला ने ९९ पुत्रों एवं एक पुत्री को तथा सुनन्दा ने एक युगलिक पुत्र-पुत्री को जन्म दिया।

प्रभु के परिवार की अनन्त पुण्यवानी। सभी महापुण्यवान् जीव, सभी चरमशरीरी हुए। भरत चक्रवर्ती बने। बाहुबलि बल, रूप आदि में भरत से भी श्रेष्ठ थे। सभी ने संयम लिया। भरत ने केवलज्ञान पहले पाया, संयम बाद में लिया। शेष ने पहले संयम अंगीकार किया फिर केवली बने।

### □ जिन्हें चाहिए था स्थायी राज्य

भरत-बाहुबलि को छोड़कर शेष ९८ भाइयों के संयम-ग्रहण करने का निमित्त क्या था? वह निमित्त था भरत का चक्रवर्ती बनने का प्रयत्न। चक्रवर्ती बनने से पूर्व छह खण्डों का अधिपति बनना पड़ता है। जीतना पड़ता है छह ही खण्डों के समस्त राजा-महाराजाओं को। विजय यात्रा से पूर्व भावी चक्रवर्ती के आयुधागार में 'चक्रायुध-रत्न' उत्पन्न होता है। भरत जी को तीन बधाइयाँ एक साथ प्राप्त हुईं। सर्वप्रथम सेवक ने आकर चक्ररत्न-प्राप्ति की सूचना दी, तभी उद्यान का रखवाला प्रभु ऋषभ को केवलज्ञान-प्राप्ति के समाचार लेकर उपस्थित हुआ, इसी के साथ राजमहल से संदेश प्राप्त हुआ कि भरत जी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। हर्ष के संदेश लाने वालों को बहुत सारा धन पुरस्कारस्वरूप देकर महाराज भरत जी ने सर्वप्रथम कैवल्य महोत्सव मनाया, फिर पुत्र-जन्मोत्सव।

भरत महाराज ने पहले पुत्र-जन्मोत्सव नहीं किया। क्योंकि वह तो संसार वृद्धि का कारणभूत है। पुत्र के कारण कितने पाप किये जाते हैं, वंश वृद्धि के नाम पर क्या नहीं किये जाते हैं? अनन्तकाल से पुत्र-जन्मोत्सव कर रहे हैं। परन्तु उससे वांछित क्या फल प्राप्त

हुआ ? हर जीव सन्तानोत्पत्ति से आल्हादित होता है। यह एक वासना का प्रतीक है, उसकी अनुमोदना है। यह एक रागासक्ति नहीं तो क्या है ? चक्ररत्न की उत्पत्ति पर भी महोत्सव पहले नहीं किया क्योंकि यह चक्र ही तो संसार चक्र का द्योतक है। अगर कोई इसके ऊपर मूर्च्छाभाव रखता है, उसका संसार चक्र बढ़ जायेगा।

आत्म-कल्याण को महत्व देते हुए पहले केवल कल्याणक महोत्सव को ही प्राथमिकता दी, वही भवसागर से पार करने में सहायक भूत जिनवाणी रूप नौका है। भरत महाराज ने बहुत ही उल्लासपूर्वक केवल कल्याणक महोत्सव किया।

पुत्र-जन्मोत्सव मनाकर वे आयुधागार में गये। वहाँ विधिवत् चक्ररत्न की पूजा-उपासना की। अब वे चले छह ही खण्डों पर विजय प्राप्त करने। आगे-आगे चक्र, पीछे-पीछे भरत जी एवं उनकी सेना। छह ही खण्डों में सभी ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली फिर भी वे चक्रवर्ती नहीं बन पाये, चक्र आयुधागार से बाहर ही रहा। विचार करने लगे—यह क्या बात हुई ? मैंने सम्पूर्ण धरती के छह ही खण्डों पर विजय का डंका बजा दिया इस पर भी मुझे चक्रवर्ती पद प्राप्त नहीं हो सका। कहाँ है अवरोध, क्या है बाधा ? इस पर अधिष्ठायक देव ने आकर निवेदन किया—“आपने सभी राजा-महाराजाओं पर आधिपत्य तो कर लिया पर जब तक आपके सहोदर आपकी अधीनता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक आप चक्रवर्ती नहीं बन पायेंगे।”

भरत ने सुना, विचार किया, सहोदर हैं मेरे पर चक्री भी बनना है मुझे। आधिपत्य तो उन पर भी करना ही होगा। सन्देश भेज दिया अपने अट्टाणु सहोदरों के पास कि मेरी अधीनता स्वीकार करो और सुखपूर्वक राज्य का भोग करो। सभी सहोदर एकत्रित हुए। विचार करने लगे—‘हमें यह राज्य तो पूज्य पितृवर ने प्रदान किया है फिर भाई भरत कौन होता है, हमें अपनी अधीनता में रखने वाला ? उन्हें तो प्रभु ने वनिता (अयोध्या) का राज्य दिया है, वे भोगें अपने राज्य को, हम उनका राज्य तो नहीं माँग रहे हैं पर हमें भी हमारे छोटे-छोटे राज्यों का राज-सुख भोगने दें, यह अधीनता वाली बात कहाँ से आ गई ? क्या करना चाहिए ? हम उनकी अधीनता तो नहीं मानेंगे फिर रास्ता क्या है ?’

बहुत चिन्तन एवं विचार-विमर्श करने के पश्चात् वे सभी प्रभु के पावन चरणों में उपस्थित हुए। दर्शन-वन्दन कर सभी ने प्रभु को अपनी समस्या सुना दी। कहा—“प्रभो!

बड़े भैया भरत बहुत लालची बन गये हैं। आपने हमें जो-जो राज्य दिये, वे हमारे उन राज्यों को भी अपनी अधीनता में रखना चाहते हैं। अब हम क्या करें? आप ही कोई समाधान दें।”

प्रभु ने कहा—“जो राज्य अभी तुम लोगों के पास हैं, वे मैंने दिये हैं, यह ठीक है पर अब मैं तुम सभी से कहता हूँ कि तुम्हें कौन-सा राज्य चाहिए—स्थायी या अस्थायी?”

सभी ने समवेत स्वर में कहा—“प्रभो! हम तो स्थायी राज्य ही चाहते हैं।”

प्रभु ने कहा—“स्थायी राज्य है मोक्ष का राज्य। अभी तक जिन राज्यों के अधिपति बनकर तुम लोगों ने सांसारिक सुखों का भोग किया है, वे राज्य नश्वर हैं, क्षणिक हैं। युद्ध में परास्त होने पर राज्य जा सकता है, राज्य के लोभ में कोई तुम्हारा ही हितैषी यह राज्य तुमसे छीन सकता है, मृत्यु के बाद तो सब यहीं पड़ा रह जायेगा। केवल मोक्ष का राज्य ही ऐसा राज्य है जो नित्य है, शाश्वत है। न उसे कोई छीन सकता है, न एक बार प्राप्त करने पर वह किसी अन्य के पास जा सकता है। वह कभी नष्ट नहीं होता। सदा-सदा के लिए वह तुम्हारा ही बन जायेगा।”

वे सभी ऋजु-हृदय थे। प्रभु का उपदेश, जैसे कोरे घड़े में जल समाहित होता है, उसके समान उनके भीतर में उतर गया। उन सभी ने वहीं प्रभु के निकट संयम अंगीकार कर लिया। उत्कृष्ट साधना कर वे सभी केवली बने तथा मुक्ति को प्राप्त हुए।

#### □ भरत-बाहुबलि युद्ध, बाहुबलि स्वयं दीक्षित

भरत जी ने बाहुबलि जी को भी संदेश भेजा। बाहुबलि ने संदेशवाहक से कहा—“मैं अपने उन अट्टाणु भाइयों की भाँति राज्य त्यागकर भागने वाला नहीं हूँ। अपने महाराज से जाकर कह देना कि बाहुबलि को अधीन बनाना सरल कार्य नहीं है। हमारी सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार हैं। पहले वे मुझसे युद्ध करें फिर देखें, कौन किसकी अधीनता स्वीकार करता है?”

सन्देश भरत को मिला। भरत सेना लेकर चल दिये। दोनों सेनाएँ आमने-सामने थीं। युद्ध प्रारम्भ हो गया। यह युद्ध लम्बे समय तक चलता रहा पर हार-जीत का निर्णय नहीं हो सका। दो भ्राताओं के इस महायुद्ध ने इतिहास को पलटकर रख दिया। शक्रेन्द्र ने जब यह देखा तो अन्त में वे स्वयं युद्ध-स्थल पर उपस्थित हुए। उन्होंने भरत एवं बाहुबलि को



समझाया—“आप दोनों जरा विचार करिए, इस युद्ध ने एक साधारण बात के लिए कितने सैनिकों के प्राण हरण कर लिये, कितने हताहत हो गये, कितना घमासान हो रहा है। आखिर इतनी हिंसा, इतना पाप क्यों? निर्दोष सैनिकों के प्राणों को इस तरह गाजर-मूली की भाँति मिटा देना तो अच्छी बात नहीं। आप दोनों को शक्ति-परीक्षण ही करना है तो युद्ध बन्द करवाकर आप दोनों नरेश आपस में द्वन्द्व (एक-दूसरे से भिड़न्त) कर लीजिये।”

दोनों ही नरेशों ने इन्द्र की बात मान ली। द्वन्द्व-युद्ध प्रारम्भ हुआ। भरत और बाहुबलि में पहले दृष्टि-युद्ध हुआ फिर मल्ल-युद्ध हुआ तब दण्ड-युद्ध, वाग्-युद्ध और मुष्टि-प्रहार-युद्ध हुए। इन पाँच प्रकार के द्वन्द्व के निर्णायक अनेक दिग्गज गणमान्य नरेशों के साथ बहुत-से देवता भी थे। सभी द्वन्द्व-युद्धों में बाहुबलि की विजय हुई। मुष्टिका-प्रहार-द्वन्द्व में पहले भरत ने मुष्टि-प्रहार किया बाहुबलि पर तो बाहुबलि घुटनों तक जमीन में धँस गये फिर बाहुबलि ने प्रहार किया, भरत कंधों तक धरती में धँस गये।

पाँच ही प्रकार के इन द्वन्द्व-युद्धों में अपने को पराजित देख भरत क्रोध में आ गये। विवेक नष्ट हो गया। अविचारपूर्वक उन्होंने चक्र को याद किया और उसे बाहुबलि को लक्ष्य कर चला दिया, कहा चक्र से—“जाओ, मेरे शत्रु का सिर काटकर लाओ।” चक्ररत्न था, उसके अपने कुछ नियम थे। एक हजार देवों से सेवित मनुष्य भले विवेक विसरा दे किन्तु यह देवाधिष्ठित चक्र-रत्न गोत्र की घात नहीं करता है अपनी मयार्दा में रहने वाला। वह बाहुबलि की तीन परिक्रमा कर पुनः भरत के पास लौट आया। एक ही गोत्र का सम्बन्ध जहाँ हो, वहाँ चक्र निष्प्रभावी रहता है अतः वार नहीं करता। व्यक्ति अनीति कर सकता है पर देवाधिष्ठित वस्तुओं में अनीति का चलन नहीं होता।

बाहुबलि ने भरत को चक्र चलाते देखा और अपने को शत्रु कहते सुना। चक्र को पुनः लौटकर भरत के पास जाते देखा। अपने भ्राता के इस अविवेक को देख वे भी अत्यन्त क्रोध में भर गये। वे मुष्टि बंद कर दौड़ पड़े भरत की तरफ, सोचा—‘अब इसको जीने का कोई अधिकार नहीं है।’ उधर ‘बलेन्द्र’ और ‘चमरेन्द्र’ सोचते हैं—‘यदि बाहुबलि ने इस समय अपनी बंद मुष्टि का प्रहार भरत पर कर दिया तो अनर्थ हो जायेगा।’ वे दोनों मिलकर बाहुबलि का हाथ पकड़ लेते हैं और समझाते हैं कि भरत चक्रवर्ती बनेगा। यह उनका जीत-कल्प है। आप इसे बदल नहीं सकते अतः क्रोध छोड़ दीजिये और उन पर प्रहार का संकल्प त्यागिए।

बाहुबलि सुनते हैं तो चिन्तन की धारा प्रवाहमान हो जाती है। संकल्प में परिवर्तन आ जाता है। प्रहार के लिए सिर से ऊपर उठाई गई मुष्टि, बिना प्रहार तो कैसे रहे? उन्होंने चिन्तन की धारा में डूबते हुए उस स्थिति को प्राप्त किया, जिसे हम वैराग्यभाव कहते हैं अर्थात् संसार से विरक्ति। हाथ अब नीचे आया तो सिर के पास रुक गया। बाहुबलि ने उसी हाथ से अपने केशों का लुंचन किया जो इस बात का प्रतीक था कि मैंने अपने मन पर आई कालिमा को साफ कर दिया है। वे भोगी से योगी बन गये, बाह्य शत्रुओं को परास्त करते हुए आत्म-शत्रुओं को परास्त करने वाली श्रेणी में आ बैठे।

भरत ने तीन भव पूर्व चक्रवर्ती-नामकर्म का उपार्जन किया था। इस भव में चक्रवर्ती थे फिर बाहुबलि से क्यों परास्त हो गये? बाहुबलि में उनसे, एक चक्रवर्ती से भी अधिक बल कैसे और क्यों था? इस तरह के प्रश्नों का मन में उठना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों के हल के लिए हमें दोनों के पूर्वभव को जानना होगा।

अपने पूर्वभव में भरत एवं बाहुबलि दोनों के ही जीव ने संयम लेकर साधुधर्म का निर्दोष पालन किया था। दोनों तपस्वी भी थे। भरत का जीव साधक भव में ५०० मुनियों के लिए गोचरी, दवा, वस्त्र-पात्र आदि लाकर देता फिर पारणा करता था। जबकि बाहुबलि का जीव उस साधु संज्ञा में ५०० मुनियों की वैयावृत्य करके फिर रुग्ण मुनियों की सेवा-सुश्रूषा कर पारणा करता था। यही कारण है कि बाहुबलि को चक्रवर्ती भरत से भी अधिक शारीरिक शक्ति प्राप्त हुई।

#### □ चरमशरीरी भरत

भरतादिक सौ भ्राता थे। निन्यानवे दीक्षित हो गये तो भरत के चक्रवर्ती बनने का रास्ता भी साफ हो गया। अब भरत चक्रवर्ती बन गये पर ऐसा भी वर्णन मिलता है कि बाहुबलि की दीक्षा के पश्चात् भरत जी ने यह सोचकर कि मैंने ही अपने निन्यानवे भाइयों को राज्य-सुख से वंचित कर उन्हें अपने-अपने राज्यों से भगाया है, बहुत विलापात किया। वे फूट-फूटकर रोये और अपने को धिक्कारते रहे। इस विलापात एवं आत्म-धिक्कार ने उनके कर्मभार को हल्का बनाना प्रारम्भ कर दिया। राज्य, धन-सम्पत्ति, परिवार आदि समस्त पदार्थों-व्यक्तियों के प्रति उनके मन का आसक्तिभाव कम हो गया। उन्होंने राज्य को भोगा पर निरासक्त (अनासक्त) भाव से। उनका यह अनासक्तिभाव निरन्तर उनके कर्मभार

को हल्का और हल्का बनाता रहा। यह अनासक्ति योग ही उनके चार घातिकर्मों के नष्ट करने में निमित्त बना।

एक बार भरत चक्री प्रभु के दर्शनार्थ पधारे। समवसरण लगा हुआ था। बारह प्रकार की परिषदा बैठी थी। उन सभी को देखकर भरत ने विचार किया—‘धन्य हैं ये सभी लोग, जो प्रभु का प्रवचन श्रवण कर रहे हैं और त्याग-प्रत्याख्यान द्वारा अपनी आत्मा को भावित कर रहे हैं। कोई व्रत धारण कर रहे हैं, कोई तपस्या के प्रत्याख्यान ले रहे हैं, कोई अपने दुर्व्यसनों को त्याग रहे हैं। एक मैं हूँ कि न व्रत कर सकता हूँ, न प्रत्याख्यान तपादि कर सकता हूँ। मैं तो केवल राज्यसुख में डूबा हुआ हूँ जबकि यह राजेश्वरी ही तो नरकेश्वरी होती है।’

उनके मन में तभी एक जिज्ञासा जाग्रत हुई—‘मेरा क्या होगा? निश्चित ही दुर्गति में जाना पड़ेगा।’ जिज्ञासा उठी तो समाधान के इच्छुक बन प्रभु से प्रश्न कर दिया—“प्रभो! मेरा क्या हाल होगा? यह राजसुख मुझे कौन-सी दुर्गति में ले जायेगा?”

प्रभु ने कहा—“भरत! तुम चरमशरीरी जीव हो, इसी भव में केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर भव-बंधन को तोड़, समस्त कर्मबन्धन को काटकर मुक्तिपुरी में जाओगे।”

### □ श्रोता जो बना सरौता

समवसरण में तो प्रभु का महातेजस्वी, महाप्रभावी अतिशय था अतः किसी का कुछ बोलना संभव ही नहीं था। भरत के लिए मोक्ष, यह सभी ने सुना पर सभी ने उसे अलग-अलग ढंग से ग्रहण किया। श्रोता भी अनेक तरह के होते हैं। मुख्यतया उन्हें हम तीन भेदों में बाँट सकते हैं—एक वे जो ध्यानपूर्वक सुनकर जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील बनते हैं। ये होते हैं वास्तविक **सच्चे श्रोता**। दूसरे वे जो प्रवचन, वाणी, सत्संग में जाते तो हैं पर निद्रा की तन्द्रा में झोंके खाते रहते हैं। संतों के मुख से निःसृत वाणी उनके लिए माता के मुख से निकली लोरियों की तरह होती है। ये **श्रोता नहीं सोता** होते हैं। तीसरे वे हैं जो एक-एक वचन बड़े ध्यान से सुनते हैं, सुनने के बाद बाल की खाल निकालते हैं पर विपरीत ढंग से। वचनों में छिद्र ढूँढ़ना, अन्याय प्रयुक्त कर सीधी बात को उल्टी बताना, निन्दा-विकथा करना आदि काम ऐसे ही श्रोता करते हैं। वे वस्तुतः **श्रोता नहीं सरौता** होते हैं, बात को काटकर रख देने वाले।

प्रभु की देशना में भी एक स्वर्णकार सरौता जैसा श्रोता था, तीसरे प्रकार का। प्रभु की देशना सुनकर सीधा बाजार गया। दुकान पर बैठ तो गया पर धंधे की जगह जीव उन्धे विचारों में घूम रहा था। जो भी आता दीखता, आवाज देकर बुलाता और पूछता—“सुनी प्रभु की देशना ? कुछ ध्यान दिया या नहीं ? आज तो मोक्ष के पट्टे वितरित किये गये थे।” अब सुनने वाला प्रश्न करता—“किस-किस को किए गये थे ?” स्वर्णकार बताता—“किसे क्या ? जो प्रभु के जितना ज्यादा निकट है, उसे ही तो मिलेंगे। दूसरों को तो मिले सो मिले, भरत को भी दे दिया। एक तरफ तो प्रभु फरमाते हैं—राजेश्वरी सो नरकेश्वरी और दूसरी तरफ चक्रवर्ती भरत के लिए मोक्ष ? जिस चक्रवर्ती के चौके में प्रतिदिन भोज्य पदार्थों को बनाने में एक लाख मन नमक काम में आता है, उसको कितना आरम्भ-समारम्भ लगता होगा। जीवन में कितने युद्ध, कितनी हिंसा उसे करनी होती है। इतने बड़े राज्य का संचालन करने में कितने पापों का बोझ चढ़ता होगा उस पर। इतना सब होते हुए भी पुत्र है न प्रभु का, कृपा तो होगी ही। पाटवी-पुत्र पर कृपा नहीं होगी तो किस पर होगी ? जिसे नरक मिलना चाहिए, उसे मोक्ष दे दिया।”

कोई यदि कहता कि मैं तो स्वर्णकार महोदय, आज प्रभु की देशना में जा ही नहीं सका। इस पर स्वर्णकार कहता—“नहीं गये तो चूक गये। जरूर जाना था। आज तो वहाँ.....।” और फिर वही रेकार्ड प्रारम्भ हो जाती। स्वर्णकार का इस तरह बात करना, नगर में चर्चा का विषय बन गया। बात राज्य के गुप्तचरों ने भी सुनी। गुप्त रूप से पता लगाया तो सारा प्रकरण सामने आ गया।

### □ उसे मिली उचित शिक्षा

नायक-गुप्तचर ने भरत जी को सूचित किया। भरत चक्री ने विचार किया—‘स्वर्णकार के चिन्तन का ढंग ही विपरीत दिशा में है। इस चर्चा से नागरिकों पर तो बुरा प्रभाव पड़ेगा ही प्रभु का एवं धर्म का पक्ष भी व्यर्थ बदनाम होगा। इस स्वर्णकार को उचित शिक्षा मिलनी चाहिए।’

राजसेवकों को भेज उसे बुलवाया। पूछ उससे कि क्या तुम्हीं ने यह सब कहा था ? स्वर्णकार ने स्वीकार किया। राजा ने एक कटोरा मँगवाया। उसे तेल से लबालब भरकर स्वर्णकार के हाथों पर रखा और कहा—“तुम्हें यह कटोरा लेकर इस नगर के समस्त राजपथों पर चक्कर लगाना है। ध्यान रखना, कटोरे से तेल की एक बूँद भी नहीं गिरनी चाहिए। जहाँ

इसमें से एक भी बूँद गिरी, वहीं तुम्हारे पीछे चल रहे सैनिक तुम्हारा सिर अपनी तलवार से उड़ा देंगे।”

स्वर्णकार भला चक्रवर्ती सम्राट् से क्या कहता? वह मौन-मूक कटोरे को सँभाले, दृष्टि तेल में गड़ाये बहुत ही सावधानी से नगर की ओर चल दिया। राज-राजेश्वर भरत ने इधर सम्पूर्ण राज्य में आज्ञा फिरवा दी कि जितने भी चौराहे हैं, बाजार हैं, मुख्य पथ-स्थल हैं, वहाँ सभी स्थानों पर नट-नटनी, बाजीगर, जादूगर आदि अपने-अपने खेल-तमाशे प्रारम्भ कर दें।

सन्ध्या घिरने लगी। स्वर्णकार सम्पूर्ण नगर में राजपथों की फेरी देता हुआ पुनः राजमहल में आ गया। भरत के समक्ष उपस्थित किये जाने पर भरत जी ने पूछा—“अब समझ में आया कुछ?”

स्वर्णकार—“सब समझ में आ गया महाराज! आपने मुझे मृत्यु के मुख में भेजना चाहा था, पर मेरा आयुष्य प्रबल था, अतः मैं बच गया।”

भरत—“नहीं भाई! बात यह नहीं है। अच्छा, यह बताओ कि आज तुमने बाजार में, चौराहों पर क्या-क्या विशेष बातें देखीं?”

स्वर्णकार—“महाराज! मैं क्या देखता? मुझे तो अपनी आँखों के आगे सीमातीत स्थिति तक केवल तेल का सागर ही सागर नजर आता था। मेरा तो सम्पूर्ण ध्यान इस कटोरे में था। कहीं तेल की एक भी बूँद गिर न जाये।”

भरत—“ऐसा क्यों किया गया? क्या अब भी नहीं समझ सके? अरे भाई! जब पीछे चल रहे दो सैनिकों के भय से तुम्हारा सारा ध्यान तेल में केन्द्रित हो गया। शहर में क्या हो रहा है? नाच-गाने, राग-रंग, खेल-तमाशे, बाजार के दृश्य सभी तुम्हारे लिए नहीं के बराबर हो गये क्योंकि तुम्हें मृत्यु का भय था। इसी तरह मेरे सिर पर प्रतिपल काल की तलवार लटक रही है। मैं उसी का चिन्तन कर राज्य, परिवार, धन-सम्पत्ति से अपने को अलग रख आत्म-केन्द्रित बना रहता हूँ।” स्वर्णकार को बात समझ में आ गई।

#### □ आसक्त और अनासक्त

बंधुओं! सार की बात यही है कि आसक्ति है तो कुछ न होते हुए भी सीमातीत परिग्रह है और आसक्ति हटा दी यदि तो स्वर्ण-रजत के ढेर के मध्य बैठकर भी, संसार के समस्त

भोगोपभोग में रहकर भी वह सब नहीं के बराबर हैं, मिट्टी का ढेर है। दशवैकालिकसूत्र के छठे अध्ययन की २१वीं गाथा में उल्लेख मिलता है—

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।  
“मुच्छा परिग्गहो वुत्तो”, इइ वुत्तं महेसिणा ॥

राजा जनक की राजसभा में एक बार एक ज्ञानी संन्यासी उपस्थित हुआ। वह राज्य में घूमा, राजमहलों में घूमा फिर जनक से बोला—“भोगोपभोग के इतने प्रचुर साधन राजमहल में एकत्रित हैं कि आश्चर्य होता है। मैंने तो सुना था आप ब्रह्मज्ञानी हैं। आप तो भोग के सागर के मध्य खड़े हैं फिर ब्रह्मज्ञानी कैसे हुए?”

जनक ने कहा—“समय आने दीजिये, फिर बताऊँगा।” जिस समय जो कार्य करना है, उस समय वही कार्य हो तो सम्यक् फल की प्राप्ति निश्चित है। जिस समय जिस फल का बीज बोना होता है, उस समय ही उसे बोया जाये तो समय पर फल अवश्य प्राप्त होता है। दूसरे दिन राजा जनक ने जानबूझकर वह समय उपस्थित कर दिया। राजमहलों के पीछे एक नदी बहती थी। जनक संन्यासी से बोले—“चलिए, स्नान कर आते हैं।” दोनों गये। स्नान करने लगे। अभी वे स्नान कर ही रहे थे कि संन्यासी का ध्यान महलों की तरफ चला गया। उसने देखा कि राजमहलों में तो लपटें उठ रही हैं।

राजा जनक का ध्यान उस ओर आकर्षित करते हुए संन्यासी बोला—“महाराज! गजब हो गया। देखिए इधर! राजमहलों में लपटें उठ रही हैं। अभी सब धू-धूकर जल जायेंगे। बचाइये इन्हें।”

जनक—“संन्यासी महाराज! जो जल रहा है, उसे जलने दीजिए। किसके महल और किसकी सम्पत्ति? क्या तो हम साथ लेकर आये थे और क्या यहाँ से साथ ले जायेंगे? आओ, हम तो स्नान करें।”

संन्यासी—“पर महाराज! राजमहलों के एक किनारे पर मेरा कमण्डलु पड़ा है, मुझे चिन्ता है कि कहीं वह जल न जाये। जल गया तो मेरा क्या होगा? मैं जा रहा हूँ, उसे बचाने।”

जनक—“अरे संन्यासी महाराज! आप तो घर-परिवार-संसार छोड़ चुके हैं। मोह-माया के त्यागी हैं। एक कमण्डलु के लिए इतनी चिन्ता! जरा चिन्तन करिये

और मुझे पूछे गये प्रश्न का समाधान, इस घटना का विचारकर, अपने अन्तर् ही में ढूँढ़िये।”

बंधुओं! प्रचुर भोग-सामग्री के बीच उदासीन जीवन जी रहा जनक अधिक परिग्रही या सब कुछ छोड़कर भी कमण्डलु के प्रति तीव्र आसक्ति रखने वाला संन्यासी अधिक परिग्रही? मेरे ध्यान में वह संन्यासी परिग्रही ही नहीं अतिपरिग्रही है। भरत जैसे अनासक्त साधक तो राजमहल में हों या शीशमहल में, भोगों के बीच हों या माया के ढेर पर, वे चाहे कहीं भी हों, अपनी अनासक्ति की भावना के बल पर केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति कर लेते हैं तो इसमें अतिशयोक्ति क्या?

#### □ छूट नहीं रही है आसक्ति !

भोगों में और माया-मोह में आसक्ति जीव को बर्बाद कर रही है। इसे त्यागना है। पूर्ण रूप से नहीं छोड़ सकते तो जो कुछ है उसमें से अपनी आसक्ति को घटाइये, कम करिये। आप लोगों की अपनी धन-सम्पत्ति के लिए पूर्ण आसक्ति है तो आज के अनेक संतों की अपने श्रावकों में आसक्ति बनी हुई है और बढ़ रही है। आज जगह-जगह स्पष्ट कहा जा रहा है—“ये मेरे श्रावक, ये मेरे श्रावक।” दीक्षा ली, संयम-पथ अंगीकार किया, एक घर-परिवार को छोड़ा पर गजब ही कर दिया, हजारों घर-परिवारों में आसक्ति बना ली। परम्परा और पकड़ की यह आसक्ति संत-समुदाय से भी छूट नहीं रही है।

#### □ आसक्ति शब्दों की

बात है समदड़ी (मारवाड़-सिवांची) की। दो नन्हें बच्चे आये मेरे पास और नवकार मंत्र सुनाने लगे। एक ने कहा—“णमो अरिहंताणं।” दूसरा बोला—“णमो अरहंताणं।” मैंने सुन लिया। दोनों सुनाकर चले गये। बाहर जाकर एक ने कहा—“णमो अरिहंताणं नहीं, अरहंताणं होता है।” दूसरे ने कहा—“गलत, णमो अरिहंताणं सही है।” बहुत देर तक दोनों लड़ते-झगड़ते रहे। फिर गुत्थमगुत्था हो गये। वाचिक् झगड़ा, कायिक में बदल गया। तभी एक वृद्ध पुरुष वहाँ आये। पूछ—“झगड़ा क्या है?” उन्होंने बता दिया। वृद्ध ने कहा—“झगड़ते क्यों हो? महाराज से पूछ लो।”

वृद्ध दोनों को लेकर मेरे पास आये और पूछ—“महाराज! कौन-सा सही है?” आगम के अनुसार दोनों सही थे पर परम्परा से जो जहाँ रूढ़ हो जाये उसे भी गलत नहीं माना जाता

बल्कि उस क्षेत्र में वही अधिक सही माना जाता है। साधक यदि ऐसे में अपनी पकड़ के कारण उन्हें बदलना चाहे तो मेरे ध्यान में वह साधक शब्द में आसक्ति रखता माना जायेगा। यह शब्द की आसक्ति भी साधक की साधना को डुबा सकती है। अर्थ-चिन्तन तो जैसे रहा ही नहीं। परम्परा में सभी उलझे जा रहे हैं। निकले थे अन्तर्मुखी बनने पर बहिर्मुखी बन आपस में ही गुथमगुथ्या हो रहे हैं। अन्य समाज उन पर हँस रहा है, मखौल उड़ा रहा है और इस आपसी खींचातान का लाभ भी उठा रहा है पर आपको और हमें उधर ध्यान देने, इस समस्या को चिन्तन में उतारने का समय नहीं है। आप लोग आते हैं संतों के पास और शुरू हो जाता है विकथा-विस्तार। कौन संत कैसा है? क्या गुल खिला रहा है? कैसी शिथिलताएँ आ रही हैं? कहाँ-कहाँ मर्यादाएँ टूटती जा रही हैं?.....आदि।” संत ने रुचि लेनी प्रारम्भ कर दी तो फिर कहना ही क्या?

इन चर्चाओं से संसार परित्त कैसे होगा? भव-परिभ्रमण कैसे घटेगा? कौन, कहाँ, क्या कर रहा है इससे हमें क्या लेना-देना? यदि कोई संत आपकी दृष्टि में ऐसा है तो वहाँ जाना छोड़ दीजिये पर इसे चर्चा का विषय मत बनाइये। कम से कम संतों के निकट तो इस बात का विशेष ध्यान रखिये। विवाद को बढ़ाइये मत। यही तो प्रमाद गिना जाता है। व्यर्थ चर्चाओं से प्रमाद में समय गँवाकर स्वयं पाप के भागी तो आप बन ही रहे हैं, सन्तों को भी अनावश्यक रूप से पापमार्ग की ओर ले जा रहे हैं।

आसक्ति घटाइये, विवादों को मिटाइये। परम्परा को पकड़कर अनावश्यक तूल मत दीजिये। बात और शब्द की आसक्ति भी मुक्ति में बाधक है तो आसक्ति में गले तक डूबना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। चिन्तन करिए, गहराई में उतरिये तभी सत्य-तथ्य तक पहुँच सकेंगे। इस सत्य-तथ्य को चक्रवर्ती महाराज भरत ने प्राप्त किया। आदि तीर्थंकर आदिनाथ के पहले पुत्र भरत, थे तो चक्रवर्ती सम्राट्! महान् ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी! पर स्वभाव की सरलता एवं पुण्यवानी के प्रताप से अनासक्तिभाव अन्तर् में जाग उठा, यह आपने अभी सुना। चक्रवर्ती योग्य समस्त भोगों में रहकर भी भरत का मन उन सभी से विरक्त बन गया। कर्म वे करते पर भावना यही कि मुझे यह सब करना पड़ रहा है, काश! मैं इससे बच पाता।



### □ भरत चक्री को शीशमहल में केवलज्ञान

एक दिन भरत वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर अपने आरिसा भवन (शीशमहल) में गये। वहाँ चतुर्दिश भित्तियों, ऊपर छत एवं नीचे आँगन के शीशों में उनका रूप-सौन्दर्य जैसे सहस्र गुणा प्रतिबिम्बित हो रहा था। स्वयं भरत अपने उस मन-मोहने वाले रूप-सौन्दर्य को देख विस्मित-विमुग्ध थे। शरीर की शोभा को निहारते हुए भरत की दृष्टि अनेक अंग-प्रत्यंगों पर घूमती हुई अँगुलियों पर पहुँची। उन्होंने देखा कि उनकी प्रकाशमान अँगुलियों के मध्य एक अँगुली शोभाविहीन, फीकी-फीकी, सूनी-सी है। वे विचार करने लगे—‘ऐसा क्यों?’ ध्यान देकर देखा तो अँगुली में रत्नजड़ित स्वर्ण-अंगुष्ठिका गायब थी। संभवतः कहीं गिर गई थी।

भरत विचार करने लगे—‘इन बाह्य पदार्थों से शरीर शोभित है, ये न हों तो क्या शरीर की शोभा चली जायेगी?’ उन्होंने एक और अँगुली से अँगूठी उतार दी, उन्हें अब वह भी शोभाविहीन प्रतीत होने लगी। अब तो उन्हें जैसे धुन सवार हो गई। एक-एक कर सभी अँगुलियों से अँगूठियाँ उतारीं, भुजबन्ध उतारे, गले के हार, कण्ठी आदि उतारे और इसी तरह समस्त आभूषण उतार डाले। कृत्रिम सौन्दर्य, बाहर से थोपा हुआ सौन्दर्य, उधार लिया हुआ सौन्दर्य समाप्त हो चुका था। लगा जैसे किसी वृक्ष से फलों को तोड़ दिया गया है, किसी सरोवर के जल पर खिले सारे कमल उखाड़ डाले गये हैं।

चिन्तन चला, चिन्तन की धारा ने मोड़ खाय। सोचने लगे भरत—‘कैसा दिखाई देता था तब और कैसा दीख रहा हूँ अब? आभूषणों की ऐसी माया। क्या शरीर का यह सौन्दर्य मेरा अपना नहीं है। क्षणभर पहले जो देह चमक रही थी, दमक रही थी अब फीकी-फीकी क्यों? आभूषणों के अभाव में यह श्रीहीनता क्या शिक्षा देती है?’

चिन्तन चला तो चलता चला गया। लगा भरत को माणिक-मोती-रत्नजटित स्वर्णाभूषणों, भौतिक अलंकारों से लदी हुई सुन्दरता कितनी निरर्थक, कितनी सारहीन, कितनी भ्रामक है? क्यों मन इनके पीछे पागल बना घूमता है? क्यों इनसे इतना मोह बनाये रखता है? इन्हीं के जाल में उलझा मानव अपने अन्तर् को, ‘स्व’ स्वरूप को, शुद्धात्मा को भूल जाता है। वास्तविक सौन्दर्य की अवस्थिति तो ‘स्व’ में है, ‘पर’ में नहीं। मुझे अब तक इसका ध्यान क्यों नहीं आया? क्यों मैं आज तक ‘पर’ पदार्थों तथा शरीर आदि में ही तत्परता दिखाता रहा?

चिन्तन की ऊँचाइयों ने भाव-भूमिका को विशुद्धतम बनाना प्रारम्भ कर दिया। चक्रवर्ती भरत का वह चिन्तन-प्रवाह उन्हें शनैः-शनैः सम, संवेग, निर्वेद की भूमिका पर ले जाता है। भरत अपूर्वकरण में प्रविष्ट कर जाते हैं और ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय, इन चार घातिकर्मों का क्षय कर वहीं उसी शीशमहल में केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त कर लेते हैं। तत्पश्चात् वे संयमोचित देव प्रदत्त वेश धारण कर प्रभु ऋषभ के चरण-चिन्हों पर चल पड़ते हैं और अन्त में सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बन जाते हैं।

### □ अहंके गज पर आरूढ़-महातपस्वी बाहुबलि !

उधर बाहुबलि ने स्वयं केश लुंचन कर भगवान ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होने पर भी आगे कदम नहीं बढ़ाए। विचार आया कि 'वहाँ जाने पर पूर्व दीक्षित मेरे छोटे भाइयों से मैं दीक्षा में छोटा माना जाऊँगा। बड़ा होकर छोटा क्यों बनूँ? क्यों मैं उन्हें वन्दनादि करूँ।' इस विचार के साथ ही वे अहंकार से घिर गये। प्रभु के पास जाने का विचार त्याग जंगलों में विचरण करने लगे। उन्होंने वहीं वन में ध्यान लगाया और पूरे बारह मास (कहीं-कहीं बारह वर्षों का भी उल्लेख आता है) तक वे महापुरुष गिरिराज हिमालय की भाँति अचल-अडोल-निष्कम्प ध्यानस्थ रहे। शरीर पर बेलें छा गईं। पैर दीमकों वाली मिट्टी से ढक गये और सुकोमल शरीर मुरझाकर सूख गया। उनके शरीर पर पक्षियों ने घोंसले डाल लिये।

इतनी घोर तपस्या, ऐसा अटल ध्यान पर केवलज्ञान तब भी उनसे दूर ही था। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी प्रभु ऋषभ ने मुनि बाहुबलि की इस मनःस्थिति को जानकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी को उनके पास भेजा।

### □ वीरा म्हारा ! गज थकी ऊतरो !

दोनों ही साध्वियाँ प्रभु-आज्ञा से बाहुबलि के पास गईं। वहाँ अत्यन्त मृदु स्वर में प्रेरणा प्रदान करती हुई वे बोलीं—“भाई! हाथी से नीचे उतरो। हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।”

**वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो, गज चढियां मुगति नहीं होसी रे।**

बाहुबलि के कानों में अपनी ही बहन साध्वियों के वे प्रेरक शब्द पड़े तो विचार करने लगे—‘इस जंगल में हाथी पर कौन बैठा है? क्या ये मुझे ही कह रही हैं पर मैं हाथी पर कहाँ

बैठा हूँ? यदि ऐसा नहीं है तो ये ऐसा क्यों कह रही हैं? साध्वियाँ झूठ नहीं बोल सकतीं। फिर अरे हाँ! समझा, ये ठीक ही कह रही हैं। मैं ही तो बैठा हूँ हाथी पर, अभिमान के हाथी पर आरूढ़ होकर साधना करने से सिद्धि कैसे मिलेगी? 'मुझे प्रभु के पास जाकर वहाँ अपने से पूर्व दीक्षित छोटे भाइयों को भी वंदन, नमन करना ही चाहिए।

#### □ भाव-नमन से ही केवलज्ञान

इस विचार के साथ ही अत्यन्त सहजतापूर्वक सरल स्वभाव से ज्यों ही बाहुबलि मुनि ने अपने लघु भ्राताओं को नमन करने के लिए कदम आगे बढ़ाने चाहे कि उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। जो बाधक तत्त्व था, अहंभाव था, अहंकार था वह गल गया, नष्ट हो गया। विनम्रता और सरलता आ गयी मन में। न गये समवसरण में, न की छोटे भाइयों को द्रव्य-वंदना। भाव-वंदना करने से ही कैवल्य प्राप्त कर लिया।

बंधुओं! आदि तीर्थंकर के सौ ही पुत्रों ने संयम लिया, कैवल्य प्राप्त किया, संयम को दृढ़ता से पाला, उत्कृष्ट धर्मकरणी कर जिनधर्म की प्रभावना की और सभी ने मोक्ष को प्राप्त किया। ध्यान रखने की बात यह है कि केवल भरत ही आदिनाथ के ऐसे चक्रवर्ती पुत्र हुए जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् देव प्रदत्त संयमोचित उपकरण धारण किये।

#### □ भरत चक्रवर्ती के आठ पट्टधर भी अनासक्तभाव से मोक्ष गये

श्री भरतेश्वर ना, हुआ पट्टधर आठ।

आदित्य-जसादिक, पहुंच्या शिवपुर वाट ॥११॥

चक्रवर्ती सम्राट् भरत के बाद उनके राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी आदित्ययश, महायश, अतिबल, महाबल, तेजोवीर्य, कीर्तिवीर्य, दण्डवीर्य एवं जलवीर्य ये आठ पट्टधर सम्राट् राज्यसुख भोगते हुए भरत की ही तरह अपने राजमहल के आरिसा भवन में पहुँचे। अपने सौन्दर्य का अवलोकन करते हुए कभी आभूषणरहित किसी अंग की सूनी-सूनी शोभा को देखकर भरत की ही तरह चिन्तनधारा में बह निकले, उत्कृष्ट भावों की स्थिति आने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन के अधिकारी बने।

#### □ भरत का 'आरिसा' महल विनष्ट

ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रभु ऋषभ के समय में जिन आत्माओं ने अन्तर् में बैठ अन्तर् का अवलोकन किया, ऐसी असंख्य आत्माएँ सम्पूर्ण कर्म क्षय कर मुक्ति में पहुँचीं।

आरिसा भवन (शीशमहल) में भरत के बाद आठ राजसिंहासनारूढ़ महाराजा भी जब 'आभूषणों के बिना शरीर की शोभा नहीं' का चिन्तन करते केवल्य को प्राप्त हुए तो कहते हैं भौतिक जगत् के आराधक अधिकारीवर्ग ने वह शीशमहल ही तुड़वा दिया, नष्ट करवा दिया। उनका विचार था कि न यह शीशमहल होगा और न अब किसी पट्टधर को विरक्तिभाव आ पायेगा।

### □ मिथ्यात्वी यही करते हैं !

कैसा चिन्तन था उनका ? मिथ्यात्वी एवं पाप में रचे-पचे जीवों का चिन्तन ऐसा ही रहता है। वे धर्ममार्ग के बाधक बनते हैं, संयम और संयमी की विराधना करते हैं, वे प्रयत्न करते हैं कि हमारे देखते कोई पारिवारिक, स्नेही, सम्बन्धी आत्मार्थी न बने। उनका ध्येय होता है संसार। वे चाहते हैं, सभी संसार के काम-भोग बने रहें, उनकी प्राप्ति की सीमा में रहें और उनके स्व-परिजन भी इनमें रचे-पचे रहें। 'हम तो डूबेंगे सनम, तुमको भी ले डूबेंगे' का सिद्धान्त अपनाकर वे 'स्व' एवं 'पर' के अहित चिन्तन में ही लगे रहते हैं। न लगे तो उनके स्वार्था की पूर्ति नहीं होती, द्रौपदी के चीर की तरह, असीम अनन्त गगन की तरह उनके मन की वासनाएँ, कामनाएँ, तृष्णाएँ तृप्त नहीं होतीं।

### □ विवेक ही धर्म है

शीशमहल को नष्ट करना उन राजपुरुषों के अविवेक का प्रतीक था। ऐसा अविवेक मानव-समुदाय में समय-समय पर जाग्रत होकर अनेक अनिष्ट करता रहता है। अविवेक अधर्म का, पाप का कारण है। आप यदि इस प्रकार के अविवेक से बचेंगे तो आनन्द की प्राप्ति होगी।

आनन्द ही आनन्द !



## तृष्णाओं का अन्त, आत्म-सुख अनंत

आत्म-बंधुओं !

जिनेश्वर देव की सुधोपम वाणी प्राणीमात्र के जीवन को नव-जीवन प्रदान करने वाली, नित नूतन वरदान देने वाली, पद-पद पर कल्याण करने वाली है। इस अमृतोपम वाणी का श्रवण ही श्रुतिफल दे सकता है। अमृत शब्द 'मृत' में 'अ' उपसर्ग द्वारा बना है। मृत का अर्थ है मरण, मरना और 'अ' का अर्थ है नहीं अर्थात् जो मरण को निकट नहीं आने दे, मृत्यु नहीं होने दे, मौत से बचाए। वीतराग वाणी ही ऐसी वाणी है, जो साधक इस वाणी का पान कर लेता है, वह हमेशा के लिए अमर बन जाता है। साधना की सफलता वीतराग वाणी को पान करने से ही है अन्यथा वह अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकती।

□ अमृत को विष और विष को अमृत मानने वाले : मिथ्यात्वी

हर व्यक्ति प्रभु वाणी के इस महत्त्व को नहीं समझ पाता। समझ वही पाते हैं जो ज्ञानी होते हैं। अज्ञानी प्राणी तो इसी अमृत को विष मानते हैं और इससे दूर-दूर भागते हैं। उनकी आसक्ति तो उस विष में होती है, जिसे उनकी नासमझ बुद्धि अमृत मानती है। ऐसा विष है—सांसारिक काम-भोग, ऐन्द्रिक विषय-विकार एवं धर्म-अधर्म सम्बन्धी मिथ्या धारणाएँ। जीव अपनी अज्ञानावस्था के कारण अत्यंत हर्ष एवं प्रसन्नतापूर्वक, बड़ी आसक्ति के साथ इनमें डूबकर अपने आपको अमृत-पान करता हुआ मानता है। अनादिकाल से चल रही है जीव की यह विभावावस्था। जीव उन्हीं में लीन रहना चाहता है और यही कारण है कि पंचम गति का उसे कभी ध्यान ही नहीं आता। वह तो चार गति, चौरासी लाख जीव योनियों तक ही अपनी सीमा समझ उन्हीं में भटकता रहता है।

□ मुक्ति का सरलतम मार्ग भाव-वन्दना !

सभी जीव एक समान नहीं होते पर संसार में डूबे जीव भी कभी न कभी मोक्ष की ओर लक्ष्य बना सकते हैं, इसी को ध्यान में रखते हुए भगवान महावीर आदि तीर्थंकर

अर्हन्तों ने अनेकानेक मुक्ति के उपाय बताए हैं। उनमें सरलतम मार्ग है वन्दना, जिस पर आप इन दिनों प्रतिदिन प्रवचन श्रवण कर रहे हैं। भाव-वन्दना की कड़ी में 'बड़ी साधु वन्दना' के ग्यारह पदों का विवेचन हो चुका है। आज हम जिन महनीय सकल कार्य सिद्ध कर मुक्त बनने वाले मुनिवर को अपना भाव-वन्दन करते हुए उनके महकते गुणों से अपने जीवन को महकाने की प्रेरणा लेंगे, उनका नाम है कपिल केवली। उत्तराध्ययनसूत्र के आठवें अध्ययन में विस्तारपूर्वक कपिल केवली का विवेचन मिलता है।

श्री जिन-अंतर ना, हुआ पाट असंख्य।

मुनि मुक्ति पहुंच्या, टालि कर्म ना बंक॥१२॥

धन्य कपिल मुनिवर, नमि नमूं अणगार।

जेणे तत्क्षण त्याग्यो, सहस्र-रमणी-परिवार॥१३॥

प्रथम जिनेश्वर आदिनाथ के समय में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्ति को वरण करने वाले जिन महापुरुषों का वर्णन विगत पदों में किया गया है, उनके बाद अंतिम तीर्थंकर महावीर के शासनकाल तक असंख्य पट्टधर-गणधर, केवली, आचार्य आदि हुए। असंख्य मुनिवरों ने उत्कृष्ट संयम का दृढ़-पालन कर, उत्कृष्ट तपाराधन कर कर्मों के कलंक को मिटाया, जन्म-मरण के चक्र को समाप्त किया और मुक्ति को प्राप्त किया। जीवन को कृतकृत्य करने वाली उन्हीं आत्माओं में से कुछेक आत्माओं को, जिनका वर्णन शास्त्रों में सहज उपलब्ध है, उन्हें भाव-वन्दनपूर्वक यहाँ स्मरण किया जा रहा है।

### □ तृष्णा से मुक्ति

धन्य हैं मुनिवर कपिल जिन्होंने तृष्णाओं के असीम सागर को चिन्तन की एक ही छलौंग में पार कर सत्य-ज्ञान की ज्योति को अन्तर् में प्रदीप्त किया। कौन था कपिल? क्या था उसका जीवन? क्या से क्या बन गया वह? बचपन में कपिल नाम से पुकारा जाने वाला बालक विद्यार्थी बन स्त्री-जाल में फँसा, तृष्णा में डूबा, चिन्तन बदला तो कपिल मुनि बन गए, उत्कृष्ट साधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर कपिल केवली कहलाए।

### □ यह खेल है परिवर्तन का

बंधुओं! परिवर्तन संसार का अपरिवर्तनशील नियम है। माता की आँखों में अश्रुकणों को बहता देख बालक कपिल में परिवर्तन आया। खेलकूद में दत्तचित्त रहने वाला वह बालक विद्या पाने के लिए दृढ़ संकल्पित हो गया। जीवन में किस क्षण परिवर्तन आए, पता नहीं चल पाता। परिवर्तन ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को श्रेष्ठ बना शिखर पर पहुँचा दे और ऐसा भी होता है कि व्यक्ति को पतन के गहन गह्वर में गिरा दे। पतित से पतित अनेक आत्माओं का वर्णन मिलता है जिनमें एक ही क्षण में ऐसा परिवर्तन आया कि वे उत्कृष्ट परिणामों की धारा में चढ़ते ही चले गए। आत्म-कल्याण के पथ की सीढ़ियाँ तय करने की गति उनकी इतनी तीव्र थी कि झट चिन्तन-परिवर्तन और पट केवलज्ञान। इसी भाँति बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, मनस्वी, आचार्य, उपाध्याय और दिग्गज संत भी एक क्षण में परिवर्तन आने पर संयम की ऊँचाइयों से मिथ्यात्व के गहरे गर्त में जा पड़े।

“जे कम्मे शूरा, ते धम्मे शूरा।” जो कर्मक्षेत्र में शूर होता है, यदि किसी भी क्षण उसके चिन्तन की धारा अन्तर्मुखी बन जाए तो वह निश्चित ही धर्मक्षेत्र में भी शूर होता है। इतिहास और आगम ऐसे उदाहरणों से भरे पड़े हैं।

### □ कौशाम्बी का राजपुरोहित काश्यप

कौशाम्बी नगरी का राजा था प्रसेनजित्। इन्हीं का राजपुरोहित था काश्यप ब्राह्मण। वह काश्यप ब्राह्मण अनेक विद्याओं का पारंगत विद्वान् था अतः राजा का मर्जीदान था। अनेक कार्यों में राजा सर्वप्रथम उसी की सलाह लेते थे। राजदरबार में उनका विशिष्ट स्थान था। अपने मंत्रिमंडल के मंत्रियों की ही भाँति यथेष्ट सुविधाएँ राजा ने उसे दे रखी थीं। वह जब भी राजसभा में जाता, राजकीय सम्मान के साथ पालकी में बैठकर बड़े ठाट-बाट के साथ जाता था। जो जन्म लेता है, उसका मरण निश्चित है और किसकी मौत कब आ जाए यह जानना साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं। पीपल का पीत-पान कभी भी डाल से अलग हो सकता है। तनिक-सा हवा का एक झोंका ही उसके लिए पर्याप्त है। पात यदि पीत नहीं है, परिपक्वावस्था में नहीं है, अभी हरा-भरा है या नव-कोपल है तब भी

कभी-कभी टूटकर वृक्ष की डाली से अलग हो सकता है, पर कब होगा, यह अनिश्चित है अर्थात् हमारी जानकारी में नहीं है। तभी तो बालकुमार अतिमुक्त ने अपनी मातुश्री से कहा था—

**जाणूं जरूर मरूंगा माता, कद मरस्यूं नहीं जाणूं।**

कब आ टपके मृत्यु, कोई भरोसा नहीं। आज, अभी, इसी वक्त भी आ सकती है। काश्यप राजपुरोहित का भी बुलावा आ गया। वह काल के गाल में समाहित हो गया।

□ समय भर देता है, बड़े से बड़ा घाव

कपिल तब बालक था। पति-वियोग से कपिल की माता का दुःखी होना स्वाभाविक था। इधर छोटा बच्चा और उधर राज-सम्मान छिन गया। कपिल की बाल्यावस्था को देख राजपुरोहित का पद किसी अन्य को दे दिया गया। संसार का तो नियम ही है—इष्ट के वियोग एवं अनिष्ट के संयोग पर जीव कष्ट, दुःख, बेचैनी का अनुभव करता है। ऐसा समय आने पर एकाग्र मन से इन्हीं में दुःखी बना रहे तो जीव आर्तध्यान में पहुँच जाता है।

सब दिन समान नहीं होते। समय बड़े से बड़े घाव को भर देता है। तीव्र विलापात शनैः-शनैः कम होने लगा। एक दिन मनःस्थिति सामान्य धरातल पर भी आ गयी और समय ज्यों-त्यों करके आगे सरकने लगा।

□ कपिल की माता के नयनों में आँसू थे पर क्यों?

कालान्तर में कभी एक दिन कपिल के घर के सामने राजमार्ग से वर्तमान राजपुरोहित की राजसवारी निकली। बड़ा ठाट-बाट, बड़ा आडम्बर था सवारी के निकलने में। कपिल भी बाल-सुलभ कौतूहलवश दौड़ा चला गया बाहर सवारी देखने। मन ही मन वह प्रसन्न हो रहा था, बाहर तालियाँ बजा रहा था। घर में जब प्रविष्ट हुआ तो उस ठाट-बाट का अपनी योग्यतानुसार माँ के सम्मुख वर्णन करने लगा। माता की आँखों से अश्रुधारा बह चली। बालक आश्चर्यचकित, विमूढ़, हतप्रभ! यह क्या? मैंने ऐसी क्या बात कह दी? पूछा माता से—“आप क्यों रोती हैं? आँखों से ये अश्रु, क्या कारण है इनका इस तरह बह निकलने का?”



माता ने बालक के प्रश्न पर अश्रु पौँछ डाले। सायास स्मित लाती-सी बोली—“नहीं बेटे! कोई बात नहीं है।” बालक पूछता रहा, माता उसे टालती रही। अंत में बालक ने हठ ठान लिया—“देख माता! मुझे जो भी कारण है बता दे अन्यथा जब तक नहीं बताएगी, मैं अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।”

अब माँ का मन अधीर हो उठा। वह विवश थी बताने के लिए। उसने कहा—“वत्स! आज जिस सवारी को तुमने देखा, वैसी ही बल्कि उससे भी बढ़कर सवारी कभी तुम्हारे पिताजी की निकलती थी। तब वे राजा के राजपुरोहित थे। उनके मरणोपरान्त तुम्हारी अल्पावस्था एवं तुम्हारे अनपढ़ होने से यह पद किसी अन्य को दे दिया गया। मुझे लगता है कि जिस अवस्था में हम इस समय हैं, उसमें तेरी पढ़ाई-लिखाई हो नहीं सकेगी अतः यह पद भी पुनः कभी हमारे परिवार को मिल नहीं पाएगा।”

#### □ कपिल का संकल्प

बालक प्रज्ञावान था। सुनकर तुरन्त गम्भीर हो गया। बोला—“माता! मैं संकल्प लेता हूँ कि आज से केवल अध्ययन में ही डूब जाऊँगा। पढ़ना-लिखना ही मेरा कर्म होगा और वही मेरा धर्म भी। शीघ्र ही निष्णात होकर मैं पुनः इस पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनूँगा।”

“बहुत कठिन, लगभग असंभव-सा है। इस नगर में तो तू पढ़ ही नहीं सकता, पढ़ना चाहेगा तो भी नए राजपुरोहित के भय एवं दबदबे के कारण कोई तुझे पढ़ाने की हिम्मत भी नहीं करेगा। यह समझ ले कि यहाँ तो सभी ईर्ष्या की आग में जल रहे हैं। सभी सोचेंगे कि यदि यह पुनः राजपुरोहित का पद पा गया तो हमारा सुख, वैभव, ठाट, सुविधाएँ, सम्मान सभी छिन जायेगा।” माता ने बताया।

#### □ ईर्ष्या 'स्व'- 'पर' का अहित करती है

ईर्ष्या से व्यक्ति दूसरों का अहित करे या न करे पर अपना अहित अवश्य कर बैठता है। बहुत बुरी वस्तु है यह ईर्ष्या। आज तो सहोदर भाई भी ईर्ष्या से अपने घर नष्ट कर देते हैं। एक आगे बढ़ रहा है तो दूसरा उसे पीछे धकेलने के लिए जी-जान एक कर देता है। एक व्यक्ति आई. ए. एस. अधिकारी बन गया। अच्छी योग्यता थी, अच्छे पद

पर जा बैठा पर अपनी ही जाति-बिरादरी के किसी अन्य भाई को पढ़ा-लिखाकर, आगे बढ़ने के विशिष्ट ढंग जो उसने अपनाए थे बताकर उसे भी अपने बराबर पहुँचाने की जगह, उनके लिए बाधक बनने का प्रयत्न करता है। मेरे बराबर आ गया तो मेरे मान-सम्मान का बँटवारा हो जाएगा, उनकी यह भावना उचित नहीं है। ज्ञान के मार्ग में वे बाधक बन रहे हैं। अतः ज्ञानावरणीय कर्म का बंध तो होगा ही, दूसरों के विकास के मार्ग में बाधक बनने की भावना का भी कटु फल मिलेगा। फलस्वरूप अंधे हो सकते हैं, बहरे व गूँगे हो सकते हैं।

#### □ ज्ञान प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक

अज्ञानी व्यक्ति अधिक कर्मबंध करता है। एक बालक है, वह अबोध-नासमझ है। यदि वह अग्नि में हाथ डालता है तो आप लोगों की अपेक्षा वह अधिक जलेगा। आप सज्जन हैं, जानते हैं जलने का फल, जानते हैं बचना भी। आप या तो हाथ डालेंगे ही नहीं, और कभी चला भी गया तो शीघ्र हाथ खींच लेंगे। सतर्कता और सावधानी जैसे यहाँ सुरक्षा करती है, धर्म में भी सुरक्षा प्रदान करती है। जो पाप, पुण्य, निर्जरा के स्वरूप को जानता है, जीव-अजीव-बंध-मोक्ष को समझता है, आस्रव-संवर से जो परिचित है, वह निरन्तर यही प्रयत्न करेगा कि पाप से दूर रहे। यदि कभी पाप करना भी पड़ गया तो वह उस पाप की शुद्धि की विधि भी जानता है अतः प्रायश्चित्त करेगा और पापमुक्त हो जायेगा।

#### □ कपिल का श्रावस्ती में अध्ययन

माता ने कहा—“एक तरीका है तेरी पढ़ाई का। श्रावस्ती नगरी में तेरे पिता के परम प्रिय मित्र हैं—इन्द्रदत्त उपाध्याय। वे पारंगत विद्वान् एवं अनेक कलाओं के जानकार हैं। तू पढ़ना चाहे तो उनके पास जाकर अपनी इच्छा पूरी कर सकता है।” बालक कपिल को माता की सलाह पसन्द आई। माता ने बालक के जाने की यथायोग्य तैयारी की और एक शुभ मुहूर्त में उसे एक विश्वस्त साथी के साथ वहाँ भेज दिया।

बालक कपिल श्रावस्ती आ गया। पूछते हुए वह इन्द्रदत्त उपाध्याय के घर पहुँचा। यथोचित विनय कर उसने अपना परिचय दिया एवं आने का उद्देश्य प्रकट किया।

उपाध्याय जी ने भी मित्र-पुत्र पर पारखी नजर डाली। वह उन्हें तेजस्वी, बुद्धिमान् एवं जिज्ञासु लगा। मन में प्रसन्नता हुई, सोचा—‘योग्य पात्र है और मित्र का पुत्र भी। मैं इसे ज्ञान के समस्त गूढ़-रहस्यार्थ सिखा दूँगा।’

#### □ पात्रता की परख आवश्यक

बंधुओं! पात्रता की परख हर कदम पर आवश्यक है। पात्र योग्य न हो तो गुरु के नाम को डुबो सकता है, बदनाम कर सकता है। महावीर के शिष्य गौतम भी थे और गौशालक भी। दोनों ने प्रभु सान्निध्य में ज्ञानार्जन किया। दोनों ने प्रभु के सान्निध्य में साधना कर तेजोलेश्या की उपलब्धि की थी पर गौशालक की पात्रता में कमी थी अतः उस कुपात्र गौशालक ने अपनी तेजोलब्धि का दुरुपयोग करते हुए प्रभु पर ही उसे प्रयुक्त कर दिया।

कपिल का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। तीव्र बुद्धि था, मेधावी था, श्रमसाधक था अतः अतिशीघ्र ज्ञान की अनेक सीढ़ियाँ चढ़ गया। विद्याध्ययन में वह उस समय पंडित इन्द्रदत्त के सभी शिष्यों में श्रेष्ठ था, अतः गुरुकृपा भी उस पर विशेष थी। अपनी लगनशीलता के बल पर वह निरन्तर आगे बढ़ता रहा, सीढ़ियाँ चढ़ता रहा, विद्वान् बनता रहा।

#### □ पहले सबसे आगे थे, अब पीछे क्यों ?

अनेक सीढ़ियाँ चढ़ने के पश्चात् जब गूढ़ ज्ञान सीखने का समय आया तो हमेशा सबसे आगे रहने वाला वह कपिल शनैः-शनैः पिछड़ने लगा। गुरु ने शीघ्र इसका अनुभव कर लिया। पूछा—“कपिल! क्या बात है? सबसे आगे रहने वाले होकर धीरे-धीरे पीछे कैसे सरक रहे हो?”

कपिल ने कहा—“गुरुदेव! विद्या के गूढ़ रहस्यों को सीखने-समझने के लिए जितना समय चाहिए, अब उतना नहीं मिल पा रहा है। पहले अध्ययन में सरलता थी, समय कम लगता था। आज समय तो वही पर विद्या-भार बढ़ गया है। आज भी माँगकर लाना, शोधना, खाना हाथ से पकाना, बर्तन साफ करना, घर बुहारना आदि कार्य तो पहले की तरह ही करने पड़ते हैं। काफी समय इन कामों में यूँ ही निकल जाता है।”

### □ कपिल के लिए विशेष व्यवस्था

गुरु ने भी सोचा—‘शिष्य कह तो ठीक ही रहा है। जो बात युक्तिसंगत और उचित हो, उसे तो स्वीकार करना ही होगा पर उपाय क्या?’ उन्होंने नगर-श्रेष्ठी को बुलावा भेजा। उनके आने पर उन्हें कहा—“श्रेष्ठिवर! यह जो तरुण कपिल है, बड़ा होनहार विद्यार्थी है। तुम क्यों नहीं इसके भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेते?

नगर-श्रेष्ठी ने सहज स्वीकार कर लिया। कपिल नगर-श्रेष्ठी के यहाँ से प्रतिदिन यथावश्यक सामग्री लाकर भोजन बना लेता। कुछ दिन तो ठीक चला पर कुछ दिन बाद फिर पिछड़ने लगा। इस बार खाना बनाने, बर्तन माँजने, घर बुहारने आदि में समय लगने की बात पर उपाध्याय जी ने जब नगर सेठ को संकेत किया तो उसने एक दासी की व्यवस्था कर दी जो कपिल के लिए खाना बना देती, बर्तन साफ कर देती, घर बुहार देती, और भी कोई छोटा-मोटा काम हो तो कर देती।

### □ निकटता ने विकटता पैदा कर दी

अब उसका विद्याध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा पर एक तरफ ब्राह्मण-कुमार, दूसरी ओर युवा दासी। अग्नि के निकट हो गया घी। ठसा हुआ रहने का तो प्रश्न ही क्या? उष्णता लगेगी तो घी तो पिघलकर तरल बनेगा ही। पहले दोनों ने निकटता का अनुभव किया। निकटता बढ़ी तो अतिनिकटता की स्थिति आई। दोनों के दिलों में वासनारूप प्रेम का प्रस्फुटन हुआ, विकारों ने जन्म लिया तो यह निकटता विकटता में बदल गई।

रोग, शोक, खून, खुशबू, खाँसी, खुशी, बैर और प्रीति ये सब लाख छुपाए जायें, छुप नहीं सकते। धीरे-धीरे कुछ समय बीत गया तो बात उपाध्याय जी के कानों में भी गई। पता लगाया तो बात सत्य थी। वे बहुत नाराज हुए। कपिल के लिए सारी व्यवस्थाएँ ही बंद नहीं करवाई अपितु उसे आश्रम से भी निकाल दिया।

### □ कपिला गर्भवती बनी

विद्याध्ययन छूट गया, सीधी भोजन-सामग्री मिलनी बंद हो गई। साथ रह गई कपिल के वह कपिला नाम की युवा दासी। पहले स्वयं के पेट की समस्या थी, अब दो जीवों के भरण-पोषण का भार था। दोनों ने विचार कर लिया और साथ रहने लगे।

कपिला के गर्भवती होने का पता चला। पेट के लिए भी पूरा प्राप्त नहीं हो रहा था, ऊपर से यह संकट। दोनों चिन्ता से घिर गए। कपिल की चिन्ता अब बढ़ गई। क्या करें, क्या न करें?

#### □ कपिल चिन्तित, लज्जित भी !

इधर चिन्ता बढ़ी, उधर कोई मददगार नहीं। सहपाठी मिलते तो दुत्कारते। जहाँ वह जाता, अपमानित किया जाता। जगह-जगह उसकी निन्दा होने लगी। ब्राह्मण था, माँगकर ले आता पर स्थिति ऐसी बनी हुई थी कि किसी के आगे हाथ पसारने की भी हिम्मत नहीं होती थी। पापियों को उनके पाप का फल तो जब भुगतना होता है तब भोगते हैं पर पाप करने के पश्चात् आँख में जरा भी शर्म है तो वे अपने आप पर घृणा करने लगते हैं, यही बात कपिल के साथ भी हुई। वह अपने आप से, अपने किए गए पापों से अपने को घृणित महसूस करने लगा। कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो पाप करने के बाद भी शर्म महसूस नहीं करते बल्कि सीने का एक बटन खोलकर सामने आते हैं, जैसे उन्होंने कुछ किया ही न हो। जैसे दूध के धुले हों वे। पहले प्रकार के व्यक्ति पाप के बोझ को पश्चात्ताप से हल्का बना लेते हैं जबकि दूसरे प्रकार के व्यक्ति निर्लज्ज बन अपने पाप के बोझ को और भी बढ़ा लेते हैं।

#### □ पेट की समस्या : समाधान दो माशा सोना

पेट की समस्या उग्र हो रही थी। क्या करें कि पेटभर खाना मिल जाए फिर संतान भी होने वाली थी अतः व्यय-भार बढ़ना था पर पास में कुछ हो ही नहीं तो कैसे हो सकेंगी सारी व्यवस्थाएँ। चिन्ता खाए जा रही थी। एक दिन कपिला ने कहा—“यहाँ के राजा बड़े दयालु हैं, गुणवंत हैं, विद्वान् हैं। वे विद्वानों का बहुत सम्मान करते हैं। उनका नित्य नियम है कि जो प्रातः सर्वप्रथम उन्हें शुभाशीर्वाद रूप प्रशस्ति सुनाता है, उसे वे दो माशा स्वर्ण प्रदान करते हैं। तुम यदि सबसे पहले जाओ और उन्हें सुनाओ तो समस्या का समाधान निकल सकता है।”

कपिल ने सुना, सोचा—‘बात तो ठीक है। मैं विद्वान् हूँ, योग्यता है मुझमें। रही बात सबसे पहले पहुँचने की तो प्रातः जब भी आँख खुलेगी, उठकर चल दूँगा।’

उसने प्रशस्ति श्लोक बनाया, संध्या हुई, रात आई, कपिल शय्या पर लेटकर निद्रा की प्रतीक्षा करने लगा। दिमाग में दो माशा सोना घूम रहा था। जिस बात की चिन्ता रहती है, स्मृति कोष में संचित वह बात निरन्तर अचेतन मस्तिष्क में चक्कर काटती रहती है। कपिल भी चिन्तित था कि सबसे पहले जाना है। जरा-सी आँख मिली कि पुनः जग गया। उस दिन पूर्णिमा थी। पूर्णिमा भी शरद-पूनम की। शीतल, स्निग्ध, दुग्ध-धवल चन्द्र-ज्योत्सना को देखा उसने तो पता नहीं लगा सका कि क्या समय हुआ होगा। उसने तो सोचा कि प्रातः होने वाली है। कहीं मुझे राजा जी तक पहुँचने में देर न हो जाए।

#### □ अपराधी होने का सन्देह : कपिल जेल में

उस समय अर्द्ध-रात्रि ही हुई थी। वह उठा, शय्या का त्याग किया, घर से बाहर निकला और देर होने के भय से राजपथ पर दौड़ लगाने लगा। मन में, दिमाग में दो माशा स्वर्ण चक्कर खा रहा था। रात्रि के पहरे पर नियुक्त सिपाहियों ने देखा तो संदेह में पड़ गए। अर्द्ध-रात्रि में राजपथ पर इस तरह दौड़ना, हो न हो कोई अपराधी है। पकड़ लिया गया वह अपराध के सन्देह में। पूछताछ की तो जो बात कपिल से सुनी, उस पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। उसे जेल में डाल दिया गया।

#### □ अभियोग : सत्य कथन—राजा प्रसन्न

प्रातः राजसभा में उसे उपस्थित किया गया। पूछने पर कपिल ने बचपन में अध्ययनार्थ घर छोड़ने के प्रसंग से लेकर विद्याध्ययन, प्रेम-प्रसंग, विवाह, पत्नी का गर्भ धारण करना, धन की आवश्यकता आदि सभी बातें अक्षर-अक्षर आद्योपान्त सत्य-सत्य कह सुनाई और बताया कि वह दो माशा स्वर्ण की लालसा में ही समय के गलत अनुमान के कारण पकड़ा गया है। उसके कथन के ढंग से तथा वेशभूषा से ही राजा समझ गए कि यह अपराधी नहीं है अपितु जो कुछ भी कह रहा है-सत्य है। राजा उसकी सत्यता पर प्रसन्न हुआ, उसकी उस विपिन्न अवस्था पर दयार्द्र हुआ और बोला—“ब्राह्मण कुमार ! मैं प्रसन्न हूँ कि तुमने जो कुछ कहा, सत्य-सत्य कहा। तुम्हारी आवश्यकताओं को देखते हुए तुम्हें धन की प्राप्ति होनी ही चाहिए। माँगो, तुम्हें क्या चाहिए ? जितना चाहो माँग लो।”

□ जहा लाहो, तहा लोहो

कपिल एक बार तो हक्का-बक्का हो गया। आया था दो माशा स्वर्ण की आशा में, धर दिया गया जेल में और अब स्थिति यह थी कि जो चाहे सो राजा से माँग ले। 'क्या माँगूँ मैं?'—वह चिन्तन में पड़ गया। 'जब राजा जी प्रसन्न हैं तो दो माशा स्वर्ण ही क्यों लूँ? कुछ ज्यादा ही क्यों न माँगूँ? कितना माँगूँ? हम दो हैं, तीसरा आने वाला है। कम यदि माँगूँ तो पुनः जीवन में दुःख के दिन देखने पड़ेंगे, कम से कम सौ स्वर्ण-मुहर तो माँग ही लूँ।'

राजा ने उसे चिन्ता में मगन देखा तो कहा—“ब्राह्मण कुमार! कोई जल्दी नहीं है। अच्छी तरह सोच लो। राजोद्यान में वृक्षों के नीचे बैठकर ताजी हवा में एक-दो घंटे विचारकर फिर वापस यहाँ आ जाना।”

उत्तराध्ययनसूत्र में इसी अध्ययन में आता है—“जहा लाहो, तहा लोहो।” अर्थात् जहाँ लाभ है, वहीं लोभ है। कपिल ब्राह्मण राजोद्यान में चला गया। घने वृक्ष के नीचे आराम से बैठ विचार करने लगा—‘सौ मुहरें भी कम ही रहेंगी, जल्दी ही खत्म हो जायेंगी। जीवन तो अभी बहुत पड़ा है, क्यों न हजार मुहर माँग लूँ। हजार भी एक दिन तो समाप्त हो जायेंगी। बूँद-बूँद से घड़ा भी खाली हो जाता है अतः करोड़ मुद्राएँ माँग लेता हूँ।’ फिर सोचा—‘करोड़ हों या दस करोड़ स्वर्ण-मुद्रा, ये तो शनैः-शनैः समाप्त होंगी ही। कोई ऐसा उपाय करना चाहिए के मृत्यु-पर्यन्त आय होती रहे।’

बंधुओं! आप भी तो विचार करते होंगे कि कोई ऐसा उपाय करें कि दुकान नहीं जाएँ तो भी आय का मीटर घूमता रहे। ज्यादातर लोग फाइनेन्स के धन्धे में इसी विचारधारा से जाते हैं, जिससे ब्याज का मीटर रात-दिन चौबीस घंटे चलता ही रहे। दुकान तो बंद है पर धंधा स्वतः चल रहा है। पूछते हैं कभी तो कहते हैं—“रात्रि को तो कुछ भी नहीं करते, व्यवसाय सम्बन्धी पापकार्यों से सर्वथा बचे रहते हैं पर सोचिए जरा, आपने जिन बसों, कारों, टैक्सियों के लिए फाइनेन्स किया वे घूम रही हैं कि नहीं। उनके ड्राइवर, मालिक और फाइनेन्सर सभी के पाप का मीटर भी आय के मीटर की तरह घूम रहा है। धंधा बंद पर पाप चालू है। सामायिक व्रत में बैठे हैं, सावद्य योगों का त्याग है पर दो करण, तीन योग से। तात्पर्य यह कि अनुमोदन के लिए आप खुले हैं अतः पाप तो लग ही रहा है। पूर्ण रूप से सावद्य प्रवृत्तियों से तो मुक्त नहीं हुए न आप?

### □ आइए हमारी श्रेणी में, इसमें विचार क्यों ?

करिए हिम्मत और आइए इधर, हमारी श्रेणी में। कीजिए सम्पूर्णतः सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग अर्थात् तीन करण, तीन योग से सामायिक व्रत लीजिए। कठिनाई क्या है इसमें? संसार के जो भी सुख-दुःख देखने थे, आप देख चुके हैं। आयुष्य भी परिपक्व है। बेटे-पोते और प्रपौत्र भी हैं। धंधा जोरदार है और बच्चे चला रहे हैं धंधे को। आप पर कोई बोझ, कोई उत्तरदायित्व नहीं फिर विचार क्यों ?

—बाब जी ! छूटे नहीं।

—पर एक दिन तो छोड़ना ही पड़ेगा। आप नहीं छोड़ना चाहेंगे तो भी मृत्यु सब कुछ छोड़ा देगी। यह शरीर, यह संसार तो किराए का मकान है आपके लिए। मकान-मालिक आकर आपका सामान सड़क पर फिंकवा दे, आपको धक्के देकर निकाल दे, उससे पहले ही ससम्मान स्वेच्छया खाली कर दें इसे, तो उत्तम रहे। इसी में आपका हित निहित है।

### □ पूरा राज्य ही माँग लूँ !

बंधुओं! कपिल की लोभवृत्ति बढ़ती जा रही है। तृष्णाओं का कभी अंत नहीं होता। सोचता है परमानेंट (Permanent) आय हो ऐसा कुछ माँगना चाहिए। पाँच-सात गाँवों की जागीरी माँग लेता हूँ फिर तो कुछ कमी नहीं रहेगी। आराम से जिन्दगी निकल जाएगी। निरन्तर आय मिलने से सारी चिन्ताएँ समाप्त हो जायेंगी।

तभी चिन्तन बदला—कभी राजा जी का मन बदल गया तो। मन है, मन का क्या भरोसा? “क्षणं रुष्टे, क्षणं तुष्टे।” नाराज यदि हो गए तो छिन जाएगी यह जागीरी फिर हो जायेंगे हम दाने-दाने के मुहताज। तब क्या करूँ? अच्छा, आधा राज्य माँग लेता हूँ। आधा मेरे पास, आधा राजा जी के पास। यह ठीक रहेगा पर कभी क्रोध में आ गये राजा जी तो आक्रमण कर देंगे मेरे राज्य पर, छीन लेंगे पुनः वह राज्य। मैं तो फिर वहीं का वहीं। पूरा राज्य ही क्यों न माँग लूँ?

### □ तृष्णा का जाल छूटना अति कठिन !

कहाँ से चला था? दो माशा स्वर्ण से। कहाँ तक पहुँच गया? पूरे राज्य पर अधिकार करने तक। तृष्णा का जाल बड़ा जबरदस्त है। जानते आप भी हैं पर छोड़ने में जोर पड़ता



है। 'हाय धन, हाय धन' की रट जीवनभर लगी रहती है। जितना चाहिए उससे कहीं ज्यादा मिल जाए फिर भी चाह नहीं छूटती। बड़ा जोर पड़ता है धन एवं उस पर बनी आसक्ति को छोड़ने में।

भर्तृहरि ने संसार के गोरखधंधे को देख, विरक्तभाव हो, राज्य-सत्ता त्याग संन्यास ले लिया। हीरे, पत्रे, माणक, मुक्ता के ढेर लगे थे पर त्याग दिए। एक गुफा में एकांत में बैठ ध्यानमग्न हो गए। सोचा—'यह सुनसान स्थान है, यहाँ न कंचन का प्रवेश और न कामिनी का प्रवेश। देखने का अवसर ही नहीं आयेगा। बैठ गए वे योग साधना में। ध्यानमग्न थे, अति उच्च कोटि की ध्यानावस्था थी पर तभी किसी पक्षी की आवाज ने उनके ध्यान को भंग कर दिया। बंद आँखों की पलकों में हरकत हुई। आँखें खुलीं तो देखा—गुफा के द्वार पर एक काफी बड़ा अद्भुत हीरा पड़ा था। सूर्य की सुनहरी किरणें उससे टकराकर बिखर-बिखर जाती थीं और उसी के प्रतिफल में हीरे से सात रंग की इन्द्रधनुषी आभा चारों तरफ फैल रही थी।

भर्तृहरि पारखी तो थे ही, जान गए कि अति उच्च कोटि का रत्न है, कोई पक्षी डाल गया है। विचार किया, उठा लाऊँ इसे। विचार नहीं आया कि कितने-कितने हीरे, पत्रे, माणिक, मुक्ता मैं सदा-सदा के लिए छोड़ आया हूँ। घर-बार संसार त्याग, मोह-माया छोड़ संन्यासी बन गया हूँ। लोभ का उदय था। सोच रहे थे उसे उठाने की बात, तभी देखा दो योद्धा विपरीत दिशाओं से आकर हीरे के पास खड़े हो गए। एक ने कहा—“इस पर मेरा अधिकार है, मैं पहले पहुँचा हूँ।” दूसरे ने कहा—“वाह! ऐसे कैसे हो सकता है? देखा तो पहले मैंने है।” उन दोनों को कहाँ पता कि एक अन्य तीसरा व्यक्ति भी हीरे की चाह में वहाँ विद्यमान है। हीरे के लिए दोनों योद्धा भिड़ गए, लड़ने लगे, तलवारें निकाल लीं, बहुत देर तक युद्ध चलता रहा और अंत में दोनों ही एक-दूसरे के वार से मारे गए। हीरा मूक भाव से देख रहा था। उनकी मृत्यु पर वह रोया नहीं। उसे इस बात का भी कोई रंज, कोई पश्चात्ताप नहीं कि वह वहीं धूल में पड़ा रह गया। वह तो जैसे समाधिस्थ था, दर्शक था, पर स्पन्दनहीन, संवेदनारहित।

भर्तृहरि देख रहे थे। पूर्ण घटना देखने के पश्चात् उनका चिन्तन बदल गया। चाहने वाले चले जाते हैं, अधिकार पाने के बाद भी जाना तो होता ही है फिर चाह क्यों? निकल गया लोभ और आ गए पुनः समभाव स्थिति में।

भीतर में आपके भी लोभ की परतें हैं। कितनी-कितनी परतें, क्या बताएँ? अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरणी, प्रत्याख्यानावरणी, संज्वलन। बाहर के पदार्थ तो निमित्त मात्र हैं, लोभ की परतें तो अन्तर् में ही विद्यमान हैं।

### □ पतित से बने पावन !

कपिल के भी लोभ बढ़ा तो आधे राज्य के बाद पूरे राज्य को हड़प करने की इच्छा करने लगा। पूरा राज्य माँगने की कामना उठी, अचानक चिन्तन पलट गया—‘कैसा लोभी बन गया मैं? आया था दो माशा स्वर्ण को, पर अपने उपकारी का ही गला काटने का विचार कर बैठा। यह तृष्णा अनर्थों की जड़ है। यह तृष्णा उपकारी के उपकार को भी भुला देती है। यह तृष्णा जीव को जाने कहाँ से कहाँ भटका देती है।’ यही सब सोचते हुए कपिल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।

अब वह देखने लगा मन की आँखों से अपना पिछला भव। संयम लिया था मैंने, उत्कृष्ट करणी की थी, केवलज्ञान-केवलदर्शन के लिए। कहाँ वह करणी और कहाँ मेरा यह लोभ? धिक्कार है मुझे, मेरी आत्मा को।

राजा ने बुलाया। कपिल गया वहाँ। कहा राजा ने—“माँगो, क्या चाहते हो?”

कपिल अब क्या माँगता? उसकी तो चाहना, तृष्णा पूर्णतः मिट चुकी थी। बोला—“मुझे जो पाना था, मैंने पा लिया। अब मुझे इस जीवन के लिए कुछ भी नहीं चाहिए।”

वहाँ से निकलकर कपिल ने संयम अंगीकार किया। छह माह तक उत्कृष्ट करणी कर केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त किया। (कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है कि कपिल को वहीं राज्योद्यान में केवलज्ञान प्राप्त हो गया—तत्त्व केवली गम्य)

### □ पाँच सौ चोर, पा गए प्रतिबोध

एक बार कपिल मुनि श्रावस्ती नगरी से विहार करके जा रहे थे। मार्ग में महारण्य में उन्हें बलभद्र आदि पाँच सौ चोरों ने घेर लिया। जब जाना कि छीनने योग्य मुनि के पास कोई मूल्यवान वस्तु नहीं है तो एक चोर ने कहा—“श्रमण! कुछ गाओ!”

कपिल केवली ने अपने ज्ञान-बल से जान लिया कि ये सभी जीव सुलभबोधि भवी हैं तो वे इस तरह लय व तानयुक्त मधुर स्वर में गाने लगे कि चोर भी उनके साथ गाएँ

और गाते-गाते प्रत्येक जीव गाए गए पद के शब्दों पर चिन्तन करते हुए बोधि को प्राप्त हो जाएँ।

‘बड़ी साधु वन्दना’ का पाठ प्रतिदिन प्रवचन में आप भी करते हैं। शब्दों का लय सहित उच्चारण यहाँ होता है, प्रवचन-हॉल उससे गूँज जाता है पर यही गूँज आपके भीतर तक पहुँचे कभी, हमारा भी यही लक्ष्य है। जिस दिन ऐसा हो गया, हम अपने लक्ष्य में सफल हो गए, उस दिन आपका आत्म-कल्याण का पथ सुनिश्चित रूप से प्रशस्त बन जायेगा।

सर्वज्ञ कपिल मुनि जानते थे कि पूर्वभव में ये चोर मेरे साथ संयम-यात्रा कर चुके हैं। उसी समय की वचनबद्धता भी थी कि अवसर आने पर वे उन्हें प्रतिबोध देंगे।

बंधुओं! कपिल मुनि की भावना सफल हुई। वे एक पंक्ति गाते तो सभी चोर भी उस पंक्ति को गाते हुए दुहराते।

अनुश्रुति के अनुसार प्रथम गाथा को गाने के बाद ही कई चोर प्रतिबुद्ध हो गए। अनेक दूसरी गाथा के बाद और इसी तरह तीसरी, चौथी, पाँचवीं गाथाओं के बाद उनमें से कुछ न कुछ प्रतिबोध पाते गए। अन्तिम गाथा के होने तक सभी पाँच सौ चोरों को सम्यक्बोधि की प्राप्ति हुई और वे कपिल केवली से दीक्षित बन संयमाराधन करने लगे।

महामुनि कपिल ने उन चोरों को उन्हीं के मुख से जो कुछ कहलवाया, वह पूरा प्रकरण अत्यंत प्रभावी है। उन्होंने कहा—

अध्रुवे असासयंमि, संसारंमि दुक्खपउराए।  
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाऽहं दोग्गइं न गच्छेज्जा ॥

अर्थात् अध्रुव, अशाश्वत और दुःख प्रचुर संसार में वह कौन-सा कर्म है, जिसके कारण मैं नरकादि दुर्गतियों में न जाऊँ?

बंधुओं! इस पद में संसार के तीन विशेषण आए हैं। पहला विशेषण है—अध्रुव! ध्रुव का अर्थ है अचल, एक ही स्थान में स्थिर। अध्रुव का अर्थ इससे ठीक विपरीत होता है अर्थात् जिसमें ऊँच-नीच गतियों और योनियों में जीव भ्रमण करता है—ऐसा यह संसार अध्रुव है।

संसार को दूसरा विशेषण दिया है—‘अशाश्वत’ होने का। जिसमें कोई भी वस्तु शाश्वत या नित्य नहीं है, जहाँ कुछ भी अविनाशी नहीं है, सब कुछ नश्वर है।

तीसरा विशेषण है—दुःखप्रचुर। जिस संसार में शारीरिक और मानसिक असीम दुःख है। आधि-व्याधि-उपाधि रूप जहाँ दुःखों की प्रचुरता है।

वस्तुतः संसार दुःखों का सागर है, नश्वर है, क्षणिक है अतः प्रत्येक प्राणी को कपिल केवली के इस कथन की भाँति ही अपने लिए विचार करना चाहिए। गाते हुए चोर शब्दों के अर्थ पर विचार करने लगे तो प्रतिबुद्ध हो गए। उपदेश आप भी सुनते हैं पर उसके अर्थ पर विचार नहीं करते, चिन्तन नहीं करते। जिस दिन चिन्तन ने इस ओर मोड़ खा लिया, आपमें ऐसा परिवर्तन आ जाएगा कि संसार आपको निस्सार लगने लगेगा, मन आत्मा में रमण करने लगेगा।

कपिल केवली गाते हुए आगे कहते हैं—

**विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहि चि कुव्वेज्जा ।  
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥**

अर्थात् (आसक्तिमूलक) पूर्व संयोगों का सर्वथा त्यागकर फिर किसी पर भी स्नेह (आसक्ति) न करे। स्नेह (राग या मोह) करने वालों के साथ भी जो भिक्षु स्नेह नहीं करता, वह दोषों (इहलोक के संताप) और प्रदोषों (परलोक में नरकादि दुर्गतियों) से मुक्त हो जाता है।

गाथा में कहा गया है, पूर्व संयोगों का सर्वथा त्याग करे। क्या हैं ये पूर्व संयोग? बन्धुओं! पहले संसार होता है फिर मोक्ष, असंयम पहले होता है संयम बाद में, मिथ्यात्व पहले होता है सम्यक्त्व बाद में। ज्ञातिजन व धन आदि पहले होते हैं इनका त्याग इनके होने पर ही किया जा सकता है अतः पूर्व-सम्बन्धों के त्याग का अर्थ हुआ मिथ्यात्वभाव, संसार-सम्बन्धों, असंयम के सम्बन्ध व ज्ञाति आदि सम्बन्धों का त्याग करना।

मुनि ने आगे इन चोरों को लययुक्त स्वर में गाते हुए कहा—

**सव्वं गन्थ-कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खू ।  
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥**

सभी प्रकार की बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रंथियों तथा कलह का भिक्षु त्याग करे। काम-भोगों के सभी प्रकारों में दोष देखता हुआ आत्मरक्षक मुनि उनमें कदापि लिप्त न हो।

**भोगामिस-दोस विसण्णे, हिय निस्सेयस बुद्धिवोच्चत्थे।**

**बाले य मन्दिए मूढे, वज्झई मच्छिया व खेलंमि॥**

शब्द आदि मनोज्ञ विषयों के भोगरूप आमिष में निमग्न होकर आत्मा को दूषित करने वाले मुनि आत्म-हित एवं निःश्रेयस में विपरीत बुद्धि रखता हुआ बाल (अज्ञ), मन्द व मूढ़ प्राणी कर्मों में उसी तरह फँस-उलझ जाता है जैसे श्लेष्म (कफ) में मक्खी।

कपिल केवली उसी भाँति गीत के माध्यम से उन्हें उद्बोधन देते हुए कहते हैं कि भिक्षुक-साधु तीन करण, तीन योग से सर्व सावद्यकारी हिंसा का आजीवन पूर्ण रूप से त्याग करते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके जीवन से पापकर्म उसी प्रकार निकल जाते हैं, जिस प्रकार उन्नत स्थल से जल।

भिक्षु संयम-यात्रा के लिए शुद्ध एषणा, गवेषणापूर्वक आहार बिना रसासक्ति के ग्रहण करे। जीवनयापन के लिए वह नीरस अन्न-पान, शीतपिण्ड, पुराने उड़द के बाकुले, अन्य सारहीन खाद्य-पदार्थ आदि रूक्ष पदार्थों का सेवन करे और जैसे गाड़ी के पहिए की धुरी को सुगम गति के लिए चुपड़ा जाता है वैसे ही महाव्रतादि में सुगम गति हेतु साधक आहार ग्रहण करे।

सर्वज्ञ मुनिवर ने चोर-समूह को प्रेरणा देते हुए गुणगुनाया कि—

**जे लक्खणं च सुविणं च, अंगविज्जं च जे पउंजन्ति।**

**न हु ते समणा वुच्चन्ति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ॥**

**नो रक्खसीसु गिज्जेज्जा, गंडवच्छासुण्णेगचित्तासु।**

**जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेल्लंति जहा व दासेहिं ॥**

**नारीसु नोव गिज्जेज्जा, हत्थी विप्पजहे अणगारे।**

**धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ॥**

बंधुओं! कितनी सारयुक्त बातों को उन्होंने चोरों के सम्मुख सरलता से रख दिया। जो साधक लक्षणशास्त्र, स्वप्नशास्त्र एवं अंग-विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हें सच्चे

अर्थों में 'श्रमण' नहीं कहा जाता। जिनके वक्षस्थल में स्तन-ग्रंथि हो, जो अनेक चित्त वाली हो, जो पुरुषों को प्रलोभन में फँसाकर उन्हें क्रीत दास की भाँति नचाती हों ऐसी राक्षसी-स्वरूपा स्त्रियाँ साधना के लिए विघातक होती हैं अतः साधक को इनसे दूर रहना चाहिए, इनके प्रति तन-मन में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नहीं रखना चाहिए अन्यथा दुर्गति निश्चित है।

#### □ तृष्णा को मिटाएँ, आत्म-भाव जगाएँ

दुष्प्रवृत्तियों में फँसे पाँच सौ चोरों को प्रतिबोध देकर संयम-पथ पर आरूढ़ कराने वाले, स्वयं मुक्ति को प्राप्त करने वाले उन महाश्रेष्ठ, महामुनि कपिल केवली को हमारा भी भावपूर्ण वन्दन हो। उन्हीं की तरह हमारी भी तृष्णा मिटे, उनके द्वारा उपदिष्ट उपदेश हमारे भीतर में उतरें, हममें भी विरक्ति के उत्कृष्ट भाव जगें, संयम-पथ पर चलते हुए निरतिचार संयम की पालना हो तभी हमारी भी मुक्ति संभव है।

आनंद ही आनंद !



## अनेकत्व से एकत्व की ओर नमि राजर्षि

आत्म-बंधुओं !

वैशाख और ज्येष्ठ मास की असहनीय धूप हो। तपता हुआ ग्रीष्म हो। कंठ और ओष्ठ सूखे चले जा रहे हों। इन सबसे संतप्त प्राणी को यदि सरोवर का किनारा मिले, वृक्षों की ठंडी छाँव मिले और मिले हिम की भाँति शीतल गंगा का जल तो उसके समस्त दैहिक ताप-संताप मिट जायेंगे। इसी भाँति महावीररूपी हिमाचल-शिखर से आगम-वाणीरूप ज्ञान-गंगा का प्रवाह बाहर की गर्मी के साथ अंतर् की कषायों आदि की गर्मी को शांत करने, अशुभ कर्मबंध से संतप्त प्राणियों को तृप्ति देने में अनुपम है, सर्वश्रेष्ठ है, रामबाण है। गंगा के तीव्र प्रवाह को धारण करना साधारण व्यक्ति के बस की बात नहीं वैसे ही प्रभु-वाणी को संग्रहित-संकलित कर सके, कंठस्थ कर सके यह भी साधारण व्यक्ति के वश की बात नहीं, गौतम जैसे गणधर ही उसे धारण कर सकते हैं।

### □ महावीर के जन्म-समय की युगीन परिस्थितियाँ

महावीर के समय में सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक कुरीतियों एवं कुरूढ़ियों का प्रवाह तीव्र हो चला था। अत्याचार एवं अन्याय का बाजार गर्म था। साधारण व्यक्तियों की तो बात छोड़िए, राजकुमारियाँ तक सबके सामने बाजार के बीच नीलाम की जाती थीं। राजा के किसी ने कान भर दिए कि राजमहल की ५०० रानियों में से अनेक संदिग्ध चरित्र की हैं। राजा ने आदेश दे दिया—जला दो उनको और पूरा का पूरा राजमहल जला दिया जाता। व्यक्ति-व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष और क्रोध आदि के भाव चरम सीमा पर पहुँच गए थे। वेदों के विधि से किए जाने वाले ब्राह्मण-यज्ञों में पशु-बलि हिंसा नहीं मानी जाती थी। ऐसे ही गर्त में गिरते हुए युग को प्रबुद्ध करने के लिए उस समय महावीर की आत्मा का अवतरण हुआ था।

### □ 'बड़ी साधु वन्दना'—अनेक आगमों का सार

भगवान महावीर ने उस युग के ताप-संताप का हरण करने हेतु अपनी जन-कल्याणी वीतराग वाणी का प्रवाह प्रारम्भ किया। जो साधक इस अमृतोपम वाणी में डुबकी लगा लेता है, आकंठ निमज्जित हो स्नान कर लेता है, वह महान् बन जाता है, आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा बन जाता है। कपिल केवली ने जैसे ही आत्म-ज्ञानामृत के एक घूँट का आस्वादन कर कंठ से नीचे उतारा, जीवनभर की भूख-प्यास मिट गई। ऐसे अनंत केवली-अनंत मुक्तिगामी आज तक हो चुके हैं। 'बड़ी साधु वन्दना' में उन्हीं को भाव-नमन किया गया है। चिन्तन करें तो एक सौ ग्यारह कड़ियों की यह साधु वन्दना अनेक आगमसूत्रों का सार अपने में समेटे हुए है। गहराई में उतरें और सापेक्षवाद काम में लाएँ तो सभी बत्तीस आगमों, सम्पूर्ण शास्त्रों का सार इसमें आ गया है।

### □ भावों को नमाना है

यह 'बड़ी साधु वन्दना' विनय का कोष है। स्थान-स्थान पर अनेकानेक बार इसमें गुणियों, महापुरुषों को वन्दन, नमन किया गया है। हम भी इसी साधु वन्दना को हृदयंगम करने में लगे हैं। सीखना है—नमन, नमते जाना। भावों को नमाना है, मन को झुकाना है, परिणामों को हल्का बनाना है तभी वन्दना की सफलता मानी जाएगी। भाव-वन्दन से अशुभ कर्मों को किसी भी क्षण शुभ कर्मों में परिवर्तित किया जा सकता है।

निकाचित कर्मों को जिस रूप में बाँधा, उस रूप में उससे भी अधिक असंख्यात गुना कष्ट के साथ भी कर्म भोगने के उदाहरण आगम में प्राप्त हैं—गजसुकुमाल जिन्हें सिर पर अंगारे धारण करने पड़े, खंदक ऋषि को अपनी खाल खिंचवानी पड़ी। किया क्या था गजसुकुमाल के जीव ने? ९९ लाख भव पहले गर्म-गर्म रोटी बालक के सिर पर रखी थी। खंदक ऋषि ने काचरे का छिलका छीलकर प्रशंसा की थी।

### □ अशुभ का शुभ में परिवर्तन करें

बंधुओं! सुनने का लाभ इसी में है कि अपने परिणामों को आप शुभ बनाएँ। यह ठीक है कि हर समय शुभ परिणाम आते नहीं हैं पर कभी-कभी तो बनाइए, निरन्तर प्रयत्न करते रहिए। हो सकता है कभी वह समय भी आए जब अशुभ बंधन का शुभ में परिवर्तन हो जाए अथवा अशुभ बद्ध कर्मों की स्थिति और रस कम करने, कर्मों का उपशम, क्षयोपशम या



क्षय करने के लिए प्रयत्नशील बन पुरुषार्थ करना होगा। एकान्त स्थान पर, एकाग्रता रखते हुए, भावपूर्वक शुभ स्वाध्याय करेंगे तब उत्कृष्ट रसायन कभी आ गया तो मुक्ति निश्चित है। 'बड़ी साधु वन्दना' का स्वाध्याय भी यही फल प्रदान करने वाला है।

धन्य कपिल मुनिवर, नमि नमूं अणगार।

जेणे तत्क्षण त्याग्यो, सहस-रमणी-परिवार ॥१३॥

### □ नमि राजर्षि

कपिल केवली को आपने सुना। दो माशा स्वर्ण-लोभ पूरे राज्य की प्राप्ति तक चढ़ा और उतरा तो ऐसा कि एक क्षण में। वहाँ लोभ नष्ट हुआ था तब विरक्तिभाव और यहाँ नमि राजर्षि के प्रकरण में 'एकत्वभाव' के चिन्तन में एक क्षण में एक सहस्र राज-रानियों का, राज-पाट का, धन-धान्य राज्यकोष का अनुपम त्याग मन को एक बार तो उद्वेलित कर देता है। धन्य हैं वे महापुरुष! काश! हममें भी वही जागृति आ पाती।

नमि एक हजार रानियों को एक ही क्षण में त्यागकर जब संयम धारण करने का विचार करते हैं तो देवेन्द्र सोचते हैं कि उतावली में उठाया हुआ यह कदम है, वापस पीछे जायेगा यह। आवेश में निर्णय लिया है संयम का, पर संयम ले नहीं पायेंगे राजेन्द्र! वह स्वयं आता है उनके वैराग्यभाव की दृढ़ता को परखने, जाँचने, परीक्षा लेने पर नमि अपने विचारों पर दृढ़ रहते हैं, डिगते नहीं।

### □ अन्तर् में आदर्श जगाएँ

एक क्षण में हजार रानियाँ और राजपाट त्याग दिया उन्होंने। हम तो दुर्व्यसनों के शिकार व्यक्ति से आज जब व्यसन त्यागने की बात करते हैं तो प्रत्युत्तर मिलता है—“बाब जी! छूटे कोनी!” अनेक बहाने, अनेक तर्क-वितर्क पर हम जानते हैं कि उनका मन मजबूत नहीं है, ढीला है मन। लुढ़क जाता है तुरंत। अरे महानुभावों! इन महापुरुषों का स्मरण करो, इनके आदर्शों को अन्तर् में जगाओ।

### □ त्याग वही, जिसमें त्याग-भाव हो

जिनके पास है जो कुछ, उसमें से कुछ त्याग करो तो महानता। है ही नहीं जिसके पास वह क्या छोड़ेगा? “नार मुई घर सम्पत्ति नाशी, मूँड मुँडाए भए संन्यासी” से क्या लाभ?

साधन-सम्पदा हो, व्यक्ति उनको भोगने में समर्थ हो, उस समय त्यागकर, ठोकर मारकर निकल जाए तो ही वास्तविक त्याग कहलाएगा। मान लो सब कुछ है पर भोग का सामर्थ्य नहीं, तब आप महाराज के पास जाकर कहें कि अब त्याग करा दो अन्नदाता! अरे भाई अब कैसा त्याग? डाइबिटीज का रोग हो गया। डॉक्टर ने शुगर का बढ़ता-चढ़ता आँकड़ा बताकर सचेत किया कि शक्कर मत खाना, मिठाई मत खाना, फल मत खाना। अब आप महाराज साहब के श्रीचरणों में उपस्थित होकर, नतमस्तक वंदना कर निवेदन करते हैं—“बाब जी! मिठाई खावण रा जाव-जीव त्याग करा दो।” कैसा त्याग है यह आपका? आप जानते हैं कि मिठाई खाई और मौत को निमन्त्रण दिया। घर में तो कांशी की थाली भी नहीं और आकर कहते हैं—“महाराज! सोने का थाल में जीमण रा सौगंध करा दो।” अमुक-अमुक फल, सब्जी आदि रुचते नहीं, भाते नहीं। आए दौड़कर यहाँ और बोले—“बाब जी! अमुक-अमुक फल, सब्जी के, अमुक वस्तु के सेवन के त्याग करा दो।” जघन्य त्याग होगा वह। त्याग द्वारा जो फल मिलना चाहिए, जितना फल मिलना चाहिए, वह और उतना फल मिलना कठिन है। त्याग करना है तो उस वस्तु का कीजिए जिसके खाने में आपको स्वाद आता हो। तभी उसकी सफलता है। दशवैकालिकसूत्र में यही बात बताते हुए कहा गया है—

वत्थ-गंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।  
 अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥  
 जे य कंते पिए भोए, लब्धे विपिट्ठि कुव्वइ।  
 साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

तात्पर्य यह कि रोगादि के कारण जो व्यक्ति वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री-धन, शय्या और आसनादि का उपभोग नहीं कर पाते अतः उनका त्याग करते हैं, वे वस्तुतः त्यागी नहीं होते। त्यागी वे ही होते हैं जो अभीष्ट और चित्ताकर्षक भोगोपभोग की सामग्री उपलब्ध होने पर भी और उन्हें भोगने की शक्ति-सामर्थ्य रहते हुए उनका स्वेच्छया त्याग कर देते हैं।

प्राप्त ऋद्धि-सिद्धि एवं एक सहस्र रूपवान कुलीन रानियों के तत्क्षण त्याग करने वाले नमि कौन थे? क्यों त्याग दिया उन्होंने इन सबको? क्या किया इस त्याग के पश्चात्

उन्होंने? उत्तराध्ययनसूत्र के नौवें अध्ययन में मिलता है यह वर्णन। उनके जीवन-वृत्तांत को जानने के लिए हमें सती मदनरेखा के प्रसंग पर आना होगा क्योंकि वे ही उनकी माता थीं।

### □ सती मदनरेखा पर संकट

मालव प्रदेश का एक सुन्दर समृद्ध नगर था—सुदर्शनपुर। यहाँ का राजा था मणिरथ और युवराज युगबाहु उनका लघुभ्राता था। युगबाहु की पत्नी का नाम था मदनरेखा। मदनरेखा अत्यन्त रूपवान, सुमुखी, सौन्दर्यशील महिला थी। कभी प्रसंगवश मणिरथ ने उसके सौन्दर्य को पलकभर के लिए देखा तो चितबंगा हो गया। नारी का सौन्दर्य जब पुरुष की सुषुप्त काम-वासनाओं को जगाकर रग-रग में उसे उद्दीप्त कर देता है तो कामांध पुरुष निर्लज्ज बनकर बड़े से बड़ा दुष्कृत्य करने पर उतारू हो जाता है। मन में जब कामभाव का ज्वार आता है तो अन्य सारे भाव तिरोहित हो जाते हैं। मणिरथ के मन में भी कामभाव का ज्वार उफान ले चुका था, ऐसे में भ्रातृ-प्रेम, नैतिक-आचरण, पारिवारिक मर्यादाएँ सभी निष्प्रभावी बन जाँएँ तो आश्चर्य क्या?

मन में घुसे वासना-राक्षस ने मणिरथ की कुचेष्टाओं को जाग्रत कर दिया। उसने दुष्भावना से युगबाहु को सीमा पर उत्पात मचा रहे आतताइयों को बंदी बनाने व सीमा पर शांति स्थापित करने भेज दिया, जिससे अनुज के दूर रहने पर अनुज-वधू की प्राप्ति का दुष्चक्र सहजता से चलाया जा सके।

युगबाहु सहज रूप से राजाज्ञा का पालन करते हुए सेना साथ लेकर सीमा पर चला गया। मणिरथ राजा ने तब मदनरेखा को वश में करने के अनेक प्रयत्न किये पर वह अपने प्रयत्नों में नितान्त असफल रहा। उधर युगबाहु ने सीमा प्रान्त पर उपद्रवी-तत्त्वों को शांत कर, विजय प्राप्त कर वहाँ से प्रस्थान किया और नगर के बाहर डेरा डाल भ्राता मणिरथ राजा को सूचना भिजवा दी।

मणिरथ के साथ ही उसने एक अन्य दूत के साथ मदनरेखा को भी कहलवाया। मदनरेखा गर्भवती थी। वह अति बुद्धिमान एवं दूरदर्शी थी। उसे किसी गहरे षड्यंत्र एवं अनिष्ट की भी आशंका थी अतः मन की शांति तथा प्रसन्नता के लिए वह भी अपने पति के पास नगर के बाहर उद्यान में आ गई। वहाँ के शांत एवं शुद्ध प्राकृतिक वातावरण से

उसका मन प्रफुल्लित हो उठा। उसे क्या पता था कि इस शांति के पीछे कितनी भयानक अशांति शीघ्र आने वाली है।

मणिरथ का हृदय तो काम-वासना की तीव्रता में जला जा रहा था। बेचैनी इस सीमा तक बढ़ गई थी उसके हृदय की कि वह कोई अन्य रास्ता मदनरेखा को प्राप्त करने का न देख युगबाहु को मारने के लिए, भ्राता के घात के लिए, सहोदर के खून से अपने हाथ रँगने के लिए भी तैयार हो गया। वह समझता था कि भाई के मरने पर मदनरेखा जब अनाथ, असहाय बन जायेगी तो विवश हो जायेगी मेरे आगोश में आने के लिए।

अमावस्या की काली अंधेरी रात। मणिरथ के कलुष हृदय की भाँति ही अर्ध-रात्रि की कलुषता ने पूरे नगर-राज्य को अंधकारमय बना दिया था। इसी कालिमा में मणिरथ की मन-कालिमा ने कुछ करने का निर्णय लिया। मणिरथ ने नंगी तलवार हाथ में ली, अश्व पर आरूढ़ हुआ और नगर-बाहर उस उद्यान की ओर चल दिया, जहाँ उसी का युवराज भाई निःशंक निद्रालीन था। उद्यान के निकट पहरेदारों ने उसे रोका पर वह राजा था अतः वे कब तक उसे रोक पाते? मणिरथ युगबाहु के शयनागार तक पहुँच गया। यहाँ फिर पहरेदारों ने रोका। खटपट एवं बातों की आवाज से मदनरेखा की निद्रा खुल गई।

मदनरेखा ने अपने पति को जगाकर सावधान किया। युगबाहु जगा और खड़ा होकर बाहर आए तब तक मणिरथ नंगी तलवार हाथ में लिए, रौद्ररूप बनाए अन्दर आ चुका था। युगबाहु की आँखें विस्फारित हो गईं। वह कुछ समझ पाता, कुछ कर पाता उससे पूर्व ही मणिरथ की तलवार का एक वार उसकी गर्दन पर हुआ। गर्दन आधी कटकर लटक गई और युगबाहु धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। मणिरथ रक्तंजित तलवार हाथ में लिए जिस तरह आया था, उसी तरह अश्व दौड़ाते हुए राज्य की ओर चल दिया। राह में ही विषैले सर्प द्वारा काटे जाने पर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। अत्यन्त अशुभ परिणामों की धारा के कारण वह नरकगति का अधिकारी बना।

#### □ युगबाहु का मरण सती ने सुधारा

मदनरेखा सती थी, धर्मप्रिय थी, शीलवान थी। उसे जैनधर्म के संस्कार बचपन में ही मिले थे, नवकार मंत्र में उसकी अटूट श्रद्धा थी। उसने पति के सिर को गोद में लिया।

उनकी आँखों में झाँका तो वहाँ उसे क्रोध ही क्रोध नजर आया। मदनरेखा ने विचार किया—‘इस समय यदि इनका क्रोध शांत नहीं हुआ, मन में जाग्रत वैरभाव यदि नहीं मिटा, हृदय में शांति का प्रवेश नहीं हुआ तो इनकी दुर्गति निश्चित है।’ वह सच्ची सहधर्मिणी थी अतः पति को दुर्गति से बचाने के लिए अपना मुख पति के कान के पास रखकर शांत स्वर में बोली—“नाथ! जो कुछ भी घटित हुआ, वह संसार का स्वभाव है। इसमें किसी को दोष देकर उसे अपराधी मानना हमारी ही भूल है। दोष यदि देना ही है तो हमें अपने कर्मों को ही दोषी मानना चाहिए। जैसे कर्म हमने पहले किये, उन्हीं के उदय का यह फल है। आप क्रोध का त्यागकर, मन को शांत बनाइए। ‘खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमंतु मे’ का स्मरण कर प्राणीमात्र से शत्रुभाव का त्याग कर दीजिए।”

पत्नी के आत्म-कल्याणी इन वचनों ने युगबाहु के क्रोध को शांत कर दिया। उसका मणिरथ के प्रति वैरभाव समाप्त हो गया। मन में धर्म के प्रति श्रद्धा की जागृति हुई। तब मदनरेखा ने उसे महामंत्र का पाठ सुनाना प्रारम्भ किया। इस तरह शांतभाव से, निर्मल परिणामों की धाराएँ बहाते हुए महामंत्र में एकचित्त ध्यानावस्थित होकर युगबाहु के प्राणों ने उसके शरीर का त्याग किया। वह मरकर सुगति (देवलोक) को प्राप्त हुआ।

#### □ सती मदनरेखा के पुत्र-जन्म, पालन मिथिला-नरेश द्वारा, यही था नमि

पति के दिवंगत होते ही मदनरेखा सचेत हो गयी—‘अब मेरा यहाँ रक्षक कौन है? जिसके सहारे मेरा शील सुरक्षित रह सके। यहाँ पर अब कोई नहीं है। अब मुझे यहाँ से तत्काल निकल जाना चाहिये। सूर्योदय से पूर्व तक बहुत दूर पहुँचना हितकारी होगा।’ वह शीघ्र ही गुप्त मार्ग से निकल गयी। अंधेरी रात्रि का लाभ उठा सुरक्षित रूप से मदनरेखा बहुत ही दूर निकल गयी। वह किसी उपयुक्त स्थान में रहकर गर्भ का पालन करने लगी। वन में सुस्वाद फलों की कोई कमी नहीं थी, जहाँ पर सैकड़ों मधुर फलों के वृक्ष थे, जो बहुत ही स्वादिष्ट थे जिससे उसकी क्षुधा शान्त हो जाती थी। कालान्तर में मदनरेखा ने अत्यन्त तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। अब उसके योग्य लालन-पालन, परिवर्धन की चिन्ता होने लगी। अपने उत्तरीय को आधा फाड़कर उसकी झोली बना ली और उसमें शिशु को सुलाकर वृक्ष की शाखा पर लटका कर झूला देने लगी। बच्चे के भविष्य पर चिन्तन कर

रही थी, अचानक घोड़ों की टापें सुनाई दीं। तब मदनरेखा लपककर पेड़ों के झुरमुट में जा छुपी। नवजात शिशु रोने लगा। इसी समय नवजात शिशु को मिथिला-नरेश पद्मरथ ने जंगल में अकेला देख आश्चर्य किया। उसकी माँ को ढूँढ़ा और वहाँ न पाने पर वह इसे अपने साथ मिथिला ले आया। उसका नाम रखा—नमि। उसे विद्या एवं कलाओं का अध्यायन कराया और समस्त कलाओं में निपुण बनाया।

बहुत समय बाद पद्मरथ के मुनि बन जाने पर 'नमि' राजसिंहासनारूढ़ होते हैं। एक बार राजा नमि के शरीर में दुःसह दाह-ज्वर उत्पन्न होता है। घोर कष्ट, असहनीय पीड़ा होती है उन्हें। छह माह तक अनेक तरह के उपचार किए जाते हैं, लेकिन कोई लाभ नहीं होता।

#### □ औषधोपचार : बावना-चन्दन

एक दिन एक वैद्य आकर बताते हैं कि बावना-चन्दन घिसकर शरीर पर लेप करें तो दाह शांत हो सकता है। बड़ा गुणी है बावना-चंदन; पर मिलना सहज नहीं है इसका। कितनी शक्ति होती है इसमें, एक उदाहरण द्वारा यह दर्शाया गया है।

एक भट्टी पर एक कड़ाही चढ़ाकर उसी की सीध में एक पंक्ति में एक कड़ाही की कड़ी, दूसरी कड़ाही की कड़ी से जोड़ते हुए बावन कड़ाहियाँ जोड़ी जायें। भट्टी पर जो कड़ाही है, उसके नीचे तीव्र आँच देकर तेल को कोई उबाले। उबलते-खौलते तेल की कड़ाही से जुड़ी कड़ाहियों में जो अंतिम बावनवीं कड़ाही है, उस पर बावना-चन्दन के छींटे डाले जायें। खौलता हुआ भट्टी पर चढ़ी कड़ाही का तेल तुरंत ठंडा हो जायेगा, शीतल बन जायेगा।

#### □ जहाँ टकराव, वहाँ अशान्ति

महाराज नमि के तीव्र दाह की वेदना को शांत करने के लिए बावना-चंदन लाया गया। सहधर्मिणी एक हजार रानियों के दो हजार हाथों ने उस चंदन को घिसना प्रारम्भ किया। चन्दन घिसते समय हाथों में रहे हुए सुहाग-चिह्न कंकणों के परस्पर टकराने से तुमुल ध्वनि होने लगी। वेदना से व्याकुल महाराज नमि को यह आवाज जरा भी नहीं सुहायी। उन्होंने मंत्री से कहा और मंत्री ने रानियों को कहलाया। अब रानियाँ क्या करें? सुहाग-चिह्न कैसे उतार दें? उन्होंने तब सुहाग-चिह्न रूप एक-एक कंकण तो दोनों हाथों में रखा, शेष

उतार दिए। अब चंदन घिसने पर भी आवाज नहीं आ रही थी। अकेला कंकण किसी अन्य से टकराएगा नहीं तो आवाज होगी भी कैसे।

“क्या चंदन घिसना बंद कर दिया रानियों ने?” महाराज ने पूछा मंत्री से।

“नहीं महाराज! वे सभी चन्दन घिस रही हैं।” मंत्री जी बोले।

“फिर आवाज क्यों नहीं है कंकणों की? क्या कंकण उतार दिए।” महाराज का प्रश्न था।

“सभी तो नहीं पर एक-एक कंकण रखकर शेष उतार दिये महाराज!” मंत्री ने कहा।

### □ नमि हुए प्रत्येकबुद्ध

सुना महाराज नमि ने तो विचार में पड़ गए—‘एक है तो टकराहट नहीं, आवाज नहीं, संघर्ष नहीं, अशांति नहीं। अनेक हैं जहाँ, वहीं टकराहट, अशांति।’ चिन्तन की धारा इन्हीं भावों में प्रसरित होने लगी। वे प्रतिबुद्ध हो गए। बोधि की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है— (१) स्वयंबुद्ध अर्थात् किसी के उपदेश के बिना स्वयंबोधि प्राप्त करना, (२) प्रत्येकबुद्ध किसी बाह्य घटना का निमित्त पाकर प्रतिबुद्ध होना, और (३) बुद्धबोधित बोधि प्राप्त व्यक्तियों से उपदेश पाकर, प्रेरित होकर बोध प्राप्त करना। नमि महाराज ने भी विचार किया—‘मुझे अशांति से शांति में जाना है तो अनेक व्यक्तियों से जुड़ाव को त्यागना होगा, एक बनना होगा, अकेला रहना होगा तभी शांति मिलेगी। कैसे बना जाय अकेला? कैसे छोड़ें इस जुड़ाव को? क्योंकि जब तक अनेक हैं टकराव होते रहेंगे। संसार में तो जहाँ देखो टकराव ही है। पति-पत्नी, पिता-पुत्र, एक से दो हुए नहीं कि टकराव प्रारम्भ हो जाता है।

### □ युद्ध क्यों ?

एक मुल्ला जी का लड़का इतिहास पढ़ रहा था। महाराणा प्रताप और अकबर का प्रसंग आया। किस प्रकार उनके बीच युद्ध लड़ा गया? कितनी-कितनी सेना थी? प्रताप की थोड़ी-सी सेना ने किस प्रकार युद्ध किया? ये सब बातें पढ़ीं, समझ में भी आ गई पर उसे एक बात समझ में नहीं आई कि ये युद्ध होते क्यों हैं? कैसे प्रारम्भ होता है टकराव का वातावरण? पूछा पिता से तो पिता ने सहज बता दिया कि देखो बेटे! मान लो किसी बात को लेकर पाकिस्तान भारत पर अटैक (Attack) कर दे तो हो जायेगा युद्ध प्रारम्भ।

बच्चे की माँ सुन लेती है यह बात। वह कहती है—“अजी! क्यों बच्चों में गलत भाव भर रहे हो। पाकिस्तान एक इस्लाम देश है, बड़ा शांत देश है। आपका तो स्वभाव ही इस्लाम-विरोधी बन गया है। मुसलमान हैं पर न जाने किस मिट्टी के बने हैं?”

पिता कहता है—“अरे भाग्यवान्! मैंने तो इसके प्रश्न के उत्तर में वैसे ही उदाहरण दे दिया। मान लो ऐसा हो जाता है.....।”

माता—“मान लें क्यों? जो बात ही नहीं, उसे कैसे माना जाय? बिना बुनियाद के भवन की दीवारें कैसे खड़ी की जा सकती हैं? आप अपनी गलती क्यों नहीं स्वीकार कर लेते। पाक के प्रति ऐसे नापाक विचार भरना उचित बात नहीं है।”

पिता—“अरे पर कह तो रहा हूँ कि मैं तो उदाहरण.....।”

माता—“यही उदाहरण क्यों दिया? कोई दूसरा उदाहरण भी दे सकते थे पर तुम तो हो ही ऐसे।”

कुछ देर तक दोनों में वाक्-युद्ध चला। गुस्सा बढ़ा तो पत्नी ने बेलन उठा लिया। पति भी कब चूकने वाला था, पास में पड़ा डंडा हाथ में लिया और बोला—“औकात तो औरत की और मरदों की बराबरी करती है।” दोनों महाभारत के लिए तैयार हो गये।

बच्चे ने यह सब देखा, सुना और उन्हें इस तरह वाक्-युद्ध से शस्त्र-युद्ध की तरफ बढ़ते देख बीच में आते हुए बोल उठा—“ठहरिए अब्बा, रुकिए अम्मीजान! अब लड़ने की आवश्यकता नहीं। मुझे समझ में आ गया है कि टकराव की स्थिति कैसे बनती है? युद्ध कैसे प्रारम्भ होते हैं? मुझे मेरे प्रश्न का समाधान मिल चुका है।”

#### □ टकराव बन्द करना है तो एक बनिए : जैसे नमि बने

बंधुओं! व्यक्ति जब सर्वस्व त्यागकर ‘स्व’ में अर्थात् अपने ही भीतर रमण करने लगता है तो उसका संसार समाप्त हो जाता है। एक से जहाँ भी दूसरा आकर मिल जाता है, दो होते ही संसार चालू हो जाता है।

संसार मिटाना है तो एक बनिए, टकराव को नष्ट करना है तो अन्तर्मुखी बन जाइए। सारे विवाद, सारे झगड़े नष्ट हो जायेंगे। झगड़ा है आसक्ति का, झगड़ा है मोह के कारण,



एकत्वभावना आई कि अनासक्ति की उत्पत्ति स्वतः हो जायेगी। नमिराज इसी तरह का चिन्तन कर रहे थे। सर्वस्व त्याग एकांत में जाकर साधना करने का निर्णय ले रहे थे। विचार किया उन्होंने कि 'मुझे तो उसी पथ पर बढ़ जाना चाहिए जो आत्मोन्नति की ओर ले जाता है। आत्मार्थी बन जाने में ही मेरा कल्याण है।'

'राज्य-त्याग, राज-रानियों को छोड़ राज्य-कोष से आसक्ति हटा, अपने अपनत्वभाव व ममत्वभाव को घटा, मैं सूर्योदय के साथ ही संयम के लिये निकल पडूँगा।' इन्हीं सब विचारों में खोए नमिराज को बहुत समय बाद शांति की निद्रा आई। प्रातः जब उठे तो दाह शांत था, शरीर स्वस्थ था, नाखून में भी रोग नहीं था। समस्त अशुभ कर्म शुभ पारिणामिक भावों के कारण शुभ रूप बन चुके थे।

#### □ नमि दीक्षित, देवेन्द्र का संशय

प्रातःकाल नमिराज अपना राज-पाट, समस्त परिवार, अन्तःपुर की राज-रानियाँ, राज्य-कोष आदि सर्वस्व त्यागकर प्रिय-जनों से विदा ले नगर के बाहर उद्यान में आकर सभी वस्त्राभूषण उतार मुनि-वेश पहन पंचमुष्टि लोच अपने हाथों से करने लगे।

देवलोक में देवराज इन्द्र ने विचार किया—'नमिराज का इस प्रकार दीक्षा लेना क्षणिक भावावेश है। बिना स्थिर परिणाम के ये संयम का पालन शायद ही कर सकेंगे? मुझे इनके भावों की स्थिरता, दृढ़ता की जाँच करनी चाहिए।'

#### □ राजर्षि नमि व देवेन्द्र के प्रश्नोत्तर

देवेन्द्र ने तब एक ब्राह्मण पंडित का रूप धारण किया और नमि राजा के पास आए। आगम (उत्तराध्ययन) में इन्द्र द्वारा नमि से किए गए दस प्रश्नों का उल्लेख मिलता है। ये दस प्रश्न इन्द्र की उस बुद्धि का प्रमाण देते हैं, जिससे उसने नवदीक्षित राजर्षि नमि को दीक्षा से विचलित करने का प्रयत्न किया। इन्द्र का पहला प्रश्न था—

**किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए, कोलाहलग-संकुला ।**

**सुव्वन्ति दारुणा सद्दा, पासाएसु गिहेसु य ?**

हे राजर्षि! मिथिला के महलों व घरों में कोलाहल, विलाप, क्रन्दन के शब्द क्यों सुने जा रहे हैं?

नमि राजर्षि ने तब देवेन्द्र से कहा—

मिहिलाए चेइए वच्छे, सीयच्छाए मणोरमे।  
 पत्त-पुप्फ-फलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥  
 वाएण हीरमाणंमि, चेइयंमि मणोरमे।  
 दुहिया असरणा अत्ता, ए ए कंदन्ति भो ! खगा ॥

मिथिला नगरी में एक उद्यान (राजभवन) था, उसमें ठंडी छाया वाला, मनोरम पत्तों, फूलों से युक्त बहुत-से पक्षियों (पुरजन-परिजन) का सदैव अत्यंत उपकारी (बहुगुण सम्पन्न) एक वृक्ष (स्वयं नमि राजर्षि) था।

प्रचण्ड आँधी (दाह-ज्वर निमित्त) से आज उस मनोरम वृक्ष के हट जाने (दीक्षा लेने) पर, हे ब्राह्मण! ये दुःखित, अशरण और पीड़ित पक्षी क्रन्दन कर रहे हैं।

बंधुओं! मुनिवर ने कैसा सारगर्भित समाधान दिया। वस्तुतः इस जगत् में स्वजन और परिजन स्वार्थ-सिद्धि के न होने से, पत्नी विषय-भोग, गृह-वैभव के सुख और धन-प्राप्ति की दृष्टि से, मित्रगण विभिन्न स्वार्थमयी कामनाओं की पूर्ति छूट जाने से रोते हैं, कोसते हैं, व्यथा प्रकट करते हैं। जहाँ से भी किसी प्रकार का लाभ प्राप्त हो रहा हो तो उस लाभ के विनष्ट हो जाने पर इष्टजन रोते हैं उनका रोना उस व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु उसके द्वारा जिन स्वार्थों की पूर्ति होती है, उन स्वार्थों के लिए होता है।

संयम के लिए अभिनिष्क्रमण करने पर अनेक स्वार्थी तत्त्व आज भी रो-रोकर वैराग्यवंत को अपने मोह-जाल में उलझाने के भरपूर प्रयत्न करते हैं। यह संसार की रीति है कि वे सभी को अपनी ही तरह देखना चाहते हैं। पुत्र दीक्षा ले रहा है तो माता-पिता के आँसू बहने का कारण है—“यह तो चला जाएगा फिर कौन हमारी सेवा करेगा? बुढ़ापे की लकड़ी कौन बनेगा? मेरे नाम व वंश को आगे कौन बढ़ाएगा?”

क्या उनका ऐसा विचार करना सही माना जाए? नहीं बंधुओं! संयम तो किसी के लिए भी पीड़ाकारक नहीं माना जाना चाहिए। जो व्यक्ति षट्कायिक जीवों की रक्षार्थ नाते-रिश्ते, मोह-माया के बंधन तोड़ रहा है, वह महानात्मा तो स्व-पर के कल्याण का संकल्प लिए सैकड़ों, हजारों, लाखों माताओं और पितृतुल्य जनों की सेवा करेगा, उनकी पर-भव यात्रा के लिए सम्बल बनेगा, दुर्गति से उन्हें बचाकर उनके नाम व वंश को रोशन करेगा।

### □ स्वार्थ के नाते-रिश्ते हैं

राजर्षि नमि कहते हैं—इनको मुझसे स्वार्थ था। संसार के समस्त बंधन स्वार्थमय हैं। एक भी सम्बन्ध ऐसा नहीं है, जिसमें स्वार्थ निहित न हो। यदि ये नाते-रिश्ते स्वार्थ के नहीं होते तो ये मेरे लिए क्रन्दन नहीं करते। मैं जब अंग दाह-ज्वर की उग्र पीड़ा सहन कर रहा था, हाय-त्राय कर रहा था, क्या तब इनमें से मेरी पीड़ा को बाँटने वाला कोई था? कौन भोगता है रोग को? स्वयं को ही भोगना पड़ता है। अशुभ कर्म, असातावेदनीय कर्म जिसके भी उदय में आते हैं, उसी को भोगने पड़ते हैं। संसार में सच्चा सम्बन्धी, मित्र, सहयोगी वह होता है, जो धर्म-कार्यों में सहयोग देता है। **कालसौरिक कसाई** ने भी अंतिम समय में दुसह्य दुःख भोगे थे पर **बुद्धिमान् अभयकुमार** ने उसके पुत्र सुलस को समझा दिया कि यह हिंसाजनित पापकार्य महान् दुःख का कारण है। अनेक प्रकार से समझाकर अभयकुमार उस कालसौरिक के पुत्र से हिंसा का त्याग करवा देता है। सच्चा सहयोगी है अभयकुमार, जिसने सुलस को अतिजात पुत्र की श्रेणी में ला खड़ा किया।

### □ अतिजात कौन ?

कालसौरिक के मरणोपरान्त शोक की परम्परा की अविध पूर्ण होने पर उसके सभी पारिवारिक जन एकत्रित होकर उसके पुत्र से कहते हैं—“शोक का समय समाप्त हुआ। अब उठो और अपने पिता का धंधा प्रारम्भ करो। तुम्हारे पिता का नियम था—नित्य पाँच सौ पाड़ों का कत्ल कर उनका माँस विक्रय करना। तुम उसी पिता के पुत्र हो, हम चाहते हैं, तुम अपने धंधे में उनसे भी श्रेष्ठ बनो।”

बंधुओं! वह तो अभयकुमार की सद्शिक्षा से अहिंसक बन चुका था पर यह तो निश्चित है कि संसार के लोग पुत्र को पिता से आगे निकला हुआ देखना चाहते हैं। ठाणांगसूत्र में अपेक्षया चार तरह के पुत्रों का विवरण आता है—अतिजात, अनुजात, अपजात और कुलंगार।

**अतिजात पुत्र**—वे कहलाते हैं जो अपने धंधे में और मान-सम्मान, समृद्धि में पिता से भी आगे बढ़ें।

**अनुजात पुत्र**—किसी भी बात में पिता से तो आगे नहीं बढ़ पाते पर पीछे भी नहीं जाते। वे उन्हीं के तुल्य बनते हैं।

**अपजात पुत्र**—ये अपने पिता द्वारा अर्जित मान-सम्मान, यश, सम्पत्ति, व्यवसाय आदि में कमी करके, पिता से निम्न स्तर पर जीवन व्यतीत करते हैं।

**कुलंगार पुत्र**—सबसे निकृष्ट जाति है यह सन्तान की। ऐसी सन्तानें अपने पिता के, खानदान के, कुल के नाम को, यश को, मान-सम्मान को मिट्टी में मिला देती हैं। व्यवसाय को चौपट बना देती हैं। व्यसन एवं दुर्गुण उनमें घर कर जाते हैं। ये अविनयी, अहंकारी एवं विकारी होते हैं।

#### □ कथा—एक श्रेष्ठी के चार पुत्रों की

इसको समझाने के लिए एक सेठ के चार पुत्रों का दृष्टान्त आता है। पुत्रों की योग्यता की परीक्षा हेतु पिता ने उन्हें बुलाकर पाँच-पाँच रुपये दिये और कहा—“आज संध्या तक इन रुपयों से कोई ऐसी चीज खरीद लाओ, जिससे तुम्हारा अपना-अपना कमरा पूरी तरह भर जाय, तिलमात्र भी खाली न रहे।”

उन चारों में से कुलंगार जाति के पुत्र ने विचार किया—‘सेठ सठिया गया है। साठे बुद्धि नाठे। इनकी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है। रुपये तो मात्र पाँच और पूरा कमरा भरना, यह कैसे हो सकता है?’ इतने में नगरपालिका की कचरे से भरी एक गाड़ी उसके निकट से निकली। उस कुलंगार की बुद्धि में इसे देखकर धमाका हुआ। तुरन्त उसे रोका और बोला—“आज तुम लोग एक काम करो। यह सारा कचरा ले जाकर मेरे कमरे में खाली कर दो।”

नगरपालिका वाले पहचान गए कि यह अमुक सेठ का लड़का है। हिचकिचाते हुए बोले—“ऐसा कैसे हो सकता है? यह तो कचरा है, न मालूम क्या-क्या होगा इसमें। आपका सारा कमरा खराब हो जायेगा। सारा घर दुर्गंध से भर जायेगा।”

सेठ के कुलंगार पुत्र ने कहा—“यही तो चाहिए। देखो तुम जैसा मैं कहता हूँ, वैसा ही करो। चाय-नाश्ते का खर्चा इसके बदले में अभी ले लो।” इतना कहकर उसने वे पाँच रुपये उन्हें दे दिये।

सेठ-पुत्र को अपने हठ पर इस तरह अड़ा देखकर नगरपालिका वालों ने भी सोचा—‘चलो, हमारा क्या है? उधर नहीं, इधर ही सही।’

पाँच रुपये लेकर उन्होंने गाड़ी उस कुलंगार के बताए कमरे में खाली कर दी। वह खुश हुआ कि मैंने पिताजी के कहे अनुसार कार्य कर दिया। मेरे तीन भाइयों में मेरी जैसी बुद्धि है कहाँ? पिता मेरे पर अवश्य ही आज खूब प्रसन्न होंगे।

उधर दूसरा पुत्र अपजात जाति का था। बाजार गया। सावण-भाद्रपद के दिन थे। वर्षा का मौसम। रिमझिम फुहारें पड़ रही थीं। देखा बाजार में तो नजर पड़ी एक जगह जहाँ गर्मागर्म मिर्ची-बड़े निकल रहे थे। उसने सोचा—‘कमरा तो भरेगा या नहीं भरेगा पर अभी तो अपना पेट भरने का कार्य श्रेष्ठ है। लिए गर्मागर्म मिर्ची-बड़े और वहीं खड़े होकर उदरस्थ कर लिये।

तीसरा पुत्र अनुजात श्रेणी का था। वह चारों ही दिशाओं में चक्कर काट आया पर कमरा कैसे भरा जाए, किससे भरा जाए? उसकी समझ में यह बात आयी ही नहीं। लौट के बुद्धू घर को आए, पाँच रुपये ज्यों के त्यों ले आए।

चतुर्थ नम्बर का पुत्र श्रेष्ठ जाति का अतिजात श्रेणी का था। चिन्तन किया कि पितृवर ने आज ऐसा क्यों कहा? क्या रहस्य है उनके इस तरह के व्यवहार के पीछे? चिन्तन ने अनेक समाधान दिए। उसने एक रुपये का तेल और शेष रुपयों की रुई, माचिस व अगरबत्तियाँ खरीदीं। अपने कमरे में आकर जगह-जगह दीपक जला दिए एवं अगरबत्तियाँ भी जला दीं। कमरा प्रकाश एवं सुगंध से सराबोर हो गया।

सेठ ने संध्या के समय सभी के कमरे देखे और उनको अपने पुत्रों की अलग-अलग योग्यता समझ में आ चुकी थी।

कालसौरिक कसाई के पुत्र सुलस को भी उसके पारिवारिक जनों ने मिलकर ‘शोक-कार्यक्रम’ की समाप्ति पर पारम्परिक रूप से कहा कि “हे बंधु! तुम कालसौरिक की सन्तान हो, शोक कम कर अपने धंधे को सम्हालो। पुत्र सदैव पिता से दो कदम आगे रहते हैं, तुम्हें भी पिता से सवाया अपने धंधे को बढ़ाना है। वे पाँच सौ पाड़ों का प्रतिदिन वध किया करते थे। तुम नौजवान हो, उभरते खून हो। तुम्हें नित्य एक हजार पाड़ों का वध कर उनका माँस विक्रय करना है।”

### □ धर्म आगे बढ़े तो ही अतिजात

आत्म-बंधुओं! क्या पाप के कार्यों में पुत्र के आगे बढ़ने को, वास्तविक रूप से आगे बढ़ा हुआ माना जायेगा? क्या वह अतिजात पुत्र की श्रेणी में रखा जायेगा? नहीं बंधुओं! पापकार्यों में भले ही कितना ही आगे बढ़े वह अतिजात की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः वही अतिजात पुत्र कहलाने का अधिकारी है जो सत्कार्यों, सद्प्रवृत्तियों में अपने पिता से आगे बढ़कर दिखाए। सुलस था सच्चा अतिजात पुत्र। उसने अपने पारिवारिक जनों से पूछा—“मेरे बुजुर्गवार पूज्यों! क्या इतने अधिक पशुओं को मारने में उनको होने वाले महादुःख, महाकष्ट का फल नहीं भोगना पड़ेगा? पाप तो बँधेंगे ही, इन्हें भोगेगा कौन?”

अनेक पारिवारिक जन बोले—“अरे भले मानस! धंधे में क्या पाप? यदि लगेगा भी तो हम सभी तो हैं।”

तभी सुलस ने एक छुरा उठाया और खट से अपनी जंघा का कुछ माँसल हिस्सा काट दिया और चिल्लाया—“हाय दर्द, हाय पीड़ा, अरे मुझे बचाओ, अरे कोई मेरा दर्द मिटाओ।”

एक व्यक्ति बोला—“मूर्ख! यह क्या किया? अब भोग अपने किये का फल।”

दूसरे ने कहा—“कैसा बाप, कैसा बेटा? अरे इतना भी नहीं जानता कि अपना दर्द खुद ही भोगना, सहन करना पड़ता है।”

तीसरे ने कहा—“यह तो महामूर्ख है। कहा हमने पाड़ों को मारने का और खुद ही मरने का काम कर रहा है।”

इन सबकी बातें सुनकर सुलस बोला—“आप मेरे मामूली से दर्द को न तो बाँट सकते हैं, न मिटा सकते हैं फिर मेरे अगणित पशुओं की हिंसा के पाप को आप लोग किस तरह बाँट सकेंगे। आप सब मुझे माफ करिए। मुझे किसी भी हालत में अपने भरण-पोषण या परिवार के पोषण के लिए पशु-हत्याएँ नहीं करनी हैं।”

नमि राजर्षि ब्राह्मण रूप में खड़े देवेन्द्र से कहते हैं—“हे ब्रह्मराज! जो धर्म के कार्य में सहयोगी बने वही उत्तम प्राणी है, सच्चा मित्र है, वास्तविक सहयोगी है। यह जो क्रन्दन तुम सुन रहे हो, यह सब स्वार्थ भरा क्रन्दन है।

□ मेरा सो जावे नहीं, जावे सो मेरा नहीं

हेतु और कारण से सम्प्रेरित इस बात को सुनकर देवेन्द्र ने फिर प्रश्न किया—

एस अग्गी य वाऊ य, एयं डज्झइ मन्दिरं ।

भयवं ! अन्तेउरं तेण, कीस णं नावपेक्खसि ?

राजर्षि! आपका महल अग्नि और वायु इन दोनों से जल रहा है, अतः आप अपने अन्तःपुर की ओर क्यों नहीं देखते? (अर्थात् उनकी रक्षा क्यों नहीं करते) इस पर नमि कहते हैं—

सुहं वसामो जीवामो, जेसिं मो नत्थि किंचण ।

मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण ॥

कौन मेरा, क्या है मेरा? जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, ऐसे, हम लोग सुख से रहते और जीते हैं। अतः मिथिला के जलने से मेरा तो कुछ भी नहीं जलता। सांसारिक पुद्गलों का तो स्वभाव ही नष्ट होना है। 'मेरा सो जावे नहीं, जावे सो मेरा नहीं'—मेरा तो एक आत्म-धन है जो कभी नष्ट नहीं होता।

चत्तपुत्त कलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।

पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जए ॥

पुत्र और पत्नी आदि का परित्याग किए हुए एवं गृह-कार्य आदि सावद्य व्यापारों से मुक्त भिक्षु के लिए न कोई वस्तु प्रिय होती है और न ही कोई अप्रिय।

□ आत्मा की सुरक्षा ही मेरा लक्ष्य

देवेन्द्र ने तब तीसरा प्रश्न किया—

पागारं कारइत्ताणं, गोपुरट्टालगाणि य ।

उस्सूलग-सयग्धीओ, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

हे क्षत्रिय! पहले तुम (अपने नगर का) परकोटा, गोपुर, अट्टालिकाएँ, दुर्ग की खाई आदि बनवा दो फिर दीक्षा लेना। तब नमि राजर्षि ने कहा—

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमगगलं।  
खन्तिं निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥

अर्थात् जो मुनि श्रद्धा को नगर, तप और संवर को अर्गला, क्षमा को सुदृढ़ प्राकार (दुर्ग) बनाए, उसे त्रिगुप्ति (मन, वचन, काय) से सुरक्षित करे जो पाँच समिति, धृति, पराक्रम आदि सुरक्षा साधनों के द्वारा आत्म-रक्षा करता है, वह आत्म-विजय प्राप्त करता है और संसार से सर्वथा विमुक्त बन जाता है। अतः अंतर् के शत्रुओं से आत्मा की सुरक्षा करना ही मेरा लक्ष्य है।

देवेन्द्र—“पहले आप अपने वंशजों के रहने के लिए सुन्दर-सा प्रासाद, वर्धमानगृह (वास्तुशास्त्र के अनुसार निर्मित जिसमें रहने से निरंतर सब चीजों में वृद्धि होती है), चन्द्रशालाएँ आदि बनाएँ तब दीक्षा लें।”

नमि—“मैं इसीलिए प्रव्रजित हो रहा हूँ कि अपना शाश्वत घर बना सकूँ। जिस व्यक्ति को मन में सन्देह रहता है कि मैं अपने अभीष्ट (मोक्ष) तक पहुँच सकूँगा या नहीं, वही मार्ग में अर्थात् इस संसार में अपना घर बनाता है।”

#### □ केवल दस वर्ष में मुक्ति

बंधुओं! आप भी पुरुषार्थ करें तो अपना ऐसा ही घर (मोक्ष) बना सकते हैं। आप चाहें तो केवल दस वर्ष में आपको मोक्ष मिल सकता है। कई व्यक्ति सोचते होंगे कि भगवान तो कह गए—“पंचम आरे में मोक्ष नहीं है। जब मोक्ष नहीं है तो फिर क्यों संयम लेकर कष्ट उठाएँ, क्यों साधना करें, क्यों तपाराधना करें?” पर मैं जो हिसाब लगा रहा हूँ, उस पर चिन्तन करिए।

इस मनुष्य-भव से काल करके मिथ्यात्वदशा में विनय, सरलतादि गुणों के कारण पूर्व में मनुष्य आयुष्य कर्म का बंध हो गया हो तो पुनः मनुष्यगति में भी जा सकता है। उत्कृष्ट करणी की हुई हो तो महाविदेह क्षेत्र में मानव-भव में उत्पत्ति हो सकती है। नौ माह गर्भ में बिताकर (८-१/४) सवा आठ वर्ष की आयु का व्यक्ति दीक्षा धारण कर सकता है। दीक्षा के पश्चात् उत्कृष्ट करणी करे तो क्षायिक-समकित एक क्षण में आ सकता है, क्षायिक-समकित आने के बाद उत्तरोत्तर गुणश्रेणी चढ़ता हुआ तेरहवें गुणस्थान में पहुँचकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है और आयुष्य थोड़ा है तो दसवें वर्ष में भी मोक्ष जा



सकता है। अतः यह मत सोचिए कि पाँचवाँ आरा है, मोक्ष नहीं, करणी क्यों की जाए। आप तो पराक्रम फोड़िए उत्कृष्टता के साथ-तप में, संयम में फिर देखिए शाश्वत घर बनता है या नहीं।

#### □ आत्मा को जीतना ही सब कुछ जीतना

नमि राजर्षि ने शाश्वत घर के निर्माण की बात कही तो इन्द्र ने फिर कहा—

आमोसे लोमहारे य, गंठिभेए य तक्करे।

नगरस्स खेमं काऊणं, तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

हे क्षत्रिय! पहले आप लुटेरों का, डाकुओं का, तस्करों का दमन करिए, नगर के लिए शांति-व्यवस्था करके फिर दीक्षा ग्रहण कीजिए।

राजर्षि ने कहा—“हे विप्र! आपका कहना उपादेय नहीं है क्योंकि अनेक बार वास्तविक अपराधी की पहचान न होने पर निरपराध को दंड दिया जाता है। मैं जिस संयम-पथ पर बढ़ रहा हूँ उसमें आत्मा के वास्तविक अपराधी इन्द्रियों का निग्रह करूँगा। आत्म-धन के लुटेरों से उसकी रक्षा करूँगा।”

विप्ररूप में देवेन्द्र ने तब छठा प्रश्न किया—“हे नराधिपति!

जे केइ पत्थिवा तुब्भं, नाऽऽनमन्ति नराहिवा।

वसे ते ठावइत्ताणं, तओ गच्छसि खत्तिया ॥

अर्थात् अनेक राजा जो आपके सामने नहीं झुकते, पहले उन्हें वश में करके फिर दीक्षा ग्रहण करना।”

इस पर नमि राजर्षि बोले—“बाह्य शत्रुओं को जीतने से क्या लाभ? सच्चा लाभ तो क्रोधादि कषायों, दुर्जेय मन और पाँच इन्द्रियों को जीतने में है। क्योंकि ये ही दुःख के कारणभूत हैं। एक आत्मा को जिसने जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया। मैं उसी आत्मा को जीतने जा रहा हूँ।”

विप्र ने सातवाँ प्रश्न यज्ञ, ब्राह्मण भोज, दान और भोग करने के बाद दीक्षा ग्रहण करने के सम्बन्ध में किया। नमि कहते हैं—

जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए ।  
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥

“हे विप्र ! जो व्यक्ति प्रति मास दस लाख गायों का दान करता है, उसको उस दान का उतना श्रेष्ठ फल नहीं मिलता, जितना श्रेष्ठ फल किसी प्रकार का दान न देकर भी संयम ग्रहण करने वाले को मिलता है।”

तात्पर्य यह कि संयम ही श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ है। दान से पुण्योपार्जन होता है पर संयम स्व एवं सर्वहितकर, प्रियकर है। संयम में सर्वसावद्य का तीन करण, तीन योग से त्याग रहता है अतः इसमें छह ही काया के जीवों को अभयदान मिलता है। यज्ञ, भोज, भोग आदि तो सावद्य हैं अतः ये प्राणि-प्रीतिकर नहीं हैं। इन्हें किए बिना मेरा संयम लेना भी अनुचित नहीं है। मैं भी यज्ञ करूँगा पर अन्तर्यज्ञ जिसमें आत्मा की वेदी बना तपाग्नि में क्रोधादि कषायों को हवन करूँगा, पाँच इन्द्रियों व मन के विषय विकारों को जलाऊँगा।

#### □ मुनिधर्म ही सर्वश्रेष्ठ

विप्रवेशी इन्द्र ने अपने सभी प्रश्नों का हेतु एवं तर्क द्वारा इस तरह संतोषजनक समाधान पाने पर अन्तर् में आए हर्षभाव को छिपाते हुए फिर प्रश्न किया—“आप गृहस्थाश्रम में रहकर ही पौषधादि व्रत करें। जिस धर्मध्यान के लिए आप दीक्षा ले रहे हैं, वह तो गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी किया जा सकता है।” इस पर नमि राजर्षि ने कहा—“विप्र ! संयम के महत्त्व को शायद जानते नहीं। जो अज्ञानी साधक महीने-महीने का तप करके पारणे के दिन कुश (तिनका) के अग्र भाग पर आए केवल उतना अल्प आहार ही ग्रहण करता है वह सम्यक्-चारित्ररूप मुनिधर्म का पालन करने वाले साधक की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकता।”

विप्रेन्द्र अब भी हार नहीं मानता। अब वह कहता है कि “हे क्षत्रियवर ! पहले आप चाँदी, सोना, मणि, मुक्ता आदि से राजकोष की वृद्धि करें फिर दीक्षा लें।”

#### □ तृष्णाएँ अनंत हैं, इन्हें शांत करना ही श्रेष्ठ तप है

इस पर नमि राजर्षि कहते हैं—“इच्छा हु आगास समा अणंतिया।” स्वर्ण-रजत-मुक्ता-मणि के कैलाश पर्वत जैसे असंख्य ढेर मिल जाएँ फिर भी लोभी मानव की तृष्णा शांत नहीं होती, वह तो आकाश के समान अनंत है।

बचपन में एक पुस्तक में एक दोहा पढ़ा था—

पूत कपूत तो क्यों धन संचत,  
पूत सपूत तो क्यों धन संचत ।

यदि पुत्र कपूत है तो संचित धन का बंटधार कर देगा, उड़ा देगा, बरबाद कर देगा और पुत्र सपूत है तो स्वयं अर्जित कर लेगा ।

बंधुओं! शास्त्र में आता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी, पृथ्वी का समस्त शालीधान्य, जौ एवं अन्य धान्य और सारा का सारा पशुधन सहित समग्र स्वर्णादि भी एक व्यक्ति की इच्छा परिपूर्ण करने में समर्थ नहीं है अतः क्या लाभ इनकी वृद्धि करने का? साधक को यही ध्यान में रखकर तपश्चरण (इच्छा निरोध) करना चाहिए।

#### □ काम-भोग-कषाय संसार के कारण हैं

अपने अंतिम प्रश्न में ब्राह्मण वेश में इन्द्र नमि राजर्षि से कहता है—

अच्छेरगमम्भुदए, भोए चयसि पत्थिवा ।  
असन्ते कामे पत्थेसि, संकप्पेण विहन्नसि !

तात्पर्य यह कि हे पृथ्वीपति! आश्चर्य है कि आप सम्मुख आए हुए भोगों को त्यागकर अप्राप्त भोगों की अभिलाषा कर रहे हैं। लगता है उत्तरोत्तर अप्राप्त-भोगाभिलाषा रूप संकल्प-विकल्पों से आप बाध्य किए जा रहे हैं?

नास्तिक भी इसी तरह की बात करते हैं कि जब वहाँ भी यही मिलना है तो मिले हुए को क्यों छोड़ना? पर नमि ही क्यों, कोई भी मोक्षाभिलाषी संयमी साधक देव-ऋद्धि आदि उत्तम काम-भोगों की इच्छा से संयम नहीं लेता। वह तो मोक्ष जैसे शाश्वत-सुख के लिए संयम ग्रहण करता व निरतिचार उसका पालन करता है। उसके लिए तो जो यहाँ हैं वे विद्यमान काम-भोग और जो नहीं हैं पर आगे मिलने वाले हैं वे अविद्यमान काम-भोग, दोनों ही शल्य-तुल्य हैं, विष के समान हैं, त्याज्य हैं। यही बात नमि राजर्षि भी कहते हैं—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।  
कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गई ।  
अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।  
माया गई पडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥

“ये काम-भोग शल्यरूप, विषरूप, आशीविष सर्प के समान हैं। ये क्षणिक हैं, जन्म-जन्मांतर में भटकाने, रुलाने वाले हैं। जिनको ये मिलते नहीं पर जो इनकी इच्छा भी करते हैं, उन्हें भी दुर्गति प्राप्त होती है। काम-भोग और विषय-वासना से क्रोधादि कषायों की वृद्धि होती है। क्रोध से जीव नरक में जाता है, मान से अधम गति प्राप्त होती है, माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार का भय बना रहता है। अतः मैं विद्यमान या अविद्यमान किसी भी तरह के काम-भोगों का अभिलाषी नहीं हूँ।”

#### □ एकत्व अपनाइए, मुक्ति पाइए

विप्र ने तब इन्द्र का रूप धारण कर नमि राजर्षि की मधुर वचनों में स्तुति करते हुए वन्दना की। इन्द्र द्वारा स्तुति एवं वन्दन को देखकर भी नमि राजर्षि के मन में किसी प्रकार का अहंभाव नहीं आया। वे निष्काम, निर्दोषभाव से अपनी आत्मा को भावित करते हुए संयमाराधना में तल्लीन बने रहे। उत्कृष्ट संयम-तप आराधन कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

महापुरुषों का गुणकीर्तन कुछ ग्रहण करने को प्रेरित करे इसी भावना से भाव-वन्दन द्वारा उन्हें स्मरण किया जा रहा है। आप भी इन महापुरुषों के आदर्शों से अपने जीवन को साधक अवस्था में लाकर आत्मा को भावित करेंगे तभी शाश्वत आनंद प्राप्त कर सकेंगे।

आनंद ही आनंद !



## जाति रो कारण को नहीं, करणी रा फल सारो ए !

आत्म-बंधुओं !

जिनवाणी प्राणीमात्र का अज्ञान-तिमिर हटाकर ज्ञान-पुञ्ज प्रकाश को प्रकट करने वाली है। अनादिकाल से आत्मा में अज्ञान एवं पाप की अमावस्या की-सी कालिमा घर किए बैठी है। आवश्यकता है भीतर के कृष्ण-पक्ष को शुक्ल-पक्ष में बदलने की। आत्मा जब तक कृष्ण-पक्षी है, मिथ्यादृष्टि है, उसे गुण तो अवगुण नजर आएँगे और अवगुणों में उसे गुणों का भान होगा। मिथ्यादृष्टि जीव सद्गुणों को न तो देख पाता है, न उन्हें पहचान पाता है। वह सर्वत्र अवगुण ढूँढ़ेगा, कमियाँ देखेगा, खामियों पर ही दृष्टिपात करेगा। अनंत आस्था-केन्द्र सर्वज्ञ भगवंत तीर्थकरों में भी मिथ्यादृष्टि जीव कमी निकाल लेता है। गौशालक मिथ्यादृष्टि था अतः मानता था कि महावीर कैसे सर्वज्ञ ? वे तो धूर्त हैं। सच्चा सर्वज्ञ, वास्तविक तीर्थकर तो मैं हूँ।

□ सम्यक्त्वी गुणग्राही होता है

मिथ्यात्व की यह अनादि दशा कब मिटेगी ? सम्यक्त्व का प्रकाश कब चमकेगा ? बंधुओं ! इसके लिए ज्ञान का दीप प्रज्वलित करना होगा। उसे कृष्ण-पक्षी से शुक्ल-पक्षी बनना होगा। ज्यों ही उसने समकित का स्पृशन किया, सारा अंधकार मिट जाएगा। अब वह जीव गुणग्राही बन जायेगा। वह सर्वत्र गुणों को ही ढूँढ़ेगा, गुणों पर ही उसकी नजर टिकेगी, जीवन में सद्गुणों को ही वह ग्रहण कर व्यवहार में उतारेगा।

एक गिलास है। उसमें दूध डाल दीजिए। आधा भर दीजिए, आधा खाली रहने दीजिए। अब आने-जाने वालों से प्रश्न करिए। यह गिलास खाली है या भरा हुआ ? गुणग्राहक व्यक्ति तो कहेगा—आधा भरा है पर जो गुणग्राही नहीं है वह कहेगा—आधा खाली है।

### □ जीव शुक्ल-पक्षी कब बनता है ?

बंधुओं! जब इस जीवात्मा का संसार-परिभ्रमण अनंतकाल से परीत बन जाता है और अर्द्ध-पुद्गल परावर्तन जितना काल शेष रह जाता है तब वह शुक्ल-पक्षी बनता है। जो पहले उड़द (छिलके सहित) की तरह काला था, उसका छिलका उतर जाने पर जैसा उड़द श्वेत निकल आता है, वैसे ही शुक्ल-पक्षी बनने के बाद जीवात्मा के भावों में परिवर्तन आ जाता है। वह अब अशुभ से शुभ की ओर प्रवाह करना चाहता है, अज्ञान से ज्ञान की तरफ अग्रसर बनना पसंद करता है, उसके अन्तर् का पापयुक्त कालिमा वाला अंश शनैः-शनैः धर्म में रुचि रखता हुआ उजला बनने की प्रक्रिया में आ जाता है।

### □ मिथ्यादृष्टि अवगुण को ही सार मानता है

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की यही पहचान है। सम्यग्दृष्टि पेड़ के पत्ते तक से गुण ही ग्रहण करेगा। दोनों में दृष्टि का, चिन्तन का, सोचने के तरीके का अंतर है। एक यथार्थ को जानता है, दूसरा अयथार्थ को ही यथार्थ मानता है। मिथ्यादृष्टि उस मछुआरिन बुढ़िया की भाँति है जिसे फूलों की मधुर सुगंध में बदबू आती है, उनमें बदबू की मान्यता के कारण वह फूलों के उद्यान में नींद नहीं ले पाती।

### □ जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि (कथा-प्रसंग)

एक मछुआरिन बुढ़िया नदी पर मछलियाँ पकड़ने गई। मछलियाँ दोपहर तक भी नहीं फँसीं तो मछलियों के लोभ में वह नदी के उस पार चली गई। उसका दुर्भाग्य कि शाम तक भी उसके हाथ एक भी मछली नहीं लगी। वर्षा के दिन थे। शाम होते-होते जोरों से वर्षा प्रारम्भ हो गई। आकाश में केवल बादल और बिजलियाँ। मेघगर्जन की तुमुल ध्वनि। वर्षा ने जोर पकड़ा। नदी में बाढ़ आ गई। मछुआरिन अब क्या करे? कहाँ जाए?

पास में ही एक माली का उद्यान था। वह वहाँ गई और उसके सामने अपनी आप-बीती सुनाकर रात्रि-विश्राम की जगह माँगी। माली दयालु था। उसने बुढ़िया को खाना खिलाया और उद्यान में ही एक ऊँचे स्थान पर बनी पत्थर की लम्बी चौकी पर सोने के लिए कह दिया।

बुढ़िया को रात तो बितानी ही थी। नदी में अभी भी पूर था। भोजन वह कर ही चुकी थी। पानी की वहाँ कोई कमी नहीं थी। जिस लम्बी शिला पर माली ने सोने की जगह बताई, वह भी छत सहित थी। मछुआरिन वहाँ सो गई।

अनजाना प्रदेश, बदला हुआ शयन-स्थल, नदी के पानी की तुमुल ध्वनि, कड़कती बिजलियाँ, गरजते मेघ ऐसे में नींद कैसे आती? जवान व्यक्ति होता तो शायद झपकी ले लेता पर उम्र भी ऐसी कि जिसमें नींद जरा मुश्किल से ही आती है। मछुआरिन को भी नींद नहीं आई। पहले तो उसने भी सोचा कि नया स्थान है, नींद मुश्किल से आएगी पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उद्यान के फूलों की सुरभित-सुरभि उसे परेशान करने लगी।

जो बात उसे अब तक समझ में नहीं आ रही थी, वह अब आ गई। यह गंध, कैसी बुरी गंध है यह, इसी गंध के मारे मुझे नींद नहीं आ रही है। यह गंध तो कम होने का नाम ही नहीं लेती। ज्यों-ज्यों रात्रि बीत रही है, गंध बढ़ती जा रही है।

बुढ़िया अत्यधिक परेशान हो गई। जीवन में वह कभी इस तरह से गंध के कारण परेशान नहीं हुई थी। वह उठ बैठी पर गंध तो गंध थी, जहाँ नाक है और घ्राण-शक्ति है वहाँ भले सोओ, भले बैठो, गंध तो आएगी ही। अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? यह स्थान छोड़कर कहीं अन्यत्र जाने का न तो यह समय ही उपयुक्त है क्योंकि अर्ध-रात्रि होने वाली है, परिस्थितियाँ भी ऐसी हैं कि स्थान छोड़ा नहीं जा सकता।

बहुत विचार के बाद बुढ़िया ने पास में पड़ी अपनी वह टोकरी उठाई, जिसमें वह मछलियाँ रखती, बाजार ले जाती, वापस लाती थी। उस टोकरी को अपने मुँह पर इस तरह से रखा कि टोकरी की गंध से, बाहरी गंध उसके नाक तक न पहुँचे। कुछ ही देर में उसे नींद आ गई।

बंधुओं! मछुआरिन को गुलाब, चम्पा, चमेली और रात की रानी के फूलों की मदमस्त बना देने वाली सुगंध भी परेशान कर रही थी, वह सुगंध उसे दुर्गंध प्रतीत हो रही थी और जब दुर्गंध भरी टोकरी की गंध उसे पहुँची, तभी उसे शांति, सुख का अनुभव हुआ।

### □ यही दशा है मिथ्यात्वी की

यही बात मिथ्यात्वी की है। जिसे सम्यक्दर्शन सद-धर्म में, साधु-संतों में, व्रत-प्रत्याख्यान में, मुक्ति के मार्ग में कभी सुगंध मिलती ही नहीं। वह तो अपनी मिथ्या धारणाओं के कारण आत्म-विकास के पथ को ही आत्मोन्नति का अवरोधक मानकर ऐसे पथ को चुनता है, जो उसके संसार को बढ़ाता है।

### □ अपने भीतर से समकित सूर्य को प्रकटाइए

आपकी अवस्था यदि मिथ्यात्व की है तो बड़ी चिन्ता-योग्य बात है। सद्गुरु निर्ग्रन्थों में, देवाधिदेव अरिहन्तों में एवं जिनेश्वर प्रणीत दयामय धर्म में आस्था का न होना आपको भटका रहा है। इस स्थिति को मिटाना है, समकित की प्राप्ति करनी ही है। इसके लिए निरन्तर पुरुषार्थ करिए। जिस दिन सूर्योदय हो गया, उस दिन अंधकार स्वतः नष्ट हो जाएगा। कहाँ उदय होगा वह सूर्य? और कहीं से नहीं, अपने ही भीतर से। सूर्य आपके अन्तर् में विद्यमान है पर अज्ञान का आवरण आया हुआ है। प्रकट करिए स्वतः यथार्थ बोध हो जाएगा।

### □ हरिकेशी मुनि, कीचड़ में कमल

मेरा यह कथन मिथ्यादृष्टि जीवों की अपेक्षा से है। वैसे कर्मों का आवरण आपके भी है और हमारे भी। साधक जितने भी हैं यहाँ, सभी प्रयत्नशील हैं उस आवरण को हटाने के लिए, आवरण दूर करने के लिए। आवरण दूर करने के लिए जिन तत्त्वों की साधना की जानी है, उनमें एक सरलतम तत्त्व है—नमन, वन्दन, गुणकीर्तन। हमें नमना है, झुकना है, भावों को झुकाना है। भावों को झुकाने की ही कड़ी में चल रहा है एकभवावतारी आचार्य श्री जयमल जी म. सा. विरचित 'बड़ी साधु वन्दना' का स्मरण, अध्ययन, विश्लेषण।

मुनि बल हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार।

शुद्ध संयम पाली, पाम्या भवनो पार॥१४॥

हरिकेशी मुनि, जिनका जन्म तो चांडाल-कुल में हुआ था पर कर्म से वे संयमी थे, ऐसे संयमी कि जिनके संयम के प्रभाव से देव भी उनकी सेवा में रहते थे। एक ऐसा युग जब ब्राह्मणों का वर्चस्व था, छुआछूत अपनी चरम सीमा पर था, अछूत की छाया भी अस्पृश्य



मानी जाती थी, यज्ञादि का बोलबाला था, दान की पात्रता के सम्बन्ध में अज्ञानता थी, ऐसे समय में मुनिवर ने दान की पात्रता और अपात्रता, जातिवाद की अवास्तविकता, सच्चा यज्ञ आदि की व्याख्या कर युग को सचेत और सचेष्ट किया।

### □ क्यों मिला उन्हें निम्न गोत्र ?

चांडाल-कुल में जन्मे थे वे। नीच गोत्र का बंधन था तभी ऐसा हुआ। क्यों मिला उन्हें चांडाल-कुल? क्योंकि अपने पूर्वभव में हरिकेशी के जीव ने अपनी उच्च जाति पर अभिमान प्रकट किया था।

### □ पूर्वभव कथा

मथुरा-नरेश शंख ने संसार से विरक्त हो दीक्षा अंगीकार की थी। अपने पूर्वभव में हरिकेशी के जीव ने इन्हीं शंख मुनि का शिष्यत्व ग्रहण कर, निरतिचार संयम का पालन करते हुए, उत्कृष्ट तपाराधना की। उत्कृष्ट तपस्या से शंख मुनि को अनेक लब्धियों की प्राप्ति हो गई। एक समय शंख मुनि ग्राम-नगर-पुर विचरण करते हस्तिनापुर पधारे। भिक्षार्थ घूमते हुए एक गली के निकट पहुँचे। वहाँ जन-संचार नहीं था अतः उन्होंने निकटवर्ती गृहस्वामी सोमदत्त पुरोहित से मार्ग पूछा।

सोमदत्त पुरोहित स्वभाव से उग्र प्रकृति का था। वह जैन मुनियों से विशेष द्वेषभाव रखता था। उसने सोचा कि अवसर अच्छा है, इस जैन मुनि को महान् संकट में डालना चाहिए।

जिस गली में जन-संचार नहीं था, उस गली का नाम 'हुतवहरथ्या' था। वह गली हर समय इतनी तप्त रहती थी कि अन्दर प्रवेश करने वाला जल-भुनकर राख बन जाए। भड़भूँजे की भट्टी की भाँति वह गली दहकती रहती थी। सोमदत्त पुरोहित ने शंख मुनि को जानबूझकर वही गली बता दी।

शंख मुनि निर्विकार भाव से उस गली में चल पड़े। वे ईर्यासमितिपूर्वक स्थिर कदमों से गली में आगे बढ़े। लब्धिधारी मुनि थे अतः उस तपन, झुलसन का उन पर तो क्या प्रभाव होता। हाँ! उनकी लब्धि का वातावरण पर प्रभाव पड़ा। दहकती, सुलगती उस गली में जहाँ-जहाँ मुनि-चरण पड़े वहाँ-वहाँ आमूलचूल परिवर्तन हो गया। भाड़ की तरह सिकने वाली गली के वे स्थल अब सरोवर के जल की तरह शीतल बन गए और इसी कारण

मुनिश्रेष्ठ शंख बहुत ही धैर्यपूर्वक गली में आगे बढ़ रहे थे। सोमदत्त की नजर उन्हीं पर थी। वह प्रतीक्षा कर रहा था कि मुनि अब उछलें, अब कूदें और उसे डिस्को डांस करते मुनि नजर आएँ। एक कदम, दो कदम, तीन कदम....अरे! आश्चर्य। ये तो बहुत ही धैर्य, स्थिरता से चल रहे हैं। यह कैसे संभव है?

वह घर से दौड़ा। गली किनारे आया तो गली का रंग ही बदल गया था। मुनि अब भी शांतभाव से चले जा रहे थे। वह गली के निकट, और निकट, और भी निकट आया। गली में जाने पर उसने पाया कि मुनिश्रेष्ठ के जहाँ-जहाँ चरण-चिन्ह हैं, वे स्थान तो अत्यन्त शीतल हैं जबकि शेष गली अभी भी तीव्र उष्णता से दहकती-सी है। विश्वास नहीं हुआ पर जो प्रत्यक्ष है उसे प्रमाण क्या? मुनि के तेज का प्रताप वह समझ गया। अत्यंत प्रभावित हो, दौड़ता हुआ मुनि के पीछे गया। मुनि के चरणों में लेट गया, अपने अनुचित कृत्य के लिए क्षमायाचना की। शंख मुनि से धर्मोपदेश सुन धर्म के स्वरूप को समझा और उसके परिणामों की धारा में विरक्ति की धार सबसे तीव्र हो गई। उसी समय सोमदत्त पुरोहित ने दीक्षा ले ली, उत्कृष्ट तप किया, दृढ़ता से निर्दोष संयम पाला पर एक बात अब भी मन में अड़ी रही।

अपने पूरे संयम काल में उत्कृष्ट संयम-पालन करते हुए भी सोमदत्त मुनि का यह चिन्तन रहा कि जैन मुनि के बाकी सभी कर्म अच्छे हैं, क्रियाएँ प्रभावशाली हैं पर एक बात की यहाँ बड़ी कमी है। यहाँ नहाना-धोना नहीं होता। ब्राह्मण-कुल की यह नहाने-धोने, शरीर को साफ रखने वाली बात कितनी अच्छी है। यह खटका, यह नफरतभाव, घृणा की यह दृष्टि तथा अपनी जाति, अपने कुल का अभिमान उसमें तब भी बना रहा। अंतिम समय इन दोनों मर्दों की आलोचना-प्रतिक्रमण नहीं कर पाने के कारण सोमदत्त मुनि ने नीच गोत्र का बंध किया। निर्दोष संयम-पालन के परिणामस्वरूप यही सोमदत्त देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से निकले तो नीच गोत्र बंध के कारण उन्हें चांडाल-कुल मिला।

#### □ चांडाल-कुल में उत्पत्ति : अत्यन्त कुरूप भी

सोमदत्त का ही जीव मृतगंगा के किनारे चांडालों के अधिपति 'बलिकोट्ट' नामक चांडाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम रखा गया 'बल'। जो आगे चलकर हरिकेशी बल कहलाया।

हरिकेशी ने पूर्वभव में रूप पर भी मद किया था अतः वे अत्यन्त कुरूप, काले-कलूटे, बेडौल और अदर्शनीय थे। उनके शरीर में बल तो था पर साथ ही दुर्गंध ऐसी कि कोई पास बैठना भी पसंद नहीं करता था। बच्चों का प्रकृत स्वभाव होता है खेलना। बल जब खेलने जाता तो उसके साथी उसे दुत्कारकर निकाल देते। बार-बार दुत्कारने व चिढ़ाने का परिणाम यह हुआ कि 'बल' में हीनता की मानसिकता बन गई। उसका स्वभाव झगड़ालू हो गया। वह क्रोधी एवं चिड़चिड़ा बन गया। वह सभी से लड़ता-झगड़ता, गालियाँ देता, दाँत किटकिटाता। हुआ यह कि दूसरों की शिकायतों के आने से बल के माता-पिता भी बल के स्वभाव एवं व्यवहार से परेशान एवं दुःखी हो गए।

#### □ नहीं-सी एक किरण चमकी और जीवन में मोड़ आ गया

एक बार 'बल' बलपूर्वक बच्चों के किसी खेल में सम्मिलित होना चाहता था पर बच्चों ने उसे लेने से मना कर दिया, उसे प्रताड़ित किया और यहाँ तक कि उसे मारा-पीटा भी। खिन्न और उदास मन 'बल' एक पेड़ के नीचे बैठकर अपनी स्थिति पर दुःखी होने लगा। तभी एक भयंकर विषधर काला नाग फुफकारता हुआ वहाँ से निकला। बड़ी तीव्र गति थी, उसके चलने में जैसे दौड़ रहा हो। पीछे ही उसी के बस्ती के लोग लाठियाँ, पत्थर आदि हाथ में लिये दौड़े चले आ रहे थे। उन्होंने आखिर उस सर्प को पीट-पीटकर मार डाला और बातें करने लगे—“भयंकर जहरीला था, काट लेता किसी को तो बस, राम नाम सत् ही होता।”

थोड़ी-सी देर बार एक दुमुही जाति का सर्प (बोगी) उधर से निकला। सबने उसे देखा पर देखकर अनदेखा कर दिया। किसी ने कह भी दिया—“छोड़ो जी, यह तो निर्विष है, किसी का क्या बिगाड़ लेगा? इसे मारने की जरूरत नहीं है।”

'बल' दोनों घटनाओं पर विचार करने लगा। घोर अंधकार में प्रकाश की एक नहीं-सी किरण जैसे उसके मस्तिष्क में चमक उठी। यह घटना उसके चिन्तन का निमित्त बन गई।

#### □ देखते-सुनते हैं पर ध्यान नहीं देते

बंधुओं! ऐसी छोटी-छोटी अनेक घटनाएँ प्रत्येक के जीवन में घटती दिखाई देती हैं पर आप तो वो हैं जो देखे को अनदेखा और सुने को अनसुना करने में माहिर हैं, अपने चिन्तन

को बदलना नहीं चाहते, अपने जीवन की धारा को मोड़ देना नहीं चाहते। मोड़ देना चाहेंगे तो जहाँ चाह वहाँ राह, फिर देर नहीं लगेगी।

#### □ विष मेरे ही भीतर है, उसे समाप्त करना होगा

‘बल’ चिन्तन करने लगा—‘प्रत्येक प्राणी अपने ही गुणावगुणों के कारण मान-सम्मान, प्यार-दुत्कार पाता है। स्वयं में दोष है यदि तो प्राणी को दुःख भोगने पड़ेंगे। जिसमें दोष न हो, विष न हो, जो मधुरभाषी, शांत और दयालु हो तो अपने गुणों के कारण वह लोगों की प्रीति पाने वाला बन जाएगा। मेरे सामने ही मेरे बंधुजनों ने विषैले साँप को तो मार डाला पर जो निर्विष था, शांत था उसे नहीं मारा। यही बात मेरे साथ भी है। मैं लड़ाकू हूँ, सबसे झगड़ता हूँ, मेरा स्वभाव ही बुरा है, जब मैं ही बुरा हूँ तो लोग मुझे प्रताड़ित करेंगे ही। जिसमें विष हो, खारापन हो, क्रोधादि से जो ग्रस्त हो वह तो प्रताड़ित होगा ही। मुझे यदि मारते-पीटते भी हैं तो इनमें उनका कोई दोष नहीं, दोष तो सब मेरा ही है।’

बंधुओं! अधिकांशतया होता क्या है? मानव स्वयं के कर्म से कष्ट पाता है पर दोष दूसरों के सिर मढ़ता है। वस्तुतः विष तो स्वयं के भीतर में है पर उस तरफ तो कभी नजर जाती ही नहीं, वह विष तो अमृत अनुभव किया जाता है। सोचिए जरा, विष आपके भीतर नहीं होता तो क्या दूसरे आपको परेशान करते, कष्ट देते, पीड़ा पहुँचाते?

#### □ हरिकेशी को जातिस्मरण ज्ञान

हरिकेशी बल का चिन्तन चलता रहा। इसी चिन्तन के चलते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने देखा अपना पूर्वभव। वह देवलोक से यहाँ आया है। देवलोक में जाने से पूर्व के भव में उसके जीव ने संयम लिया, उत्कृष्ट संयम की पालना की, उत्कृष्ट तपश्चर्या भी की पर जाति, रूप और कुल का मद किया अतः चांडाल-कुल एवं ऐसी कुरूपता मिली।

#### □ चांडाल-कुलोत्पन्न बन गया जगपूजक संत

जातिस्मरण ज्ञान जिसे हो वह अपने विगत काल के नौ सौ भव तक देख सकता है। शर्त यह है कि बीच में कोई असंज्ञी-जीव का भव न किया हो। हरिकेशी बल के उस चिन्तन, उस ज्ञान और पूर्वभव की जानकारी ने उसे जागृत बना दिया, उसे बोध हो गया। अब उसे घर-परिवार-संसार कैद की तरह लगने लगा। अपराधी व्यक्ति जेल में सजा काट रहा हो, सजा की अवधि से पूर्व जेल से छुटकारा मिल जाए तो उसे कितनी प्रसन्नता होती

है। यही तो वह चाहता था। प्रत्येक कैदी क्या चाहता है? मुक्ति! बोधिरूप जेलर ने जैसे चुपके से बल के कानों में कह दिया हो कि मैं चार गतिरूप जेल से तुम्हें मुक्त होने का अवसर देता हूँ। बल बोध पाते ही प्रयत्नों में लग जाता है। संसार के सभी बंधनों को तोड़ वह विरक्त बना। उसने किसी मुनि के पास जा संयम धारण कर लिया। चांडाल जाति (निम्न जाति, कुल) उसके संयम-पथ में अवरोध नहीं डाल सकी।

#### □ तप-संयम-स्वाध्यायमय जीवन

बल का बल अब संयम में काम आने लगा। लोग इन्हें हरिकेशी मुनि कहने लगे। मन में उनके एक ही लगन, एक ही चिन्तन, एक ही विचार कि पूर्वभव में तो कसर रह गई पर अब तो ऐसा पुरुषार्थ करूँ, ऐसा तपाराधन करूँ, ऐसा दृढ़ निर्दोष संयम पालूँ कि फिर कोई कसर न रहे, फिर कभी संसार में न आना पड़े, फिर कभी जन्म-मरण न करना पड़े। उन्होंने इसी चिन्तन को क्रियारूप दिया। मासक्षमण-मासक्षमण का तप प्रारम्भ कर दिया। महीनेभर की तपस्या, पारणा, फिर महीनेभर का तप। बिना प्रमाद श्रमणचर्या का पालन। ध्यान-स्वाध्याय फिर ध्यान फिर स्वाध्याय.....।

#### □ देव भी सेवा में

एक बार अपने विहार-क्रम में मुनि हरिकेशीबल वाराणसी पधारे। वहाँ वे तिंदुक नाम के उद्यान में एक विशेष तिंदुकवृक्ष की सघन छाया में विराजमान हुए। यहाँ भी आपका मासक्षमण तप चालू था। दशवैकालिकसूत्र के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा में कहा है—

**धम्मो मंगल-मुक्किट्टं, अहिंसा-संजमो-तवो।**

**देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ॥**

अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही श्रेष्ठ धर्म है, सभी मंगलों में यह धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है। जो इस तरह के धर्म की साधना करता है, उसकी देव भी सेवा करते हैं।

बंधुओं! आप धर्म के लिए देवों के पास जाते हैं। न जाने किन-किन देवताओं को धोक देते हैं, गुणकीर्तन करते हैं, पूजा-प्रसाद चढ़ाते हैं पर यह सारी क्रिया-प्रक्रिया मन को संतुष्टि देने के लिए भले ही हो, धर्म तो कदापि नहीं है। धर्म के लिए हमें देवताओं के पीछे न तो कभी भागने की आवश्यकता पड़ी, न पड़ेगी। धर्म यदि है हममें तो उस सत्यधर्म के प्रताप से देवता स्वयं साधक की, धार्मिक व्यक्ति की सेवा में रहेंगे।

उस उद्यान के यक्षायतन में जो यक्ष रहता था, वह गण्डीतिन्दुक नामक यक्ष हरिकेशी मुनि के उत्कृष्ट संयम, उत्कृष्ट गुणों एवं उत्कृष्ट तप से प्रभावित हो उनकी वैयावृत्य, उनकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा। वह बहुत प्रसन्न था कि उसे ऐसे उत्कृष्ट क्रोधजयी संयम-साधक महापुरुष की सेवा का अवसर मिला।

हरिकेशी मोटा मुनि, जाति तणा चंडालो ए।  
सेवा करे ज्यांरी देवता, छः काया रा प्रतिपालो ए ॥  
नित करूं साधु जी ने वन्दना..... ॥

#### □ राजकुमारी द्वारा मुनि का तिरस्कार

एक बार नगरी के राजा कौशालिक की राजपुत्री भद्रा अपनी सखी-सहेलियों के साथ पूजन की सामग्री का थाल लिए उस यक्ष की पूजा के लिए उद्यान में आती है। यक्षायतन की परिक्रमा करते हुए अचानक राजकुमारी की नजर मुनि पर पड़ती है। मलिन वस्त्र, गंदा शरीर और ऐसे कुरूप-बेडौल शारीरिक अवयव वाले इस मुनि को देखते ही उसके मन में तीव्र घृणाभाव उत्पन्न होता है और वह घृणापूर्वक मुनि पर थूक देती है।

#### □ यक्ष क्रोधित, राजकुमारी पर यक्ष की छाया

बंधुओं! अज्ञानतावश उसके द्वारा किए गए इस घृणित कार्य का मुनि पर तो कोई प्रभाव होना नहीं था। मुनि तो वैसे भी मान-अपमान की भावनाओं से ऊपर उठ चुके थे। क्षमा के सागर थे वे पर यक्ष.....? उसने राजकुमारी का यह घृणित एवं असभ्य व्यवहार देखा। अपने आराध्य के अपमान से वह तिलमिला उठा। राजकुमारी को उसके कर्म का फल चखाने के लिए वह उसके शरीर में प्रविष्ट हो गया।

बंधुओं! देवी-देव, भूत-भूतनी, यक्ष-डाकिनी, जब किसी के शरीर में प्रवेश करते हैं तो क्या होता है? आपमें से अधिकांश जानते ही होंगे। सांसारिक कामनाओं के लिए कई जगह आपने भी मनौतियाँ माँगी होंगी। बायांसा के थान, भैरूजी के थान और भी न जाने कौन-कौन-से थान? कैसे किसी निम्न देव-भूत आदि के प्रवेश पर व्यक्ति हिलता-डुलता, कूदता-नाचता, अलग ही बोली में बोलता नजर आता है। उसमें यदि वास्तविकता नहीं है तो भी अभिनय इतना सुपर (Super), ऐसा गजब का कि मानना पड़े आपको, वहाँ कोई है, कोई देवात्मा या....!

राजकुमारी की दशा भी वैसी ही होने लगी। वह कभी रोती, कभी चिंघाड़ करती, कभी आँखें तरेरती, कभी उछलती, कभी गुलाच खाती। अनेक तरह के असम्बद्ध प्रलाप एवं विकृत चेष्टाएँ करने लगी। लगा जैसे वह पागल हो गई हो। सखियों ने बड़ी मुश्किल से उसे घेरकर, पकड़कर, खींचकर राजमहल तक पहुँचाया।

#### □ स्वस्थ बनने का उपाय, राजकन्या की शादी मुनि हरिकेशी से कर दो

अनेक दिनों तक चिकित्सा चली, झाड़-फूँक भी करवाई। पिता थे राजा अतः सारी व्यवस्थाएँ उपलब्ध थीं। पर राजकुमारी किसी तरह भी स्वस्थ नहीं हुई। अंत में अन्दर प्रविष्ट यक्ष ही राजकुमारी के पिंड से बोला—“मैं तिन्दुक उद्यान का यक्ष हूँ। मुनि की सेवा में था। राजकुमारी ने मुनि का घोर अपमान किया। मैं मुनि के अपमान को कैसे सहता, अतः मैंने ही राजकुमारी की यह हालत बनाई है।”

राजकुमारी के पिता कौशालिक राजा ने कहा—“इस कन्या से अब तो जो गलती हुई सो हुई। आप बड़े हैं, कृपाकर अपनी माया समेटिए, मेरी पुत्री का पिंड छोड़ दीजिए।”

यक्ष बोला—“हे राजन्! इसे छोड़ने का बस एक ही तरीका है, तुम अपनी इस भद्रा कन्या को मुनिराज को दे दो तभी यह स्वस्थ हो सकेगी।”

महाराजा क्या करते? मरता क्या न करता—जैसी ही बात हुई। न करें तो पुत्री की हरकतें बढ़ती जाएँ। राजा ने निश्चय किया कि अपनी इस भद्रा राजकुमारी को मुनि के चरणों में समर्पित कर दूँगा। यह उनकी पत्नी, उनकी दासी बनकर रहेगी।

#### □ राजा की मुनिवर से प्रार्थना

महाराजा उद्यान में पधारे। मुनि को वन्दन किया। मुनि से बोले—“प्रभो! इस अबोध से नासमझी में आपके प्रति जो अपराध हुआ, मैं इसकी ओर से आपसे बार-बार क्षमायाचना करता हूँ। आप तो महापुरुष हैं, ज्ञानी हैं, इसका अपराध क्षमा कर कृपया इसको अपने चरणों की चेरी बनाकर शरण दे दीजिए। मैं इसका विवाह आपके साथ विधिवत् करवा देता हूँ, आप इसे अपनी धर्मपत्नी बना लीजिए।”

#### □ जैन मुनि, कंचन-कामिनी के स्पर्श के भी त्यागी

हरिकेशी मुनि ने तब शांत एवं स्थिर स्वर में कहा—“हे राजन्! सर्वप्रथम तो आप यह जान लीजिए कि मुनि मानापमान की भावनाओं से ऊपर होते हैं अतः मेरा कोई अपमान

नहीं हुआ। दूसरे हम जैन संत हैं, पंचमहाव्रतधारी हैं, कंचन-कामिनी के स्पर्श से भी दूर रहने वाले हैं। सद्यजन्मा कन्या से लेकर मृत्यु के मुँह में पहुँची वृद्धा स्त्री तक, स्त्री जाति मात्र का स्पर्श भी हम संतों के लिए अकल्पनीय है।

मुनि के इतना कहने पर भी भयभीत राजकन्या ने यक्ष द्वारा किसी अनिष्ट की संभावना को ध्यान में लेते हुए स्वयं आगे बढ़कर मुनि से कहा—“मुनिराज! यह मेरा दुर्भाग्य था कि मैं आपका तिरस्कार कर बैठी। आप तो पूर्ण स्थिति जानते हैं। मुझ अभागी पर कृपा कीजिए, मेरे साथ पाणिग्रहण कर हम सभी को यक्ष के प्रकोप से बचाइए।”

मुनि ने कहा—“देवानुप्रिये! भविष्य में यदि कोई भूल नहीं हुई तो यक्ष फिर प्रकोप नहीं करेगा। रही पाणिग्रहण कर संसार बसाने की बात तो हे महाभाग्या! यह सारा संसार दाह-दावानल है। धर्म ही इसमें सारभूत शरण-स्थल है अतः संसार के हर प्राणी को धर्म की छत्रछाया ग्रहण कर मुक्ति-पथ की ओर लक्ष्य बनाना चाहिए।”

#### □ समस्या और समाधान

राजा आया तो था कन्या को ब्याहने पर यहाँ तो उसे मुनि में वीतरागता देखने को मिली और सुनने को मिला धर्मोपदेश। मुनि तो सर्वथा निष्कामभाव में मिले। कन्या का विवाह न होने से राजा तो निराश हुआ ही, कन्या को भी निराशा हुई। वह सोच रही थी—‘जाने आगे अब क्या होगा मेरा?’ इतने में यक्ष की आवाज सुनाई दी—“ए रूपवती भद्रा! तेरा ये रूप, ये सौन्दर्य, ये शृंगार सब व्यर्थ है। जब ये मुनि तक तुम्हें नहीं चाहते तो अब भला कौन तुम्हें चाहेगा? तुम यहाँ से पुनः अपने महलों में चली जाओ।”

यक्ष के वचन सुनकर निराश राजा एवं राजकन्या वापस लौट गए।

राजा को किसी ने कहा कि ब्राह्मण भी ऋषि का ही रूप होते हैं अतः मुनि द्वारा अस्वीकृत अपनी कन्या का विवाह आप यहाँ के राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दें तो समस्या का हल हो सकता है।

#### □ राजकन्या का विवाह

राजा ने इस विचार को अपने विवेक की तुला पर तोला। यद्यपि उसे यह उचित नहीं लग रहा था पर जिन परिस्थितियों में वह था, उनमें उसे मान लेना ही ठीक लगा। राजकन्या भद्रा का विवाह राजपुरोहित रुद्रदेव ब्राह्मण के साथ कर दिया गया।



### □ विशाल यज्ञायोजन

रुद्रदेव यज्ञशाला का अधिपति था। उसने अपनी नवविवाहित पत्नी भद्रा को यज्ञशाला की व्यवस्था सुपुर्द की और एक महान् यज्ञ प्रारम्भ किया। संयोगवश मुनि हरिकेशीबल अपने मासक्षमण तप के पारणे की गोचरी के लिए उद्यान से निकलकर राजपथ पर चलते हुए यज्ञशाला की ओर ही आ निकले। यहाँ यज्ञशाला में यज्ञ होता देख मुनि यज्ञ-मण्डप में पहुँचे, जहाँ कि ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे।

### □ भिक्षार्थ आए मुनि को दुत्कार !

तं पासिऊणमेज्जन्तं, तवेण परिसोसियं ।  
 पन्तोवहिउवगरणं, उवहसन्ति अणारिया ॥  
 जाईमयपडिथद्धा, हिंसगा अजिइन्दिया ।  
 अबंभचारिणो बाला, इमं वयणमब्बवी ॥  
 कयरे आगच्छइ दित्तरूवे, काले विगराले फोक्कनासे ।  
 ओमचेलए पंसुपिसायभूए, संकरइसं परिहरियकण्ठे ॥

—उत्तरा. १०/४-५-६

तप से सूख रहे शरीर वाले एवं जीर्ण-शीर्ण मलिन वस्त्रों व उपकरण वाले उन मुनि को आते देख वे अनार्य उनका उपहास करते हुए बोले—“यह वीभत्स, काला-कलूटा, विकराल, बेडौल नाक वाला, अल्प एवं मलिन वस्त्र वाला, धूल-धूसरित भूत-सा कौन आ रहा है? अरे अदर्शनीय! तू कौन है रे? यहाँ तू किस आशा से आया है? चल, हट यहाँ से, चला जा, यहाँ क्यों खड़ा है? शूद्र जाति के चांडाल का यहाँ क्या काम?”

मुनि तो महाक्षमाशील, शांति-सागर थे। उन्होंने उन ब्राह्मणों को कुछ भी कहना उचित नहीं समझा पर मुनि की सेवा कर रहे यक्ष ने मुनि-शरीर में प्रविष्ट होकर कहा—“मैं श्रमण हूँ, संयत हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, अपरिग्रही हूँ और भिक्षाकाल में अन्य गृहस्थों के घर होता हुआ निर्दोष आहार के लिए यहाँ आया हूँ। यहाँ जो भात-दाल आदि उपयोग में लाया जा रहा है, उसमें से अवशिष्ट कुछ भोजन इस तपस्वी को भी मिल जाए।”

इस पर यज्ञशालाधिपति रुद्रदेव ने कहा—“यह भोजन ब्राह्मणों के लिए तैयार किया गया है। यह एकपक्षीय है अर्थात् यज्ञ में आए ब्राह्मण जाति के अतिरिक्त अन्य किसी जाति

को नहीं दिया जा सकता। तुम तो शूद्र हो, अतः तुम तो इसकी कामना भी मत करो। हम यहाँ तुम्हें कुछ भी देने वाले नहीं हैं। अच्छा हो तुम इस स्थान को त्याग दो।”

#### □ यक्ष का प्रत्युत्तर : मुनि ही पुण्यक्षेत्र

भिक्षु के पिंड में रहे यक्ष ने कहा—“उपजाऊ भूमि में फसल अच्छी होती है। मैं भी पुण्यक्षेत्र हूँ। मुझे दान दो। अच्छा फल मिलेगा। कृषक तो ऊँची भूमि में भी बीज बोते हैं और निम्न धरातल वाली भूमि में भी। कृषक की इसी श्रद्धा दृष्टि से मुझे दान दो।”

रुद्रदेव बोले—“हम ऐसे सभी क्षेत्र जानते हैं। ब्राह्मण और चौदह विद्याओं से युक्त ही उपजाऊ क्षेत्र होते हैं, तुम्हारे समान शूद्र जातीय एवं चतुर्दश विद्यारहित कभी उत्तम क्षेत्र नहीं हो सकते।”

#### □ वास्तव में मुनि ही उत्तम पात्र, उत्तम क्षेत्र

यक्ष ने कहा—“हे ब्राह्मणों! तुम्हारे जीवन में क्रोध है, मान है, हिंसा है, असत्य भाषण है, अदत्तादान (चोरी) है, परिग्रह है अतः तुम न ब्राह्मण हो, न विद्यावान। तुम सब भिक्षा के लिए भी योग्य पात्र नहीं हो अपितु अयोग्य पात्र हो, पापक्षेत्र हो। तुम केवल वाणी का भार वहन करना जानते हो। वेदों को पढ़ते तो हो पर उनके वास्तविक अर्थ को नहीं जानते। हम जैसे संत जो ऊँच-नीच-मध्यम घरों में समभावपूर्वक भिक्षाटन करते हैं वे ही वास्तव में भिक्षा के उत्तम पात्र, उत्तम क्षेत्र हैं।”

#### □ यक्ष उवाच : तुम सभी ब्राह्मण नहीं, शूद्र हो

मुनि के मुख से यक्ष के ये वचन सुन रुद्रदेव एवं सभी ब्राह्मण अत्यन्त अप्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—“क्यों बकवास कर रहा है? यहाँ बना अन्न-भोजन आदि भले ही सड़कर नष्ट हो जाए पर तुझे तो हम किसी भी हालत में नहीं देंगे। कुत्तों को देना मंजूर है पर तेरे जैसे शूद्र जाति के अज्ञानी को नहीं देंगे।”

यक्ष—“ईर्या आदि समितियों एवं तीन गुप्तियों के पालन करने वाले, एक जितेन्द्रिय मुनि को यदि यह एषणीय आहार तुम नहीं दोगे तो आज इन यज्ञों का तुम्हें क्या फल मिलेगा? अर्थात् कोई फल नहीं मिलेगा। तुम ज्ञानी-अज्ञानी को जानते ही नहीं। तुम तो जाति को मानते हो पर गुणावगुणों की पहचान करना नहीं जानते, तदनुसार व्यवहार भी नहीं

जानते, अतः तुम ब्राह्मण हो ही नहीं। तुम सभी स्वभाव से, गुणों से शूद्र हो अतः वस्तुतः शूद्र ही हो।” तथा और भी कहा है—

ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण, यथा शिल्पेन शिल्पिकः ।

अन्यथा नाममात्रं, स्यादिन्द्र गोपककीटवत् ॥

—बृहद्वृत्ति

“जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।” अर्थात् जन्म से तो सभी शूद्र ही जन्मते हैं पर अच्छे संस्कार पाकर ही वह ब्राह्मण कहलाता है। पर संस्कार हैं कहाँ तुम लोगों में? बंधुओं! वह समय था जब ‘जैन’ जाति नहीं थी। सद्कर्म एवं सुसंस्कारवान् जिनोपासक ही जैन होने का प्रमाण होता था। जो नीति पर चलता, जो अहिंसक होता, जो रात्रि-भोजन नहीं करता, जो पानी छानकर पीता है, जो विनम्र बन बड़ों का आदर करता, जो विवाद को मिटाने में सहिष्णुता बनाए रखता वही जैन कहलाने का तब अधिकारी था। आज भी यही होना चाहिए। कर्म और संस्कार यदि नीच हैं तो वह जैन क्यों? उसे जैन नहीं माना जाना चाहिए।

#### □ मुनि हरिकेशी को ब्राह्मण-पुत्रों ने पीटा

यक्ष ने मुनि में प्रविष्ट हो मुनि को दान के लिए सुपात्र सिद्ध करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया पर कोई भी मानने को तैयार नहीं हुआ। इसके विपरीत वे ब्राह्मण अत्यन्त खिन्न, नाराज, क्रुद्ध हुए। आवेश में आकर रुद्रदेव ने ब्राह्मण-कुमारों से कहा—“इस साधु को डंडों से पीटो, काष्ठपट्टों से मारो, गला पकड़कर इसे यज्ञशाला से बाहर निकाल दो।”

अपने उपाध्याय-अध्यापक की ऐसी बात सुन बहुत-से ब्राह्मण-विद्यार्थी डंडे, बेंत, चाबुक आदि उठा लाए, मुनि के निकट पहुँचे और मुनि को उनसे पीटने लगे।

#### □ राजकुमारी भद्रा द्वारा विरोध

यज्ञशाला के द्वार की ओर आते हुए भद्रा ने जब यह देखा तो उसने उन ब्रह्म-कुमारों को रोकते हुए कहा—“ये उग्र तपस्वी हैं, महात्मा हैं, जितेन्द्रिय हैं, संयमी हैं, ब्रह्मचारी हैं। मेरे पिता द्वारा मेरे इनके साथ विवाह के प्रस्ताव तक को इन्होंने ठुकरा दिया था। देवपूजित, महायशस्वी, महानुभाग, घोर व्रती एवं घोर पराक्रमी ऋषीश्वर हैं ये। ये अवहेलना के योग्य

नहीं हैं अतः इनकी अवहेलना मत करो। ऐसा न हो कि ये कहीं तुम सबको अपने तेज से नष्ट कर दें।”

#### □ यक्ष ने ब्राह्मण-कुमारों को विकृत शक्ल किया

इधर भद्रा यह कह रही थी, उधर यक्ष ने उन सभी ब्राह्मण-कुमारों को भूमि पर गिरा दिया जिससे वे मुनि को न पीट सकें। इस पर भी जब ब्रह्म-कुमार नहीं माने तो यक्ष ने वैक्रियलब्धि से अनेक रूप बनाकर उन ब्रह्म-कुमारों को मारना-पीटना प्रारम्भ किया, उनके शरीरों को क्षत-विक्षत कर दिया। वे कुमार खून की उल्टी करने लगे। उनके मस्तिष्क पीठ की ओर झुक गए, उनकी बाहें फैल गईं, आँखें खुली की खुली रह गईं, मुँह ऊपर की ओर हो गए, जिह्वाएँ बाहर निकल आईं। जयगच्छीय आचार्य रायचन्द्र जी म. सा. ने स्व रचित ‘मध्यम साधु वन्दना’ में कहा है—

यज्ञवाड़े ऊठ्या गोचरी, बोल्या अनारज तड़की ए।  
देवता भीड़ आया थकां, छाती घणा री धड़की ए॥  
नित करूं साधु जी ने वन्दना..... ॥

#### □ रुद्रदेव द्वारा क्षमायाचना

अब रुद्रदेव को चिन्ता लगी। मुनि की सेवा में किसी देव-शक्ति की उपस्थिति को वे जान गए। उदास और खिन्न मन हो, अत्यन्त व्याकुल बन रुद्रदेव अपनी पत्नी भद्रा को साथ ले हरिकेशी मुनि को प्रसन्न करने के लिए कहने लगे—“भंते! हमने और इन बालकों ने आपकी जो आसातना की है, उसके लिए हम क्षमायाचना करते हैं। आप तो मुनि हैं, ऋषि हैं अतः क्षमासागर हैं, अपना क्रोध शांत करें।”

#### □ रुद्रदेव की प्रार्थना पर मुनि हरिकेशी द्वारा आहार-ग्रहण

मुनि ने तब उन्हें कहा—“न तो मैंने पहले क्रोध किया, न मैं अब भी क्रोध में हूँ। ये कार्य उस यक्ष-देव के हैं, जो मेरी सेवा करता है।”

तब रुद्रदेव ने अंतर्मन से मुनिवर को आहारदान की भावना प्रकट की। महानात्मा मुनि ने भी अनुग्रह कर स्वीकृति दी और एक मास की तपस्या का पारणा करने हेतु निर्दोष आहार-पानी ग्रहण किया।

### □ देव-घोष : 'अहो दानम्'

मुनि के आहार-ग्रहण करने पर देवों ने 'अहो दानम्, अहो दानम्' का आकाश में उद्घोष किया। यज्ञशाला में अचित्त फूलों की वृष्टि की एवं दिव्य-द्रव्य से आँगन भर दिया। मुनि के तप, संयम, चारित्र का यह प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर वहाँ उपस्थित सभी ब्राह्मण विस्मित हुए। वे सभी मुनि के प्रति श्रद्धालु बन गए। उन्होंने माना कि जाति की कोई विशिष्टता नहीं होती, विशिष्टता तो कर्म से होती है।

जैनधर्म का तो यही उद्घोष है कि किसी भी वर्ण, कुल, जाति, देश, वेश या लिंग का व्यक्ति हो, अगर वह सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की निर्मल साधना करता है तो उसके लिए सिद्धि के, मुक्ति के द्वार खुले हैं।

डरिया ब्राह्मण तिण समै, राजत्रघीश्वर रूठा ए ।  
विनति कर प्रतिलाभिया, पंच द्रव्य तिंहा बूठा ए ॥  
नित करुं साधु जी ने वन्दना..... ॥

जाति रो कारण को नहीं, करणी रा फल सारो ए ।  
हरिकेशी मोटा मुनि, पहुंच्या मुक्ति मझारो ए ॥  
नित करुं साधु जी ने वन्दना..... ॥

### □ हरिकेशी मुनि द्वारा रुद्रदत्त आदि ब्राह्मणों को धर्मोपदेश

ब्राह्मणों की श्रद्धा एवं सुलभबोधि को देखकर मुनि कहते हैं—“हे ब्राह्मणों! अग्नि का समारंभ करते हुए तुम जलादि से जो बाहर की शुद्धि ढूँढ़ रहे हो वह सम्यक् नहीं है। जो मन्द बुद्धि होते हैं वे ही पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पतिकाय के जीवों की इन यज्ञों एवं अन्य प्रकार के बाह्य अनुष्ठानों द्वारा विराधना, हिंसा करके पापकर्म कमाते हैं।

### □ स्नान कहाँ करें, तीर्थ कहाँ करें?

तब रुद्रदेव ने प्रश्न किया—“हे मुने! हम यज्ञ कैसे करें? 'कयरेण होमेण हुणासि जोइं'?”

मुनि ने कहा—“तप को ज्योति बनाओ, आत्मा को यज्ञ-कुंड बनाओ, मन-वचन-कायारूप त्रियोग को शुभ प्रवृत्तियों में लगाओ—यही कुड़छीरूप होंगे, कर्म एवं शरीर

को अग्नि का प्रदीप्त करने वाला ईंधन मानो और संयम की प्रवृत्तियों को शांति पाठ बनाकर सच्चा यज्ञ करो। जीव-विराधनारहित ऋषियों के योग्य ऐसा ही यज्ञ मैं करता हूँ।”

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।  
कम्म एहा संजम जोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

—उत्तरा. १२/४४

रुद्रदेव ने फिर प्रश्न किया—“आपने यज्ञ के विषय में तो बता दिया, परन्तु यह तो बताइए—‘के ते हरए? के ते सन्ति तित्थे.....?’ आपका सरोवर कौन-सा है? आपका शान्ति तीर्थ कौन-सा है? आप कहाँ स्नान करके रज (कर्मरज) को दूर करते हैं?”

महामुनि हरिकेशी समाधान देते हैं—

धम्मे हरए बंधे सन्तित्थे, अणाविले अत्तपसन्न लेसे।  
जहिं सिण्हाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥

—उत्तरा. १२/४६

“मैं अकलुषित और आत्मा की प्रसन्न-लेश्या वाले धर्मरूप जलाशय में नहाकर, ब्रह्मचर्यरूप शांति तीर्थ में डुबकी लगाकर विमल, विशुद्ध और सुशांत होकर कर्मरूप दोषों को दूर करता हूँ। तत्त्वज्ञ पुरुषों ने तीर्थ एवं स्नान के लिए ऐसा ही उपदेश दिया है। तुम भी ऐसा ही करो। सांसारिक तीर्थ तो बाह्य शुद्धि मात्र कर सकते हैं।”

□ सांसारिक तीर्थ पाप नहीं धो सकते ! (कथा)

महाभारत के शांति-पर्व में एक प्रसंग का उल्लेख मिलता है। तब कौरवों और पांडवों का युद्ध समाप्त हो चुका था। असंख्य सैनिक मारे गए थे। पाँचों पाँडवों के मन में इस घमासान एवं घोर हिंसा, घोर पाप के लिए बड़ा पश्चात्ताप था। उनका विचार था कि यह सारा हिंसा, हत्याकांड हमारे कारण ही हुआ है। बंधुओं! पाप करना बड़ा सहज है। जब पापकर्म किये जाते हैं तो कुछ भी पता नहीं चलता और करने वाला करता चला जाता है पर यदि भवि जीव है तो बाद में उस पाप की बार-बार स्मृति आएगी एवं मन ही मन पश्चात्ताप होगा। न दिन में चैन होगा, न रात्रि में नींद आएगी।

उन पांडवों को इस तरह पश्चात्ताप करते देख एक ब्राह्मण देव ने सुझाव दे दिया कि आप सभी भाई तीर्थयात्रा के लिए निकल जाएँ। विभिन्न तीर्थों की यात्रा करने से आप लोगों के सभी पाप धुल जायेंगे। पाँडवों को बात जँच गई।

तीर्थयात्रा की बात शायद आपको भी जँचे। आप भी जाते तो होंगे किसी न किसी तीर्थ पर? आजकल आपका तीर्थ जाना एक पिकनिक का रूप होता है। अनेक विवाहित नवयुवक रविवार को अवकाश का अवसर देख तीर्थ का कार्यक्रम बना लेते हैं। क्या इस तरह मन्दिर-दर्शन या तीर्थ करना उनके पापों को धोने वाला है। अरे बंधुओं! जो दुराचार वे घर में सेवन नहीं कर सकते, ऐसे स्थानों पर भी पापी व्यक्ति कभी-कभी पाप करने से नहीं हिचकते हैं। वहाँ दुराचारों का खुलकर सेवन करते हैं। क्यों न करें? पैसे की कमी नहीं और एकान्त व स्वच्छन्दता ऐसे स्थलों पर ही उपलब्ध होती है। ये तीर्थ-स्थलों में आत्मा को हल्की नहीं, और भी अधिक भारी बना देते हैं।

पांडवों को तीर्थ पर जाने का सुझाव अच्छा लगा। पूरी तैयारी की उन्होंने तीर्थ पर जाने से पूर्व। तैयारियों के पश्चात् श्रीकृष्ण से मिलने गए। कहा योगीराज से कि “हम पाँचों भाई मन की शांति और आत्मा की शुद्धि के लिए अपने पापों का प्रक्षालन करना चाहते हैं अतः तीर्थयात्रा पर जा रहे हैं।”

श्रीकृष्ण यद्यपि वासुदेव थे, त्रिखंडाधिपति थे पर विज्ञ थे, भेदविज्ञान के ज्ञाता थे। क्यों न हों? जिनके कुल में तीर्थकर अरिष्टनेमि ने अवतरण लिया हो, वहाँ ज्ञान तो होगा ही। इसी ज्ञान के बल पर उत्कृष्ट धर्म-दलाली की थी श्रीकृष्ण वासुदेव ने। स्वयं वे संयम-पथ अंगीकार नहीं कर सके पर उनका यह उद्घोष था कि जो भी मुनि बनें, मैं उनके परिवार के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायित्व निभाऊँगा। बच्चे हों, वृद्ध हों, रोगी हों, अशक्त हों—सबका उचित पालन-पोषण, औषध-भेषज की व्यवस्था करूँगा।

पांडवों की बात सुन श्रीकृष्ण वासुदेव मन ही मन मुस्करा दिए। सोचा उन्होंने—‘मानव की कैसी मानसिकता है, गंगा में एक-दो डुबकियाँ लगा लेता है तो सोचता है—‘मेरे सारे पाप नष्ट हो गए।’ तब तो जो जलचर गंगा के पानी में ही जन्म लेते हैं, जीवन बिताते हैं, उन्हें तो मुक्ति मिल जानी चाहिए।’ वे पांडवों से बोले—“आप सभी तीर्थ जा रहे हैं। जाइए, जरूर जाइए। आखिर इतने बड़े नर-संहार के रक्त-दाग तो धुलने ही चाहिए। बहुत पाप

आ गया है न आत्मा पर, जाइए, सारा धो आइए। मानव-भव मिला ही इसीलिए है। पर मेरा भी एक काम कीजिएगा। कठिन काम नहीं है, छोटा-सा काम है। मना मत कीजिएगा।”

भीम ने कहा—“छोटा क्यों, आप तो बड़े से बड़ा कार्य बताइए। हम अवश्य करेंगे। आपका काम, वही हमारा काम। इन्कार का तो प्रश्न ही कहाँ है?”

श्रीकृष्ण ने दास को संकेत से बुलाया और कहा—“जाओ, एक अच्छी-सी तूम्बी लेकर आओ।”

दास तूम्बी लाया तो उसे भीम के हाथ में देकर कहा—“जहाँ-जहाँ भी तुम जाओ, इसे भी साथ रखना। जहाँ-जहाँ पवित्र स्नान करो, इसे भी नहलाना। आप एक बार डुबकी लगाओ तो इसे तीन बार डुबकी लगाना और इसे भी अच्छी तरह तीर्थ करा देना।”

पांडवों ने वह तूम्बी ले ली। तीर्थ पर रवाना हुए। जहाँ गए तूम्बी साथ। जहाँ स्नान किया वहीं तूम्बी को भी नहलाया। पूर्ण तीर्थयात्रा में उसकी विशेष सुरक्षा की, श्रीकृष्ण की वस्तु जो थी। सारे तीर्थ जब कर लिए तो पुनः हस्तिनापुर लौटे। श्रीकृष्ण के पास भी गए और उनकी वह तूम्बी उन्हें सौंप दी।

श्रीकृष्ण ने पूछा—“इसे सारे तीर्थ कराए, सभी पवित्र सरोवरों व नदियों में नहलाया?” पांडवों के ‘हाँ’ कहने पर एक दास को तूम्बी देकर कहा—“जा, इसे महीन पीस ला।” दास तूम्बी पीसकर ले आया। अब वह महीन चूर्ण बन चुकी थी। श्रीकृष्ण ने वह चूर्ण थोड़ा-थोड़ा पाँचों पांडवों, थोड़ा-थोड़ा सभी सभासदों को देकर कहा—“यह पवित्र तूम्बी का चूर्ण बड़ा चमत्कारी है। आप लोग इसे यहीं खा लें।” सभी ने खाया पर यह क्या.....? सभी के मुँह की भंगिमा बदल गई। तूम्बी जहर की तरह कड़वी थी। सबने बिना राजसभा का विचार किए, मुँह का वह चूर्ण थू, थू.....कर थूक दिया।

क्रोधित श्रीकृष्ण बोले—“अररर! आप सब यह क्या कर रहे हैं? मेरे दिए पवित्र प्रसाद का ऐसा अपमान? जरा भी विवेक नहीं है आप लोगों में।”

धर्मराज ने कहा—“पर श्रीकृष्ण महाराज! यह तो बड़ी कड़वी थी। हलाहल का-सा स्वाद। भला इसे कैसे गले के नीचे उतार पाते।”

श्रीकृष्ण कुछ अधिक गर्म हुए। बोले—“क्या कहा, कड़वी है? यह कैसे हो सकता है? भीम! मैंने एक छोटा-सा काम बताया, क्या तुम वह भी नहीं कर पाए?”



भीम—“क्या काम महाराज ?”

उसी गर्म स्वर में—“अरे तुम मेरा काम भी भूल गए। यह तूम्बी मैंने तुम लोगों को दी थी, सभी तीर्थ में भ्रमण कराने, सभी पवित्र नदियों-तालाबों में इसे स्नान कराने को कहा था।”

भीम—“वह तो हमने किया है महाराज ! तूम्बी को सब जगह घुमाया, खूब नहलाया। आपका काम किया तभी याद रख तूम्बी वापस देने को आए हैं।”

श्रीकृष्ण—“तब यह कड़वी क्यों ? इसके अंतर का कड़वापन क्यों नहीं गया ? आप तीर्थ करने वालों के तो सारे कलुष धुल गए, अंदर के समस्त पाप नष्ट हो गए और मेरी तूम्बी का कड़वापन..... ? क्यों नहीं मिटा आश्चर्य है।”

□ जल से आत्म-शुद्धि नहीं

आचार्य उमास्वाति कहते हैं—

शौचमाध्यात्मिकं त्यक्त्वा, भावशुद्ध्यात्मकं शुभम्।

जलादिशौचं यत्रेष्टं, मूढविस्मापकं हि तत्॥

अर्थात् भावशुद्धिरूप आध्यात्मिक शुद्धि को छोड़कर जलादि में शौच (बाह्य शुद्धि) को स्वीकार करना मूढ़जनों को चक्कर में डालना है।

बंधुओं! तूम्बी के कड़वापन दूर न होने में आश्चर्य तो कुछ भी नहीं था पर श्रीकृष्ण को जो सीख देनी थी, जो बात पांडवों को सिखानी थी, वह पांडव सीख चुके थे, समझ चुके थे। अप्रत्यक्ष रूप से वासुदेव का तात्पर्य यही था कि कितने ही तीर्थ नहा लो, अंदर का पाप इन बाह्य तीर्थों में धुलने वाला नहीं है। लिखा है—

आत्मा नदी, संयम तोयपूर्णा, सत्यावहा, शीलतटा, दयोर्मिः।

तत्रभिषेकं कुरु पांडुपुत्रा ! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥

आत्मा नदी है, उसमें संयमरूपी जल को भरना है। सत्य से उस संयम-जल को प्रवाह (गति) देना है। शीलरूप तटों का निर्माण करना है। प्राणीमात्र के प्रति हृदय में दया की लहरें ही उस नदी की लहरें हैं। ऐसे जल में, हे पाण्डुपुत्रों! तुम अभिषेक करो, स्नान करो,

नहाओ। बाह्य शुद्धि से कुछ नहीं होगा। अन्तरात्मा को इस तरह अभिषिक्त कर शुद्ध बनाना होगा।

□ हरिकेशी मुनि सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने !

हरिकेशीबल मुनि ने रुद्रदेव से कहा—“मैंने ब्रह्मचर्य, सत्य, तप एवं संयम के द्वारा अपनी आत्मा को शुद्ध बनाया है। तीर्थों से शुद्धि नहीं होती।”

रुद्रदेव एवं अन्य ब्राह्मणों ने उनकी शिक्षा को, हितोपदेश को ग्रहण किया।

जाति से चांडाल होकर भी हरिकेशी बल के कर्म महान् उत्कृष्ट थे। उत्कृष्ट संयम का निर्दोष पालन कर, उत्कृष्ट तपश्चरण कर अंतिम समय में समस्त कर्मों का क्षय कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बने।

□ हम भी उन्हीं की तरह बनें !

ऐसे महापुरुषों का गुणगान करने से कभी न कभी हममें भी वैसे ही गुण प्रकट होंगे, हम भी उन्हीं की तरह बनेंगे, इसी अभिलाषा के साथ.....

आनंद ही आनंद !



## उत्कृष्टता के दो रूप : एक योगी, एक भोगी

आत्म-बंधुओं !

जिनेश्वर प्रभु ने मुमुक्षु साधकों के लिए अपना जो उपदेशामृत दिया, उसमें बताया कि “हे साधक ! संसार सागर है, संसार कीचड़ है, तू इस संसार-सागर के जल और कीचड़ में कमलवत् निर्लिप्त रहता हुआ अपनी साधना-सुगंध का प्रसारण कर। ऐसा करने से तू अपनी साधना की सिद्धि कर सिद्ध बन जायेगा, बुद्ध हो जायेगा, मुक्ति प्राप्त कर लेगा।”

□ निवासी नहीं, प्रवासी है यहाँ !

“हे साधक ! तू निरन्तर चिन्तन कर कि तू इस संसार का निवासी नहीं अपितु प्रवासी है। प्रवासी बनकर आया और निवासी बनने का प्रयत्न किया तो तुझे सफलता नहीं मिल पायेगी। हो सकता है इस प्रयत्न में तेरी फजीहत हो। तू ध्यान धर कि तेरा निवास-स्थान तो मोक्ष है। तेरी संसार की यात्रा तो मात्र कुछ अवधि तक की नियत है, अवधि समाप्त हुई कि इसे छोड़ना पड़ेगा। जैसे प्रवासी को निरन्तर भय बना रहता है कि ये मेरा देश, मेरा प्रदेश, मेरा निवास-स्थल नहीं है, मालुम नहीं कब यहाँ से चल देना पड़े। यही बात संसार की भी है। यहाँ से पुनः किसी अन्य गति में, वहाँ से पुनः किसी अन्य योनि में, एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी.....इसी भाँति आगे से आगे जीव भटकता आया है, भटकना पड़ेगा।”

“हे साधक ! विभिन्न गतियों और योनियों में भ्रमण करते हुए तुम्हारा अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है। अनादिकाल से परिभ्रमण चालू है और अनन्तकाल तक चालू रह सकता है, यदि अपना स्थायी निवास पाने के लिए प्रयत्नशील नहीं बना तो.....।”

### □ अपमत्तस्स नत्थि भयं

बंधुओं! तीर्थकर भगवंतों के उपर्युक्त उपदेश में जिस साधक को सम्बोधित किया गया है, वह साधक कौन है? वह साधक है—श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका अर्थात् आप और हम। चल रहा है संसार-परिभ्रमण। बना हुआ है भय कि पता नहीं कब यहाँ से जाना पड़ जाये? क्यों है यह भय? आचारांगसूत्र में आया है—“अपमत्तस्स भयं नत्थि।” अर्थात् अप्रमादी को इस जगत् में किसी बात का भय नहीं है। भय है प्रमादी को, क्योंकि वह धर्मकार्य में प्रमाद करता है। भय से पीछा छुड़ाना है तो ‘अप्रमत्त संयति’ बन सातवीं गुणश्रेणी में प्रवेश पाना होगा।

### □ जीव : संसारी और असंसारी

भगवतीसूत्र में जीव के मुख्य रूप से दो भेद बताए हैं—संसारी और असंसारी। असंसारी तो वे जीव हैं, जिन्होंने संसार-परिभ्रमण से पूर्णतया छुटकारा पा लिया, अष्ट-कर्म दल की कारा को जड़ से काट दिया और मुक्ति में विराजमान हो गये।

### □ संसारी जीव : भेद-प्रभेद

संसारी जीव वे जो संसार में संसरण, परिभ्रमण कर रहे हैं। इनके मुख्य रूप से दो भेद हैं—संयति और असंयति। संयति वे जो पूर्ण रूप से व्रत-प्रत्याख्यान रखते हैं और असंयति वे जो प्रत्याख्यान, व्रतादि नहीं रखते। संयति जीवों के दो भेद—प्रमादी और अप्रमादी। प्रमादी के दो भेद—शुभ योगी व अशुभ योगी। जो व्यक्ति पूर्णतः संयति नहीं बनते पर व्रतादि अंशतः ग्रहण एवं पालन करते हैं वे सयंतासंयति कहलाते हैं।

### □ आरम्भी और अनारम्भी जीव

इस तरह भेद-प्रभेद करें तो संसार के जीव अनेक प्रकार के हैं। कौन-से जीव आरम्भी और कौन-से अनारम्भी—इसका विवेचन करें तो एक तो सिद्ध, दूसरे अप्रमादी संयति जीव तथा जो प्रमादी हैं उनमें भी जो शुभ योगी हैं—ये सभी अनारम्भी हैं। शेष जो आरम्भी जीव हैं, उनके भी तीन प्रकार हैं—

१. आत्मारम्भी—जो स्वयं छह काय जीवों की विराधना करता है, वह आत्मारम्भी।

२. परारम्भी—जो स्वयं तो नहीं करता पर नौकर-चाकर, दास-दासी आदि के द्वारा छह काय जीवों की विराधना आदेश आदि देकर कराते हैं, वे परारम्भी होते हैं।

३. तदुभयारम्भी—स्वयं भी छह काय जीवों की विराधना करते हैं तथा दूसरों से भी करवाते हैं, वे तदुभयारम्भी जीव होते हैं।

असंयति जीव आत्मारम्भी भी होते हैं, परारम्भी भी और तदुभयारम्भी भी।

संयति जीवों में जो अप्रमादी संयति हैं वे अनारम्भी होते हैं।

प्रमादी संयति में जो शुभ योगी हैं वे अनारम्भी श्रेणी में आते हैं पर अशुभ योगी संयति आत्मारम्भी भी होते हैं तथा परारम्भी व तदुभयारम्भी भी।

#### □ शुभ योग (मन, वचन, काय) बनाएँ

इस आगमिक विवेचन को आप सभी के समक्ष रखने का मेरा ध्येय यह है कि आत्मारम्भी बंधु अपने योगों को शुभ बनायें। यदि मन, वचन और काय के योग शुभ भाव में रमण करने लग गये तो आप भी अनारम्भी की श्रेणी में आ जायेंगे। ऐसे अनारम्भी जीवों को संसार में किसी बात का भय नहीं रहता। उसे प्रवास का भी भय नहीं रहता क्योंकि उसकी नजर तो अपने स्थायी निवास पर लगी रहती है।

यह स्थिति कैसे बनाई जाये? पूर्वाचार्यों ने इसके लिए अनेकानेक सरलतम उपायों का निर्देश किया है। उन्हीं सरलतम उपायों में एक उपाय है—अपने चिन्तन को इतने शुभ योगों में बनाये रखना कि मन सदैव, निरन्तर दिव्य महापुरुषों के गुणकीर्तन में लगा रहे।

#### □ मेरी हार्दिक कामना

उसी गुणकीर्तन की शृंखला में 'बड़ी साधु वन्दना' पर विवेचन चल रहा है। जिस महान् युगपुरुष ने यह भावमय रचना जन-जन के समक्ष प्रस्तुत कर भावरमण की प्रेरणा दी, उसकी स्मृति में यदि आप सभी इस रचना को कंठस्थ करने का संकल्प लें तो यह एक आदर्श स्मरणाञ्जलि होगी। इस वर्ष उस महापुरुष का २००वाँ स्मृति-वर्ष चल रहा है। मेरी हार्दिक कामना है कि कम से कम २०० पुरुष-महिलाएँ युगपुरुष की इस महान् रचना 'बड़ी साधु वन्दना' को कंठस्थ करने का संकल्प ग्रहण करें।

### □ बड़ी साधु वन्दना—कंठस्थ कर जपना, निश्चित मोक्ष अपना

बंधुओं! “धन अण्डे और विद्या कण्ठे।”—धन वही काम आता है जो अण्डी में है अर्थात् अपने पास में विद्यमान है, साथ है और विद्या वही काम आती है जो कण्ठ में है अर्थात् कण्ठस्थ याद है। याद कीजिये इसे। यदि याद करके नियमित स्वाध्याय करेंगे तो जीवन के अनेक क्षणों में इसका अद्भुत चमत्कार दिखाई देगा। स्वाध्याय से भाव-रमण हो गया तो पण्डित-मरण की प्राप्ति होगी, जिसके लिए साधु-संत भी तरसते हैं। आज हम महामुनि चित्त का गुणकीर्तन करते हुए उन्हें अपना भाव-वन्दन अर्पित करेंगे।

मुनि बल हरिकेशी, चित्त मुनीश्वर सार।

शुद्ध संयम पाली, पाम्या भवनो पार ॥ १४ ॥

### □ चित्त मुनीश्वर एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

चित्त और सम्भूति का वर्णन उत्तराध्ययनसूत्र के तेरहवें अध्ययन में विस्तारपूर्वक दिया गया है। पाँच भवों तक ये दोनों सहोदर भ्राता रहे पर छठे भव में पूर्वकृत एक भाई की संयम की आराधना और दूसरे की विराधना के कारण पृथक्-पृथक् स्थान, कुल, वातावरण आदि प्राप्त हुए। एक भोगों के उत्कर्ष पर बैठा चक्रवर्ती सम्राट् बना तो दूसरा योग के शिखर पर विराजमान उत्कृष्ट योगीराज। तब दोनों ने एक-दूसरे को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करना चाहा। भोगी ने योगी को भोग का प्रलोभन दिया तो योगी ने भोगी को समझाया कि ये भोग ही संसार में फँसाने वाले हैं। उसे उसके पिछले भव का स्मरण भी दिलाया। पर भोगी न माना, मानकर भी उसने मानने से मना कर दिया। परिणामस्वरूप भोगी को नरक दुःख भोगना पड़ा और योगीराज (चित्त) मोक्ष पधारे।

### □ पूर्व के पाँच भव

कौन-कौन-से थे इनके पूर्व के पाँच भव? अपने किसी जन्म में ये दोनों गोपालक-पुत्र थे। इनके साथ दो अन्य भी थे। इन चारों गोपालक-पुत्रों ने भयानक अटवी में भटकते हुए, भूख और प्यास से व्याकुल मुनि सागरचन्द्र की करुणा से प्रेरित हो सेवा-परिचर्या की। मुनि ने चारों गोपाल-पुत्रों को धर्मोपदेश दिया। चारों ही बालक मुनिवर का उपदेश सुन प्रतिबुद्ध हुए और संयम-व्रत धारण कर मुनि बन गये।

इन्हीं में से दो बालकों के मन में अपनी जाति और कुल का मद विद्यमान था, मुनिकाल में भी वह मदभाव नष्ट नहीं हुआ अतः उन दोनों ने नीच गोत्र का बंध किया।

कहीं-कहीं ऐसा वर्णन भी मिलता है कि दीक्षा के पश्चात् भी इन दो मुनियों के मन में मुनिवेश की मलिनता आदि के प्रति दुगुंछ (घृणा) भाव बना रहा अतः नीच गोत्र का बंध हुआ पर यह कथन युक्तियुक्त नहीं लगता। दुगुंछ के कारण मोहनीय कर्म का बंधन होता है, मिथ्यात्व आता है, कषायों की वृद्धि होती है और संसार-परिभ्रमण बढ़ता है पर नीच गोत्र का बंध दुगुंछ के कारण हुआ हो, ऐसा कहीं उल्लेख मिलता नहीं।

संयम का फल मिला—वे देवगति में देवरूप बने। वहाँ से च्यवकर ये दोनों दो सहोदर भ्राता के रूप में जन्मे। तब से इनके पाँच भव सहोदर रूप में ही हुए पर छठे भव में ये दोनों जीव बिछुड़कर एक चित्त मुनि हुआ तो दूसरा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

पहला भव इनका दशार्णनगर में शांडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षि से युगलरूप में जन्म लेकर दास के रूप में बीता।

एक बार दोनों भाई रात को अपने खेत में एक वृक्ष के नीचे सो रहे थे कि अकस्मात् एक सर्प ने एक भाई को डस लिया। दूसरा जागा। मालूम होते ही वह सर्प को ढूँढ़ने निकला किन्तु उसी सर्प ने उसे भी डस लिया।

दोनों भाई मरकर कालिञ्जर पर्वत पर एक हिरनी के उदर से युगल रूप में उत्पन्न हुए एवं एक बार एक शिकारी के एक ही बाण से दोनों मारे गये। युगल भ्राता के रूप में यह उनका दूसरा भव था।

अपने तीसरे युगल भव में वे दोनों मृतगंगा के किनारे राजहंस बने। एक दिन वे दोनों साथ-साथ घूम रहे थे कि एक मछुवारे ने दोनों को पकड़ा और उनकी गर्दन मरोड़कर मार डाला।

#### □ चित्त और संभूत (चौथा भव)

दोनों हंस मरकर वाराणसी के अतिसमृद्ध एवं चाण्डालों के अधिपति भूतदत्त के यहाँ पुत्र रूप में जन्मे। यहाँ उनका नाम रखा गया—चित्त और संभूत। इन दोनों भाइयों में अपार स्नेह था।

### □ अध्ययन

एक बार भूतदत्त चाण्डाल को वाराणसी के मंत्री नमुचि के वध का कार्य सौंपा गया। नमुचि वाराणसी के तत्कालीन राजा शंख का मंत्री था पर उसके किसी भयंकर अपराध से क्रुद्ध होकर राजा ने उसके वध की आज्ञा दे दी। नमुचि मरना नहीं चाहता था। वह भूतदत्त के समक्ष रोया, गिड़गिड़ाया। भूतदत्त ने तब शर्त रखी कि यदि वह 'चित्त और संभूति' को अध्ययन कराये तो अपने घर में उसे छिपाकर रख सकता है।

मरता क्या न करता। जीवन के लिए नमुचि ने चाण्डाल की यह शर्त मान ली और चाण्डाल के दोनों पुत्रों को अध्ययन कराने लगा। कुछ ही वर्षों में उन दोनों को अनेक विद्याओं एवं कलाओं में निपुण बना दिया।

### □ युगीन परिस्थितियाँ

यह वह युग था जब अस्पृश्यता अपनी चरम सीमा पर थी। उच्च वर्ण के लोग अछूतों की छया-स्पर्श से भी बचते थे। अछूत भी आते-जाते शब्द करके अपने आने की चेतावनी देते थे जिससे किसी से उनका छया-स्पर्श न हो पाये। वेद-पुराण आदि धर्मग्रन्थों के शब्द भी अछूतों के कान में पड़ जाते तो अछूत दण्ड के भागी बनते थे। तुलना कीजिए उस जमाने की आज के युग से। कहाँ से कहाँ पहुँच चुका है युग। अब तो अछूत राज्याधिकारी हैं, मंत्री हैं, शासक हैं। अनेक धर्माधिकारी उन्हें बुलाते हैं धर्मसभा में, उनके आने की प्रतीक्षा होती है, उनका मान-सम्मान होता है।

### □ नमुचि और चाण्डाल-पत्नी : वासना का चक्र

नमुचि को तो प्राण बचाने थे अतः चाण्डाल-पुत्रों को अध्ययन कराया। उन्हीं के घर छिपा हुआ था अतः चाण्डाल-पत्नी भोजन-पानी-सफाई आदि की सेवा करती थी। वह रूपवती थी और नमुचि कामी था, वासना का कीड़ा था। पहले तो नमुचि कच्ची सामग्री लेता व खुद बनाता पर जब रूपवती चाण्डाल-पत्नी ने कहा कि आप क्यों कष्ट उठाते हैं, मैं बना दिया करूँगी तो नमुचि उसके रूप के कारण इसके लिए भी तैयार हो गया।



### □ नमुचि मृत्यु के मुँह में

पहले खाना बनाना प्रारम्भ किया, फिर परोसना प्रारम्भ किया तब अनुराग उत्पन्न हुआ, अनुराग ने प्रेम और वासना का रूप ग्रहण किया। दोनों के नाजायज सम्बन्ध बने। जब भूतदत्त को यह मालूम हुआ तो वह अत्यन्त कुपित हुआ। उसने निश्चय किया कि ऐसे दुष्ट, कृतघ्न, कामी को तो मृत्यु मिलनी ही चाहिए। अपने हाथों से उसका वध करने का निश्चय कर वह उस औजार को घिसकर तीक्ष्ण करने लगा जिससे नमुचि का वध किया जाना था।

### □ चित्त-संभूति ने बचाया नमुचि को

चाण्डाल-पुत्रों, चित्त व संभूति को पता चल गया कि पिता नमुचि को मारना चाहते हैं। कृतज्ञता एवं करुणावश दोनों ने नमुचि को सचेत करते हुए यह सूचना दे दी। अपने गुरु से उन दोनों ने कहा—“आप यहाँ से भागकर अपने प्राणों की रक्षा कीजिये।”

### □ नमुचि का भाग्य : हस्तिनापुर का मंत्री बना

नमुचि सुनते ही भागने की योजना बना लेता है और कुछ ही समय पश्चात् चुपचाप वहाँ से निकलकर जंगलों के मध्य चलता-दौड़ता एक दिन हस्तिनापुर पहुँच जाता है। संयोगवश हस्तिनापुर के चक्रवर्ती महाराज सनत्कुमार के मंत्री की मृत्यु हो चुकी होती है। नमुचि को वहाँ का मंत्री बना दिया जाता है।

### □ चित्त-संभूति राज्य से निष्कासित

इधर वाराणसी में एक बसन्तोत्सव के अवसर पर चाण्डाल-पुत्र चित्त और संभूति, दोनों भाई महोत्सव में सम्मिलित होते हैं। अत्यन्त रूपवान एवं लावण्ययुक्त दोनों तरुण वहाँ अपने नृत्य एवं संगीत कार्यक्रम में आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं। जनता ऐसी मुग्ध हो जाती है कि स्पृश्य एवं अस्पृश्य का भान भी भूल जाती है। कुछ कट्टर ब्राह्मण भी वहाँ होते हैं। वे यह सब देखकर ईर्ष्या के मारे जल-भुन जाते हैं। वे राजा को शिकायत करते हैं कि दो चाण्डाल-पुत्रों ने हमारा धर्म भ्रष्ट कर दिया है। उनके नृत्य-संगीत पर मुग्ध बने लोग स्पृश्यापृश्य की मर्यादा को भूल गये हैं। वे इनकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दे रहे हैं।

इस पर कृपित राजा ने उन दोनों चाण्डाल-पुत्रों को देश-निष्कासन का दंड दिया। दोनों भ्राता तब वाराणसी नगर को छोड़ अन्यत्र चले गए।

#### □ भूल का दंड : चित्त-संभूति प्रताड़ित

वाराणसी में एक बार फिर जब कौमुदी महोत्सव होता है तो चांडाल-पुत्र भी वेश एवं रूप बदलकर वहाँ आते हैं। आमोद-प्रमोद के मस्ती भरे वातावरण में जगह-जगह नृत्यगान होते देख ये दोनों कुमार भी अपने को वश में नहीं रख पाते और मधुर लय में अनजाने में ही गाना प्रारम्भ कर देते हैं। लोग मंत्रमुग्ध बन इन्हें सुनने आते हैं, बधाई देते हैं, परिचय चाहते हैं। कुछ लोग उन्हें पहचान लेते हैं कि ये वे ही भाई हैं जिन्हें गत बसन्तोत्सव में राज्य-निष्कासन मिला था।

पहचानने के पश्चात् ईर्ष्यालु और जातिमदांध लोग इन्हें बुरी तरह पीटते हैं। चाण्डाल-पुत्र कहकर पीटते-पीटते नगर के बाहर तक लाकर बेहोशी की हालत में वहाँ छोड़ देते हैं।

#### □ क्या आत्महत्या दुःखों का समाधान है ?

तिरस्कृत और अपमानित वे दोनों कुमार अत्यन्त मायूस, व्यथित एवं दुःखी बनकर अपने आप से घृणा करने लगते हैं। अपने जीवन को व्यर्थ मानकर वे आत्महत्या के लिए तत्पर हो जाते हैं। मरने का सबसे सरल पर सर्वाधिक पापमय ढंग है आत्महत्या। लोग समझते हैं, इससे हम दुःखों से छुटकारा पा जाएँ पर बात यह है नहीं। दुःख तो वे ही आगे तैयार हैं और साथ में आत्महत्या के अपराध का पाप भी भोगना पड़ेगा, वह अलग से।

कभी-कभी अंध मान्यता सुनने में आती है कि अमुक पर्वत पर जाकर मरे तो स्वर्ग मिलता है। काशी में अमुक-अमुक कुएँ में छलाँग लगाई जाए तो धन मिलता है। जाने कितने लोग अज्ञान के वशीभूत इन दंत-कथाओं में विश्वास कर अपने प्राणों को जीते-जी होम देते हैं। ऐसे व्यक्तियों को प्राप्त क्या होता है? पाप का एक बड़ा बोझ उनके सिर चढ़ जाता है।

#### □ मुनि द्वारा चित्त-संभूति को धर्मोपदेश

आत्महत्या का विचार कर दोनों साथ-साथ एक पर्वत शिखर पर चढ़ते हैं। वहाँ से नीचे कूदकर प्राण त्यागने के लिए तैयार होते हैं तभी एक निर्ग्रन्थ श्रमण उन्हें देखते हैं,

स्थिति भाँपते हैं और करुणाभाव से पुकार उठते हैं—“रुको! कूदना मत।” दोनों रुक जाते हैं, देखते हैं इधर-उधर पर कोई नजर नहीं आता उन्हें। तब वे पुनः कूदने के लिए तत्पर होते हैं। शिखर से फिर आवाज टकराती है—“कूदना मत।”

दोनों पीछे मुड़कर देखते हैं—आवाज कहाँ से आई? उन्हें बहुत दूरी से एक जैन संत इधर ही आते दृष्टिगोचर होते हैं। वे रुक जाते हैं, पीछे मुड़ते हैं फिर मुनि की ओर चल पड़ते हैं। मुनि के पास आकर वन्दन कर कहते हैं—“प्रभो! हमें क्यों रोका आपने? हम अत्यन्त दुःखी हैं। अपने समस्त दुःख मिटाने के लिए मरण की शरण में जाना चाहते थे। लोग हमसे कितनी घृणा करते हैं, ऐसी घृणा के साथ कैसे जीएँ?”

मुनि ने कहा—“मरने के बाद भी पुनः नीच गोत्र पाया तो? दुःख तो जो यहाँ हैं, वे ही आगे भी तैयार हैं। बहादुरी तो संघर्ष करने में है? तुम कहते हो लोग तुमसे घृणा करते हैं। मैं तुम्हें ऐसा बना सकता हूँ कि यही लोग तुम्हारी पूजा, तुम्हारी वंदना, अभ्यर्थना करेंगे। तुम्हारे आगे चक्रवर्ती सम्राट् भी सिर झुकाएँगे।”

दोनों कुमार साश्चर्य उन्हें देखते हैं, जैसे विश्वास नहीं आ रहा हो। तब मुनि उन दोनों को धर्मोपदेश देते हैं और कहते हैं—“तुम जैसे विमल-बुद्धि कुमारों को आत्महत्या कर मरना शोभा नहीं देता। अगर शारीरिक और मानसिक समस्त ताप-संताप सदा-सदा के लिए मिटाना चाहते हो तो मुनिधर्म की शरण ग्रहण करो।”

#### □ दोनों श्रमण बने !

दोनों तब उन निर्ग्रन्थ श्रमण से प्रतिबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण करते हैं। साधु बनकर दोनों ही गुरु-चरणों में रहकर शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। गूढार्थ जानकर गीतार्थ बनते हैं और उत्कृष्ट तपश्चरण प्रारम्भ कर देते हैं। तपश्चरण के फलस्वरूप उन दोनों को अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं।

#### □ दुष्ट नमुचि ने मुनि को पिटवाया

गुरु के देवलोक गमन हो जाने पर दोनों मुनि-भ्राता ग्रामानुग्राम पद-विहार करते हुए एक बार हस्तिनापुर पहुँच जाते हैं और नगर के बाहर एक उद्यान में ठहरते हैं। करते हैं—मासक्षमण का तपश्चरण। पारणे के दिन संभूति मुनि आहार की गवेषणार्थ नगर में

निकलते हैं। भिक्षार्थ भ्रमण करते मुनि संभूति पर, वहाँ के मंत्री नमुचि की अचानक नजर पड़ जाती है। वह उन्हें पहचान लेता है। उसके मन में विचार आता है कि ये मुनि मेरे पूर्व वृत्तान्त को जानते हैं, चक्रवर्ती महाराज निश्चय ही उन्हें वन्दन करने जायेंगे। उन्हें अगर इन मुनि ने मेरे दुष्कृत्यों की कथा कह दी तो अनर्थ हो जाएगा। मेरा मंत्री-पद तो जाएगा ही सारा महत्त्व ही नष्ट हो जाएगा। सारा भेद खुल जाने के डर से नमुचि मंत्री ने नगरजनों से कहा—“अरे नगरजनों! यह शूद्र है, चांडाल है, सबका धर्म भ्रष्ट करता फिर रहा है। इसे मारो, इसे पीटो।”

#### □ संभूति मुनि विचलित : क्रोध जगा

प्रधानमंत्री के कहने भर की देर थी कि अनेक नागरिक मुनि के निकट आकर उन पर प्रहार करने लगे। कुछ ने मुनि को मुक्कों से मारा, कुछ ने लातों से मारा, कुछ लोग लाठी ले आए और लाठियों से प्रहार करने लगे। मुनि ने कुछ देर सहन किया। वे शांत बने रहे। पर उन लोगों की अत्यन्त उग्रता देख मुनि अपना धैर्य खो बैठे, समभावों से विचलित हो गए। भीतर जो संज्वलन कषाय शेष था, उसका आवेग अब बढ़ गया। क्रोध की तीव्रता में आकर कहने लगे—“अरे दुष्ट नमुचि! मैंने कभी तुझे मृत्यु से बचाया था। आज भी मैंने तेरा कुछ नहीं बिगाड़ा—तुझे कुछ भी नहीं कहा। यहाँ के लोगों को भी मैंने कुछ नहीं कहा। बिना कारण ही तुम मुझे पीटवा रहे हो और ये लोग मुझे मार रहे हैं, पीट रहे हैं। ठहरो अभी तुम सबको इस करणी का फल चखाता हूँ।” इतना कहकर मुनि अपना मुँह खोल देते हैं।

#### □ तेजोलेश्या का प्रयोग

उत्कृष्ट तपश्चरण के प्रभाव से उन्हें तेजोलेश्या की उपलब्धि थी। मुँह खोलकर वे तेजोलेश्या का प्रवाह बाहर निकालते हैं। (यह वर्णन कथाभाग में मिलता है। आगम के अनुसार तो शुभ तेजोलेश्या दाहिने स्कंध से व अशुभ तेजोलेश्या बायें कंधे से निकाली जाती है।) सारा नगर घने धूम्र से आच्छादित हो जाता है। बंधुओं! तेजोलेश्या के प्रभाव से साढ़े सोलह देश का क्षेत्र नष्ट किया जा सकता है, इतना तेज होता है उसका। घास के भारे की तरह देश के देश जल जाते हैं। मुनि मन ही मन क्रोध में भरकर पूरे नगर को जलाने के लिए तैयार हो जाते हैं, संकल्पित हो उठते हैं। वे सोचते हैं—‘जैसा मंत्री

दुष्ट है वैसा ही राजा भी होगा और जैसा राजा होगा वैसी ही प्रजा होगी अतः पूरा नगर ही राख बना देना बेहतर है।’

#### □ जनता द्वारा क्षमायाचना

धूम्र के फैलते ही लोगों का दम घुटने लगा। सभी भयभीत हुए, घबराए और घटना को सुनकर मुनि से क्षमायाचना के लिए एकत्रित होने लगे। सभी ने मुनि से शांत होने की प्रार्थना की। वे कहने लगे—“मुनिवर! भविष्य में कोई ऐसा अपराध नहीं करेगा, आप क्षमा के सागर हैं, कृपया हम नगर-निवासियों पर दया कीजिए, हमें जीवनदान दीजिए।” पर संभूति मुनि का क्रोध शांत नहीं हुआ।

#### □ चित्त मुनि ने उपयोग लगाया तो.....!

उधर चित्त मुनि उद्यान में स्वाध्याय के लिए तैयारी कर रहे थे। मासक्षमण उनका चल ही रहा था। स्वाध्याय करने से पूर्व मुनि ने जिन दोषों को टालकर स्वाध्याय किया जाता है उनकी जानकारी के लिए चहुँ ओर अवलोकन किया और फिर आकाश की तरफ देखा तो नगर की ओर से विचित्र-सा धुआँ आता दिखाई दिया। नासाग्र से सूँघा तो धुएँ की गंध भी विचित्र लगी। उपयोग लगाया अपना तो जान गए कि तेजोलेश्या का धुआँ है। तेजोलेश्या की बात ज्ञात होते ही सोचा—‘इस क्षेत्र में तेजोलब्धि के धारक तो हम दो ही हैं, अन्य कोई नहीं। अवश्य कुछ ऐसा कारण बना है कि मुनि-भाई क्रोध आवेग में आ गए हैं।’

#### □ संभूति को भ्राता चित्त मुनि का उपदेश

चित्त मुनि तुरंत चल देते हैं। उद्यान से बाहर आ, राजपथ पर चलते हुए नगर में प्रवेश कर ईर्यासमिति का पालन करते मुनि संभूति के निकट पहुँचते हैं। देखते हैं भ्राता को। मुँह खुला है आकाश की ओर ऊपर किए हुए, धुआँ निकल रहा है। चित्त मुनि ने भ्राता मुनि को शांत करने का प्रयत्न करने के लिए उनके कंधे पर हाथ रखा और अत्यन्त प्रिय, मधुर वचनों से उनका क्रोधानल उपशांत करने एवं अपनी तेजोलब्धि की शक्ति समेटने के लिए कहा। वे बोले—“बंधु! तुम छह काया के प्रतिपालक एवं रक्षक हो फिर यह क्या कर बैठे? क्षणिक आवेश में, क्रोध के आवेग में कितने निर्दोष जीवों की हिंसा तुम्हारे द्वारा हो गई, जरा ज्ञान लगाओ। नगर में अनेक साधु होंगे, साध्वियाँ

होंगी, श्रावक होंगे, श्राविकाएँ होंगी, सम्यग्ज्ञानी होंगे, जिन-श्रद्धानुयायी होंगे, तपस्वी होंगे, उन सभी को कितनी असाता एवं असातना होगी। अनेक प्रकार से बोध देकर उन्हें शांत करना चाहा।

#### □ संभूति मुनि का क्रोध शान्त

चित्त के प्रिय, मधुर, हितकर वचनों को सुनकर संभूति शांत हुए। तब चित्त बोले—“शीघ्रता से तेजोलेश्या को पुनः अपने भीतर खींचो। यदि कहीं अग्नि प्रकट हो गई तो अनिष्ट हो जाएगा।”

संभूति ने तब अपनी तेजोलब्धि समेट ली। धूम्राच्छन्न मिट गया, अंधकार नष्ट हुआ, सभी को जीवनदान मिला। सभी नगरवासी अत्यन्त प्रमुदित हुए।

#### □ दोनों मुनियों द्वारा संलेखना-संधारा

दोनों मुनिगण वहाँ से पुनः उद्यान में आए। तेजोलब्धि पुनः खींचते समय कुछ-कुछ अग्नि-कण प्रकट होने लगे थे। वे मुनि के अंदर तक चले गए। तीव्र जलन होने लगी तब संभूति मुनि बोले—“भाई! मैं अब बचूँगा नहीं। तुम्हारे समक्ष अपने समस्त दुष्कृत्यों की आलोचना करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ। अब मुझे संलेखना-संधारा करा दो।”

चित्त मुनि ने संभूति को सच्चा पश्चात्ताप करते देखा, अंत समय जान उसे तो संधारा कराया ही, स्वयं भी संधारा ले लिया।

#### □ चक्रवर्ती सम्राट् सनत्कुमार व उनकी पटरानी द्वारा दर्शन,

##### क्षमायाचना तथा संभूति मुनि का निदान

सारी सूचना चक्रवर्ती सम्राट् सनत्कुमार को मिली तो वे पटरानी सहित मुनि वन्दनार्थ उद्यान में उपस्थित हुए। वन्दन-नमन कर राजा ने क्षमायाचना की। उनकी पटरानी रंभा की तरह रूप-लावण्ययुक्त थीं, वे भी भावावेग में बहकर मुनि-चरणों में झुक जाती हैं। उनकी सुकोमल, सुस्निग्ध, सुगंधित केशराशि का स्पर्श संभूति मुनि के चरणों से होता है। स्पर्श मात्र से अत्यन्त सुखद, शीतल, मधुर अनुभव करते हैं मुनि।

सोचते हैं—‘ऐसी होती है ऋद्धि। कितने सुखी-सन्तुष्ट हैं ये दोनों !’ मन ही मन निदान करने का विचार कर लेते हैं। ज्ञानबल से यह जानकर चित्त मुनि चक्रवर्ती को तुरन्त वहाँ से चले जाने का संकेत करते हैं और भाई से कहते हैं—“हे भाई! यह क्या करने जा रहे हो? अनमोल संयम को क्यों कौड़ियों के मोल बेचने पर तुले हो? पश्चात्ताप कर मिच्छामि दुक्कडं दे दो।”

चित्त मुनि की शिक्षाओं का संभूति मुनि पर कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने तो निदान कर ही लिया—“यदि मेरी तपस्या, मेरे संयम का कोई फल हो तो मैं भविष्य में चक्रवर्ती बनूँ।”

#### □ केसर मिल गई गारा में

बंधुओं! मोक्षसुख पा सकते थे पर निदान कर बैठे सांसारिक सुखों के लिए और इस तरह हीरे को कोयले की कीमत में दे बैठे। निदान आप लोग भी करते हैं। सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवास, बेला, तेला, अठाई, व्रत, प्रत्याख्यान आदि के बदले में कई बार मन में किसी सांसारिक सुख की अभिलाषा कर बैठते हैं या दुःख को हटाने का चिन्तन तय करते हैं। आपको यह जान लेना चाहिए कि ऐसा करने पर निश्चित रूप से जमाकोष की पुण्यवानी का क्षय होता है। संभूति मुनि ने उत्कृष्ट संयमरूप केसर को निदानरूप गारे में मिलाकर अपना जीवन नष्ट कर लिया।

#### □ पाँचवाँ भव : देवलोक के देव

दोनों का संथारा पूर्ण हुआ। आयुष्य पूर्ण कर दोनों सौधर्म देवलोक के देव बने। इस तरह दास, मृग, हंस, चांडाल एवं सौधर्म देवलोक के महान् ऋद्धिवंत देव के रूप में दोनों भ्राता ने पाँच भव साथ-साथ बिताए।

#### □ छठा भव : चित्त श्रेष्ठि-पुत्र, संभूति बने चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त

छठे भव में चित्त का जीव पुरमिताल नगर में एक अत्यन्त धनाढ्य सेठ का पुत्र बना और संभूति के जीव ने निदान के कारण काम्पिल्यपुर नगर में वहाँ के राजा ब्रह्मराज की पत्नी चूलनी के गर्भ से ब्रह्मदत्त के रूप में जन्म लिया, जो आगे जाकर छह खंड की साधना कर चक्रवर्ती बना।

### □ चित्त का जीव श्रमण बना

उधर युवा होकर चित्त के जीव ने एक दिन जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया, पूर्व-जन्म का स्मरण कर वह मुनि बना और विहार करते हुए काम्पिल्य नगर के उद्यान में आकर ध्यानस्थ खड़ा हो गया।

### □ ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण : पाँच भवों का साथी अब कहाँ होगा ?

इधर एक दिन अपराह्न में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती एक नाटक देख रहा था। नाटक देखते हुए मन में विचार उत्पन्न हुआ कि ऐसा नाटक मैंने पहले भी कहीं देखा है। ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया तब ध्यान आया कि ऐसा नाटक मैंने सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्मविमान में देखा था। उसे यह भी ज्ञात हो गया कि हम दो भाई पाँच जन्म तक साथ-साथ थे पर इस छठे भव में मेरा भाई मुझसे बिछुड़कर कहीं अलग स्थान पर पैदा हुआ है। उसकी स्मृति से राजा अब चिन्तामग्न हो गया। सोचा—‘कहाँ होगा वह? कैसे ढूँढ़ा जाए उसे?’

### □ दास, हिरण ने हंसलो, चौथा में चांडाल

पूर्व-जन्म के भाई की खोज के लिए उसने एक श्लोक की दो कड़ियाँ बनाईं। प्रथम कड़ी को उसने जगह-जगह प्रसारित करवा दिया और दूसरी कड़ी को मन में ही रखा। घोषणा करवा दी राज्य में कि जो इसके दूसरे चरण की पूर्ति करेगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूँगा।

श्लोक का पूर्वाह्न अब प्रायः प्रत्येक नागरिक की जबान पर था। बड़े-बड़े विद्वान् प्रयत्न करने लगे पर उसकी पूर्ति कैसे होती? कोई रहस्य को जाने तो उसे पूरा करे। कोई जानता ही नहीं था अतः जहाँ देखो बालक, बूढ़े, जवान, नागरिक, ग्रामीण, मजदूर, किसान, दास, दासी सभी की जबान पर उन दिनों वही कड़ी सुनाई देती—

“दास, हिरण ने हंसलो, चौथा में चांडाल।”

नगर के बाहर जिस उद्यान में जहाँ मुनि चित्त (धनसार सेठ के पुत्र चित्त का जीव) ध्यानस्थ थे, उसी उद्यान के निकट एक किसान अपने कृषि-कार्यों को करता हुआ, उन्हीं में मगन बोल उठा—दास, हिरण ने हंसलो, चौथा में चांडाल।



ध्यानस्थ मुनि ने उस श्लोकार्द्ध को सुन लिया। विचार किया—‘मेरे पूर्वभव के भ्राता ने ही बनाकर प्रसारित किया है, मुझे ढूँढ़ना चाहता है।’ मुनि ने कह दिया—

“पाँच भव भेला किया, छट्टो दीनो टाल।”

#### □ पाँच भवों के साथी जीवों का मिलन

किसान ने सुना, सुनकर पुनः गुना, गुनगुनाया, प्रकट में बोला। एक पेड़ के पत्ते पर लिखा, बार-बार बोला। पक्का याद कर लिया। अब उसका हृदय बाँसों उछलने लगा। बात आधे राज्य के मिलने की थी। किसे कहते हैं आधा राज्य? कहाँ खेती और कहाँ सिंहासन? कितनी ऋद्धि-सिद्धि? कितना राजकोष? कितने महल, दास-दासियाँ? वह तो कल्पना में शेखचिल्ली बन गया। किसान राज-दरबार में गया। राजा को पूर्ण श्लोक सुनाया। सुनते ही ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। राजा को इस तरह मूर्च्छित होते देख सम्पूर्ण सभासद क्षुब्ध हो गए। कुछ बोल उठे—“यह किसान दुष्ट है। इसे पीटो। इसी के कारण महाराजा मूर्च्छित हुए हैं।”

अपने को पिटाई से बचाने के लिए किसान तुरंत बोल उठा—“भाइयों! मुझे मत मारना। मैंने यह श्लोक नहीं बनाया है। इसे तो मेरे खेत के पास वाले उद्यान में खड़े एक मुनि ने बनाया है।”

उधर अनुकूल उपचार से राजा की मूर्च्छा दूर हुई। उन्हें जब ज्ञान हुआ कि पद-पूर्ति उद्यान में विराजित किसी मुनिराज ने की है तो ब्रह्मदत्त चक्री प्रसन्नतापूर्वक अपने राज-परिवार सहित उद्यान में मुनि-दर्शन के लिए गए। वहाँ मुनिवर को वन्दना कर सविनय सन्निकट बैठ गए। दोनों भ्राताओं ने अपने पूर्वभवों के सुख-दुःख के फल-विपाक की चर्चा की।

#### □ मुनि का धर्मोपदेश

मुनि ने समझाया कि पूर्व-जन्म के शुभ कर्मों से हम यहाँ आए हैं। तुम्हें यदि इस वियोग को सदा के लिए मिटाना है तो जीवन-यात्रा को अब सही दिशा दो। काम-भोगों को छोड़ो। आर्यकर्म करो। धर्म में स्थिर होकर सर्व प्राणियों पर अनुकंपाशील बनो।

### □ ब्रह्मदत्त का, मुनि को भोगों के लिए आमंत्रण

ब्रह्मदत्त का मन तो भोगों में रम रहा था। अतः अपने पूर्व पाँच भवों के भ्राता की ये बातें अच्छी होते हुए भी उसके मन में नहीं रमीं। अपने को सन्मार्ग पर लाने की जगह उसने मुनि को उन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हुए कहा—“हे भाई! मेरे पास समस्त भोग-सामग्री प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। तुम यह दरदर भटकना छोड़ो, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में मैले-कुचैले रहना त्यागो, पद-विहार और भूखे रहना बंद करो। मेरे साथ तुम मेरे महलों में चलो। मैं तुम्हें सांसारिक भोग-सामग्री जितनी तुम चाहो उससे भी अधिक मात्रा में उपलब्ध करा दूँगा। यह मनुष्य-भव मुश्किल से मिला है। क्यों इस तरह दीन-हीन बन दुःख उठाते फिरते हो? मेरा कहना मानो, शौक-मौज करो, नाच-रंग जमाओ, दुनियाँ के खेल-तमाशे देखो। मैं तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूँगा।”

### □ मुनि द्वारा पुनः उद्बोधन

मुनि ने कहा—“पूर्वभव के मेरे भ्राता! तुम भी उत्कृष्ट संयमी थे पर निदान के कारण संसार में फँस गए। अब भी समय है संयम को ग्रहण करो। यह संसार असार है। सुनो—

**इह जीविए राय ! असासयम्मि धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।  
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥**

इस अशाश्वत, अनित्य मानव-जीवन में जो विपुल पुण्यकर्म नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में पहुँचने पर पश्चात्ताप करता है और धर्माचरण न करने के कारण, हे राजन्! वह परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।

तुमने कहा—तुम अपना आधा राज्य दे दोगे। बंधु! आधा राज्य मुझे दोगे तो तुम्हारा मान आधा रह जाएगा और मैं यदि आधा राज्य स्वीकार कर लूँगा तो मेरा तो पूरा ही मान चला जाएगा।

मैं तुम्हें सम्पूर्ण राज्य का, ऐसे राज्य का जिसे लेकर तुम्हारा भी मान बढ़ेगा और जिसे तुम्हें देकर मेरा भी मान बढ़ेगा, उस राज्य का अधिकारी बनाता हूँ। तुम अपना राज-पाट छोड़कर मेरे पास आ जाओ, संयमी बन उत्कृष्ट संयम का पालन करो।

□ हाथी कादा में कल रह्यो, तिम मुझने तुम जानो रे

बंधुओं! एक तरफ चक्रवर्ती सम्राट् तो दूसरी तरफ निर्ग्रन्थ मुनिराज। एक तरफ प्रबल भोग, दूसरी तरफ निष्काम योग। दोनों में आकर्षण-बल की कमी नहीं। दोनों में चुम्बकीय शक्ति, पर विजय त्याग ने, योग ने, संयम ने प्राप्त की। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को अंत में कहना पड़ा कि—

नागो जहा पंकजलावसन्नो, दट्टुं थलं नाभिसमेइ तीरं।

एवं वयं कामगुणेषु गिद्धा, न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो ॥

हे मुनिवर! जैसे दलदल में फँसा हुआ हाथी सूखी भूमि को देखता हुआ भी किनारे नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार श्रमणधर्म को जानते हुए भी सांसारिक काम-भोगों में आसक्त बने रहने, फँस जाने के कारण मैं सद्धर्म का अनुसरण नहीं कर पाता।

चित्त उपदेश दियो आय ने, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आगे ए।

पेली बंधन पड़ गयो, अब कारी किम लागे ए॥ नित..... ॥

हाथी कादा में कल रह्यो, तिम मुझने तुम जाणो ए।

चित्त उत्कृष्टी आदरी, पहुंच्या छे निर्वाणो ए।

नित करूं साधु जी ने वन्दना ॥

□ भोगों की निकृष्टतम दुर्गति, संयम की उत्कृष्टतम सुगति

ब्रह्मदत्त काम-भोगों का त्याग नहीं कर सका, चित्त मुनि के उपदेश से भी बोध प्राप्त नहीं कर सका अतः चक्रवर्ती के समस्त सुखों का, अनुत्तर काम-भोगों का उपभोग कर वह अनुत्तर दुर्गति (सातवीं) नरक में गया।

संसार से विरक्त बन, निर्दोष संयम-चारित्र्य का पालन कर, उत्कृष्ट तपस्या कर राजर्षि चित्त भी अनुत्तर सुगति सिद्धगति को प्राप्त हुए।

एक ने निकृष्ट करणी की, संसार में फँसा रहा और निकृष्टतम दुर्गति को पहुँचा। दूसरे ने उत्कृष्ट करणी की तो उत्कृष्टतम सिद्धगति को प्राप्त किया। सांसारिक काम-भोग की इच्छा नहीं करता यदि ब्रह्मदत्त, निदान का प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त कर लेता तो वह भी मोक्ष में जाता। दो भ्राता पुनः मिल जाते।

**□ उत्तम भावों से उत्तम फल**

बंधुओं! महापुरुषों की गुणगाथा हमें सिखाती है कि हमारा जप, तप, ज्ञान-ध्यान, व्रत-प्रत्याख्यान, साधना-आराधना, संयम-पालन आदि धर्म-कार्य में कोई भी सांसारिक आकांक्षा, वांछ, पौद्गलिक सुखों की कामना नहीं होनी चाहिए। जब भी हम कोई धार्मिक अनुष्ठान व्रतादि करें तो कर्म-तोड़ने के, आत्मा की शुद्धि के भाव बनने चाहिए। उत्तम भाव ही उत्तम फल देते हैं। जो भवि जीव उत्तम भाव रखेंगे वे ही शाश्वत सुखों को प्राप्त करेंगे।

आनंद ही आनंद!



## मुक्ति के पथ पर

आत्म-बंधुओं !

जिनेश्वर की वाणी प्राणीमात्र के लिए हितकारी है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता और शांतिदायिनी है, जिज्ञासुओं और मुमुक्षु जीवों के लिए तो विशिष्ट ज्ञान-प्रवाहिनी है। संसार है यह और संसार में समस्त प्राणी एक-सी गति, मति के नहीं होते। कुछ केवल धर्म को ही सर्वस्व मानते हैं तो शेष अनेक पापमय प्रपंचों में रचे-पचे रहते हैं। अनेक ऐसे भी होते हैं जो प्रवृत्ति कर निवृत्ति में आते हैं और निवृत्ति कर प्रवृत्ति में चले जाते हैं। यह सब व्यक्ति की आत्म-जागृति पर निर्भर करता है कि उसका जीवन कैसा हो ?

भगवतीसूत्र के बारहवें शतक के दूसरे उद्देशक में श्राविका जयंति ने प्रभु महावीर से पृच्छा की—“अहो प्रभु! जीव सोते हुए अच्छे या जागते हुए?”

अन्तर्यामी प्रभु ने समाधान करते हुए कहा—

**अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू !**

**अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू !**

“देवानुप्रिये! संसार में कोई जीव जागते रहें तो अच्छा और कोई जीव सोते रहें तो अच्छा।” बात भी यही है—जो जीव अपना समय धर्म-जागरणा में बिताते हैं उनका तो जागना ही श्रेयस्कर है पर जो जीव पापकारी, सावद्य हिंसा जनक कार्यों में, छल-छंद में, सांसारिक-कार्यों में दिन-रात रचे-पचे रहें—उनका जगना अच्छा नहीं। वे जागते रहेंगे तो अधिक पाप-क्रियाएँ करेंगे अतः उस अपेक्षा से उनका सोते रहना ही अच्छा बताया।

□ अभी और जोर लगाना है

आपको भी धर्म-जागरण करना है। अधिकतम अपना समय आपको आत्म-कल्याणी धर्मक्रियाओं में बिताना है। बिता रहे हैं, आप सामायिकें कर रहे हैं, दयाएँ हो

रही हैं, उपवास-बेला-तेला-अट्टाई आदि तप हो रहे हैं, प्रवचन में उपस्थित रहते हैं, पर कुछ और आगे बढ़ना है, और जोर लगाना है। आत्मा अभी जागृत बना नहीं है, उत्कृष्ट धर्म-जागरण कर उसे जागृत बनाना है। जिनवाणी की अमृत-रसधारा में अवगाहन कर रहे हैं, पर अभी किसी को सम्यक्-बोधि प्राप्त नहीं हुई तो उन्हें सम्यक-बोधि प्राप्त करना है।

#### □ समय-मात्र का सदुपयोग हो

बंधुओं! धर्म-जागृति एवं सम्यक्-बोध द्वारा प्रत्येक श्रोता का ऐसा चिन्तन बन जाना चाहिए कि समय-मात्र का सदुपयोग हो। एक-एक क्षण व्रत-प्रत्याख्यान में ही व्यतीत हो। समय का कोई भी भाग व्यर्थ न जाए। संसार-कथा की जगह धर्म-कथा में समय बीते। एक भी पल प्रमाद में न बीते। प्रमाद आत्म-विकास के पथ का सबसे बड़ा अवरोधक है। ऐसा चिन्तन, ऐसी आंतरिक रुचि जिस दिन जागृत हो जाएगी तब संसार-सागर को पार करने की कला आपको आ जाएगी।

#### □ कथा भृगु पुरोहित आदि छह मुमुक्षु-आत्माओं की

‘बड़ी साधु वंदना’ में ऐसी ही अनेक जागृत आत्माओं का वर्णन आया है। चल रहा है उन्हीं आत्माओं का वर्णन।

बलि इक्षुकार राजा, घर कमलावती नार।

भग्गू ने जसा, तेहना दोय कुमार ॥ १५ ॥

छये छती ऋद्ध छांडि, लीधो संजम भार।

इण अल्पकाल मां, पाम्या मोक्ष दुवार ॥ १६ ॥

कड़ियाँ हैं ये दो और इनमें वर्णन आया है छह मुक्ति में गई आत्माओं का। इक्षुकार नगर का इक्षुकार राजा, उसकी कमलावती रानी, इसी नगर का भृगु पुरोहित, पुरोहित की पत्नी यशा और इन पुरोहित-दम्पति के दो पुत्र।

ये छह ही जीव प्राप्त वैभव को त्याग, मुनि बन, उत्कृष्ट करणी कर इसी भव में मोक्ष चले गए। छह ही जीवों ने पूर्वभवों में अनेक बार संयम धारण किया था।

संयम एवं तप द्वारा कर्मों को निर्जरित करते-करते इन छह ही जीवों का यह अंतिम भव था।

#### □ पूर्वभव-वर्णन

चार गोपालकों ने सागरचन्द्र मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की। इन चार में से दो गोपालकों का प्रसंग आपने चित्त एवं संभूति के वर्णन में पिछले प्रवचन में सुना। शेष रहे दो गोपालक—मुनियों ने देवगति प्राप्त की। वहाँ से च्यवकर वे दोनों क्षिति-प्रतिष्ठित नाम के नगर में एक धनाढ्य श्रेष्ठी के घर में जन्मे। बड़े होने पर इनके चार अन्य श्रेष्ठी-पुत्र भी पूर्वभव के स्नेह कारण से मित्र बन गए। प्रबल पुण्योदय से एक बार इन छह ही मित्रों ने एक स्थविर मुनिवर से धर्मोपदेश श्रवण किया। इन्हें लगा कि संसार असार है, धन-सम्पत्ति-परिवार-भवन आदि सभी यहीं रह जाएँगे, इनमें आसक्ति करना संसार को बढ़ाना है। मन में विरक्तिभाव आने पर समस्त वैभव, धन-सम्पत्ति का त्यागकर छह ही मित्र एक साथ प्रव्रजित हो जाते हैं। संयमावस्था में चिरकाल तक शुद्ध संयम का पालन करते हैं पर दो मित्र-मुनि संयम में भी कपटभाव रखते हैं और इसी कारण वे स्त्रीवेद-नामकर्म का बंध कर लेते हैं। अंत समय में छह ही मुनि संलेखना-संधारा द्वारा समाधिमरणपूर्वक शरीर त्यागकर सौधर्म देवलोक में पद्मगुल्म नामक विमान में चार पल्योपम की स्थिति वाले देव रूप में उत्पन्न हुए। दोनों गोपाल-पुत्रों के जीव को छोड़ शेष चारों जीव इक्षुकार नगर में उत्पन्न हुए।

#### □ क्षयोपशम-सामर्थ्य

बंधुओं! सभी साधकों का क्षयोपशमन एक समान नहीं होता। कोई ज्ञान-साधना में तीव्र बुद्धिशाली है पर तपस्या नहीं कर पाता। किसी में तप द्वारा शरीर को प्राप्त कष्ट सहने की सामर्थ्य होती है, भूख और तृषा को वह सहन कर सकता है पर उसकी बुद्धि का ऐसा क्षयोपशम नहीं होता कि वह ज्ञान के क्षेत्र में अधिक आगे बढ़ सके। कोई न ज्ञान-साधना कर पाता है न तपाराधन—वह तो सेवा-सुश्रूषा द्वारा ही वैयावृत्य तप कर लेता है।

जिन छह जीवों का वर्णन चल रहा है, उनके संयम-पालन का क्षयोपशम भी भिन्न-भिन्न था। इनमें से दो साधकों ने साधना में अपने साथियों से कपट किया। गुप-चुप तपस्या की

पर बताया नहीं। इसी कपट के फलस्वरूप इनके स्त्रीवेद नामक नामकर्म का बंध हुआ। उत्कृष्ट करणी के फलस्वरूप एक साधक देवलोक से च्यवकर राजा इक्षुकार बना। कुछ कम करणी थी अतः एक ने कमलावती रानी के रूप में जन्म लिया। उससे भी कम करणी थी अतः एक भृगु पुरोहित हुआ। इन तीनों से कम करणी वाला साधक-जीव पुरोहित-पत्नी यशा बनी।

#### □ भावी माता-पिता को, अपनी दीक्षा के लिए देवों द्वारा कथन

शेष रहे दो साधक भोग-आयुष्य शेष रहने के कारण अभी देवलोक में ही रहे। इन दोनों ने देव-भवं में अपने अवधिज्ञान के बल से यह जान लिया कि अब मात्र छह माह की आयुष्य शेष रही है और यह भी उपयोग लगा लिया कि यहाँ से च्यवकर हम दोनों भृगु पुरोहित के घर पुत्ररूप में उत्पन्न होंगे।

अगले जन्म में भी संयम के द्वारा आत्म-कल्याण में अंतराय नहीं दे भावना को लेकर दोनों देव अपनी वैक्रिय-लब्धि द्वारा मुनि-वेश धारण कर भृगु पुरोहित के घर गये। मुनियों को अपने घर आया देख दोनों पति-पत्नी आनंदित होते हैं एवं हर्षभाव से सम्मुख आकर वन्दन-नमस्कार करते हैं। देव-मुनिद्वय उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। सुनकर दोनों ही सम्यक्त्व ग्रहण करते हैं एवं बारह श्रावक-व्रतों को धारण करते हैं।

शादी के पश्चात्, बहुत काल व्यतीत हो जाने पर भी भृगु पुरोहित के कोई सन्तान नहीं हुई थी। घर में ऋद्धि-सम्पत्ति एवं आमोद-प्रमोद के साधनों की कोई कमी नहीं थी पर इनका भावी अधिकारी न होने के कारण पति-पत्नी दोनों चिन्तित थे। यदि पुत्र नहीं हुआ तो उनका वंश कैसे चलेगा? कई बार यह प्रश्न उन्हें परेशान कर जाता था।

मुनिद्वय की वन्दना, उपासना, सेवा करने के पश्चात् बारह व्रत धारण कर भृगु पुरोहित ने कहा—“मुनिश्रेष्ठ! हम दम्पति के भाग्य में सन्तान योग भी है या नहीं?” देव-मुनियों ने तब उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि निश्चय ही वे माता-पिता बनेंगे। उनके घर में दो पुत्रों के खेलने का योग है पर वे बाल्यकाल में ही दीक्षा धारण कर लेंगे और धर्म-शासन की महती प्रभावना करेंगे। ध्यान रखना—तुम उन्हें दीक्षा से रोकना मत।”



### □ पुरोहित-पुत्र द्वय का जन्म

अपना भावी भव अपने होने वाले माता-पिता के समक्ष प्रकट कर मुनि तो जिस राह से आए उधर ही चले गए और पुनः देवरूप में देवलोक आ गए। कालान्तर में पुरोहित-पत्नी यशा ने गर्भ धारण किया। गर्भ समय पूरा होने पर उसने दो सुन्दर पुत्रों को जन्म दिया। पुत्र देवनामी थे अतः अत्यन्त सुन्दर, सुहावने, मनभावन थे। माता-पिता के लिए वे अत्यन्त प्रियकर थे।

स्मरण हो आया दम्पति को मुनिद्वय की बातों का। उन्होंने कहा था कि दोनों बालक बाल्यावस्था में ही दीक्षा ले लेंगे। यदि ऐसा हो गया तो हमारा क्या होगा? मुनि-वचन कभी असत्य नहीं जाते फिर भी कुछ तो ऐसा प्रयत्न हम करें कि इनका दीक्षा-योग असंभव नहीं तो दुष्कर बन टल जाये।

### □ मोह और स्वार्थ ने वादा और कर्त्तव्य भुला दिया

अनेक विचार आए दिमाग में पर अभी वे यह निर्णय नहीं ले पाए कि क्या करें, जिससे हम दोनों के लिए अप्रियकर आने वाला प्रसंग न आ पाए। अंत में भृगु पुरोहित ने निर्णय लिया कि वे यह शहर छोड़ देंगे और किसी ऐसी जगह आवास बनाकर रहेंगे, जहाँ संत-मुनि आते-जाते न हों।

बंधुओं! एक तरफ पुत्रों के प्रति मोह और पुरोहित भृगु का स्वार्थ था, दूसरी ओर मुनिद्वय रूप देवों से किया वादा और कर्त्तव्य। मोह और स्वार्थ ने दिए हुए वादे को नकार दिया, कर्त्तव्य को ठुकरा दिया। उन दोनों ने वह शहर छोड़ दिया। अपने दोनों पुत्रों को साथ ले रहने के लिए जंगल और झाड़ियों से घिरे 'कर्पट' गाँव में सुविधायुक्त आवास का निर्माण किया और वहीं रहने लगे।

इसे कहते हैं, विभाव दशा, मोहांध दशा। शहर में विशाल हवेली, वैभव-सम्पन्नता थी पर वह सब वहीं रह गया। सर्व-सम्पन्न होते हुए भी पुरोहित-परिवार जंगल के दुःख और कष्टमय जीवन में रहने लगा।

### □ पुत्र-द्वय को विपरीत शिक्षा

माता-पिता ने सोचा कि श्रमणों का कथन कहीं सत्य न हो जाए और यहाँ भी कोई ऐसा प्रसंग उपस्थित न हो जाए कि हमारे ये दोनों अतिप्रिय बालक दीक्षा के पथ पर चल पड़ें।

उन्होंने अल्पवयस्क उन बालकों को समय-समय पर विपरीत संस्कार देने प्रारम्भ किए, गलत शिक्षाएँ देनी शुरू कीं। मोह था उन बाल-गोपालों से और मोह अंधा होता है, अंधकार होता है, अनर्थ करवाता है। हास्य, रति, अरति आदि वासनाजनित सारे कर्म मोह के कारण हैं।

इसी मोह के कारण भृगु पुरोहित ने अपने पुत्रों को सिखाया कि मुँह पर जिनके कपड़ा बँधा हो, ऐसे संत दुष्ट स्वभाव के होते हैं। वे बच्चों को पकड़कर जंगल में ले जाते हैं, उन्हें छुरे से मार देते हैं। आभूषण आदि हों तो उतार लेते हैं और बच्चों का माँस-भक्षण करते हैं अतः उनसे दूर ही रहना।

### □ जैन साधुओं के प्रति भयभाव

पिता की इन सीखों ने बच्चों के कोमल मनो में जैन साधुओं के प्रति एक विशेष प्रकार का भय का भाव, घृणा का चिन्तन पैदा कर दिया। अब बच्चे मुखवस्त्रिका वाले साधु के नाम से ही ऐसे डरते जैसे छोटे बच्चे 'हाऊ' से डरते हैं।

एक बार दोनों पुरोहित बालक खेलते-कूदते ग्राम से बहुत दूर जंगल में निकल गए। उधर अचानक दो संत मार्ग भूलकर इसी ग्राम की ओर आ निकले। प्रासुक आहार की गवेषणा में मुनि गाँव में अनेक घरों में फिरते हुए भृगु पुरोहित के घर भी गए।

### □ मुनि-पदार्पण

जैन मुनियों को अपने घर के द्वार पर देखकर पुरोहित दम्पति एक बार तो किसी अनादृष्ट आशंका से प्रकंपित हो गया। अपने भावों को अन्तर् में ही दबाए दोनों पति-पत्नी ने मुनिद्वय को वन्दन किया, भक्तिभावपूर्वक रसोईघर में ले जाकर आहारदान दिया। मुनि जब आहार लेकर वापस जाने लगे तो भृगु पुरोहित बोला—“मुनिवरों! हमारे दो बालक बड़े

उद्दण्ड हैं। वे अत्यधिक उत्पाती हैं। आपको देखेंगे तो आपके साथ भी कुछ न कुछ उत्पात किए बिना नहीं रहेंगे, अतः आप अतिशीघ्र इस ग्राम से आगे विहार कर जाएँ और गोचरी भी बहुत दूर जाकर करावें।

मुनियों ने भृगु पुरोहित की बात सुनी और वे दोनों मुनिवर आहार लेकर उसी वन की ओर गमन कर गए जिधर वे दोनों बच्चे वन में खेल रहे थे। इधर मुनिद्वय भी आहार लेकर उसी स्थान की ओर बढ़ने लगे। खेलते हुए बालकों की नजर अचानक इन मुनियों पर पड़ी। उन्होंने जब देखा कि मुनि उसी ओर आ रहे हैं तो वे दोनों ही घबरा गए कि अब क्या करें? तुरन्त ही पास में खड़े एक वृक्ष पर चढ़ गये और उसके पत्तों में अपने आप को छुपा लेते हैं।

#### □ पुरोहित-पुत्रों को जातिस्मरण ज्ञान एवं विरक्तिभाव

दोनों मुनिराज भी संयोगवश उसी पेड़ के नीचे पहुँचे। सघन वृक्ष देख वहीं पात्र रखे। संयम जेष्ठ सन्त ने कहा—“वत्स! देख लो, नीचे जमीं पर चींटियाँ, मकोड़े आदि न हों। पूरी यतना से जमीन को साफ कर लो, कोई प्राणी दब न जाए, किसी की घात न हो जाए। इस पर दूसरे मुनिवर ने रजोहरण से भूमि परिमार्जित की। झोली खोली, मंडल बिछाया, पात्र एक-एक कर रखे गए। मुँहपत्ति खोल आहार किया मुनिवरों ने। बालक ऊपर से देख रहे थे। सोचने लगे—‘कीड़ी, मकोड़ी की रक्षा का भी विचार करने वाले बच्चों के हत्यारे कैसे हो सकते हैं? फिर इनकी झोली में तो चाकू, छुरा आदि कुछ नहीं है।’ तभी उन्हें लगा कि ऐसे साधु तो हमने पहले भी कहीं देखे हैं। ऊहापोह करते-करते उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व-जन्म की स्मृति भी स्पष्ट हो गई। उनका भय तब सर्वथा मिट गया। मुनियों के आहार करने के पश्चात् वे दोनों पेड़ से यतनापूर्वक नीचे उतरे, साधुओं के निकट आए, श्रद्धा से उन्हें वन्दन किया। साधुओं ने भी उन्हें सरल भाषा से सुबोध ज्ञान दिया। दोनों बालकों को प्रतिबोध हुआ और वे विरक्त बन गए।

#### □ माता-पिता से दीक्षार्थ आज्ञा देने का निवेदन

दोनों पुरोहित-पुत्र तब संयमेच्छु बन दीक्षा की आज्ञा माँगने माता-पिता के पास पहुँचे और बोले—

असासयं ददुतु इमं विहारं, बहु अंतरायं न य दीहमाउं।  
तम्हा गिंहंसि न रइं लहामो, आमन्तयामो चरिस्सामु मोणं॥

पितृवर! यह शरीर, यह जन्म, यह मनुष्य-भव क्षणिक है, अशाश्वत है, नश्वर है, साथ ही अनेकानेक विघ्न-बाधाओं से परिपूर्ण है अतः हम अब इस घर, इस परिवार, इस संसार में किसी तरह का आनन्द अनुभव नहीं कर रहे हैं। हमारा मन इन सबसे विरक्त बन गया है अतः हम आपसे मुनिभाव में आचरण करने की अनुमति चाहते हैं।

#### □ प्रश्न और उत्तर

इस पर भृगु पुरोहित ने वेद-परम्परा बताते हुए कहा कि पहले वे वेदाध्ययन करें फिर गृहस्थाश्रम स्वीकार कर विवाहित बन विषय भोग-सेवन करके पुत्रोत्पत्ति करें क्योंकि पुत्ररहित की सद्गति संभव नहीं है। वे ब्राह्मणों को ब्रह्म-भोज देकर उनके ऋण से उच्छ्रृण हों, अपने पुत्रों का पालन-पोषण कर उनका विवाह करें, उनके भी जब पुत्र हो जाएँ तो अपने पुत्रों को घर का भार सौंपकर फिर संन्यास लें।

पुरोहित-पुत्रों ने जातिस्मरण ज्ञान के बल से कहा—“पितृवर! वेदों का अध्ययन आत्म-रक्षक नहीं होता। ब्राह्मणों को भोज देने पर भी वे यज्ञादि में पशु-वध का उपदेश देकर अंधकार की ओर घसीटते हैं। पुत्र-पौत्र न सद्गति देते हैं, न त्राणरूप होते हैं।”

तब पिता ने कहा—“हे पुत्रों! जीव (आत्मा) तो शरीर के साथ यहीं पैदा होता है और यहीं नष्ट हो जाता है। उसका बाद में कोई अस्तित्व नहीं रहता। अतः प्रचुर धन, इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों आदि का भोग करो। इहलोक के इन प्रत्यक्ष प्राप्त सुखों को भोगो। परलोक के अप्रत्यक्ष सुखों के लिए भिक्षु मत बनो।”

पिता के इन वचनों को सुन दोनों बालक पिता से कहते हैं कि “हम तो धर्म के पथ पर बढ़ना चाहते हैं, वहाँ धन एवं इन्द्रिय विषयों का कोई प्रयोजन नहीं है। आत्मा अमर है, वह अमूर्त है, वह इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य नहीं है। उसी आत्मा को मुक्त करना हमारा ध्येय है।”

“पितृवर! यह लोक मृत्यु से आहत, वृद्धावस्था से घिरा और समय-चक्र की गति से अचूक रूप से सतत गतिशील है और—

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई ।  
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥

जो-जो रात्रियाँ (दिन-रात) व्यतीत हो रही हैं, वे फिर कभी वापस लौटकर नहीं आएँगी। जाने वाला यह समय उन्हीं का सफल है जो धर्म करते हैं।”

पिता ने जब देखा कि दोनों पुत्र किसी प्रकार मान नहीं रहे हैं, इन्हें कुछ अवकाश देना चाहिए, कुछ ऐसा कहना चाहिए कि अभी ये विचार छोड़ दें। पिता कहते हैं—

एगओ संवसित्ताणं, दुहओ सम्मत्तसंजुया ।  
पच्छा जाया ! गमिस्सामो, भिक्खमाणा कुले कुले ॥

हे पुत्रों! पहले हम दोनों तुम्हारे माता-पिता और तुम दोनों हमारे पुत्र समकित धारण कर श्रावक के बारह व्रत पालते हुए गृहस्थधर्म का आचरण कर लें (भोगोपभोग भोग लें) फिर ढलती उम्र के साथ-साथ दीक्षित होकर घर-घर से भिक्षा ग्रहण करते हुए विचरेंगे।

#### □ कल और काल का क्या भरोसा ?

इस पर पुत्रों ने कहा कि “मृत्यु का तो एक क्षण का भी भरोसा नहीं, कभी भी आ सकती है। अतः धर्माचरण के कार्य को कल पर कैसे छोड़ा जा सकता है? यह तो वही कर सकता है जो मृत्यु से मैत्री रखता हो या जो मृत्यु आने पर भागकर उससे बच सकता हो। हम तो आज ही मोह-भाव दूर करके, श्रद्धा से सक्षम होकर मुनिधर्म को अंगीकार करेंगे।”

बंधुओं! आपका भी काल मित्र होगा तभी तो अनेक बार आप कह देते हैं—“बाब जी! अबार कांई जल्दी है। हाल तो उमर लारे घणी पड़ी है, पछे देख लेवां। करणो तो है ही बाब जी! पण अबार जवानी रा दिन, बुढ़ापो तो आवण दो। धर्मध्यान री बातां रो टेम बुढ़ापो हीज व्हे।”

छोटा टाबर केई बार ज्ञान-ध्यान-तप करणी चावे तो आप आडी डालो। छोटो टाबर केवे-एक महीना रा अमुक बात रा प्रत्याख्यान। आप केवो बाब जी! हाल छोटो टाबर है, समझे कोनी, छूट दे दिरावो। पछे कर लेई। बंधुओं! आ ‘पछे’ कुण देखी है?

जरा विचार करिए। काल का कोई भरोसा नहीं अतः काल पर अथवा कल पर कोई बात मत छोड़िए। कहते भी हैं—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।  
पल में परलय होयेगी, फेर करेगा कब॥

महाभारत में इसी प्रसंग को लेकर एक बहुत ही शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख मिलता है।

#### □ भूल का ज्ञान, धर्मराज ने दिया दान

धर्मराज युधिष्ठिर की राज्यसभा जुड़ी हुई थी। अनेक तरह के आवश्यक कार्यक्रमों को समापन कर धर्मराज ने सभा से उठने का विचार किया ही था कि तभी सभा में एक ब्राह्मण-पंडित याचक बनकर कुछ प्राप्ति की आशा में धर्मराज की प्रशस्ति-पंक्तियाँ गा, उन्हें आशीर्वचन कहने लगा। धर्मराज कुछ थकान-सी महसूस कर रहे थे, राजमहलों में जाकर विश्राम करना चाहते थे अतः बेमन से सुनते हुए कह उठे—“ब्रह्मदेव! अब कल आना।”

ब्राह्मण-पंडित के चेहरे पर निराशा, हताशा के भाव छ गये। महाबलशाली भीम से यह देखा नहीं गया। उन्होंने अन्तर्मन में कुछ चिन्तन किया फिर उस भरे दरबार में नाचने लगे, कूदने लगे, झूमने लगे। उन्हें ऐसा करते देख धर्मराज आश्चर्य में पड़ गए कि एकदम यह क्या हो गया, इस भ्राता को। सभी सभासद भी चकित थे। भीम किसकी परवाह करते? उन्होंने तो द्वारपाल के निकट रखा ढोल भी उठा लिया और डंके की चोट देकर ढोल भी बजाने लगे।

आखिर धर्मराज ने पूछा—“अरे भाई भीम! यह क्या तमाशा मचाया है? ऐसी कौन-सी खुशी का खजाना तुम्हें प्राप्त हो गया है?”

भीम ने सुना, वे रुके और बोले—“आज मैं अत्यन्त खुश हूँ महाराज! आज मेरे भ्राता महाराज युधिष्ठिर ने काल पर विजय प्राप्त की है। उन्होंने वह कर दिखाया है जो आज तक कोई नहीं कर सका। मौत उनकी मुट्ठी में। वे आज्ञा दें तभी मृत्यु उन पर नजर डालेगी।”

धर्मराज—“यह तुम क्या कह रहे हो भाई भीम? मृत्यु को भी कोई आज तक जीत सका है? कोई सपना देखा है क्या तुमने?”

भीम—“सपना क्यों महाराज ? सच्चाई बता रहा हूँ। अभी आपने ही तो कहा था उस याचना कर रहे ब्राह्मण-पंडित से कि कल आना। आप धर्मराज असत्य भाषण नहीं कर सकते। कल तक का, ब्राह्मण और आप, दोनों ही अमरत्व का पट्टा अवश्य ले आए हैं। मैं इसी खुशी में झूम रहा हूँ, नाच रहा हूँ। भला इससे बढ़कर मेरे लिए क्या कोई खुशी हो सकती है?”

धर्मराज को तुरंत अपनी भूल का ज्ञान हुआ। दास को पीछे दौड़ाकर उन्होंने राजसभा से हताश होकर चले जाने वाले ब्राह्मण-पंडित को बुलाया और उन्हें उचित दान-दक्षिणा दे, सम्मानपूर्वक विदा किया।

#### □ कल तो आता नहीं, आ जाता है काल

बंधुओं! वही भूल यहाँ भी की जा रही है। हम कहते हैं—“श्रावक जी! आज तो छुट्टी है, दयाव्रत कर लो।”

श्रावक जी हमें कहते हैं—“बाब जी! आज तो घर गृहस्थी रो एक काम में ऐड़ो अडंगो आय फसियो है। छुट्टी तो हर हफ्ते आवे अन्नदाता। अबके तो रेवण दो। अबके आप केवो तो कर लेऊं।”

जो सच्चा काम है उससे तो मुँह मोड़ा जा रहा है। आत्म-हित को ठोकर मारी जा रही है और जा रहे हैं संसार का कार्य कर पुनः संसार की वृद्धि करने। पूछते हैं अंतिम लक्ष्य क्या? उत्तर मिलता है—मोक्ष, आत्म-कल्याण। पर आत्म-कल्याण का कहते ही, दिखता उन्हें संसार ही है। बंधुओं! आत्मा का विकास ही सम्यक्-कार्य है। धर्म-कार्य को गौण मानना बुद्धिमत्ता नहीं है। छोड़ देते हैं धर्म के कार्य को कल पर। कल तो आता नहीं, काल आ जाता है। पुण्यायी साथ लाए थे, भोग ली, अब खाली हाथ जाना पड़ता है। दुर्गतियों में चक्कर लगाना पड़ता है। चिन्तामणि-रत्न (मानवभव) कौवे उड़ाने (सांसारिक भोग-विलास) में व्यर्थ चला जाता है।

#### □ भृगु पुरोहित भी विरक्त

अपने पुत्रों को इस तरह धर्म में दृढ़ संयम-पथ के लिए पूर्ण तत्पर देख भृगु पुरोहित भी प्रबुद्ध बन जाते हैं। वे अपनी पत्नी से कहते हैं कि मेरे ये दोनों पुत्र यदि संयम लेने के

लिए दृढ़ संकल्पित हैं तो इस घर में मेरा भी क्या काम? वृक्ष शाखाओं से ही शोभा पाता है। शाखाएँ कटने पर तो वह टूँठ बन जाता है अतः मैं भी इनके साथ दीक्षा लेने का विचार रखता हूँ।

### □ भृगु-पत्नी का पति व पुत्रों को दीक्षा से रोकने का प्रयत्न

इस पर पुरोहित-पत्नी पति को संसार में रोकने के अनेक प्रयत्न करती है। वह पुत्रों से भी कहती है कि संयम का मार्ग बड़ा कठिन है। संसार के सुख पहले भोग लो फिर संयम ले लेना। बात वैसी ही बनती है जैसा कि एक संवाद में आता है—

सुन जननी म्हारी, दीक्षा लेऊं मैं आज्ञा दीजिए।  
सुन कंवर लाडला, संयम रो मारग दोरो जाणले॥

अधिकांश माता-पिता आज भी यही करते हैं। अपनी सन्तानों को यदि वे विरक्त बन दीक्षा लेना चाहें तो दीक्षा से रोकने के अथक प्रयास करते हैं, अनेक प्रलोभन देते हैं। दुर्लभ ही होती हैं ऐसी माताएँ जो कहें कि तू संसार घटाने की विद्या का अध्ययन कर, तभी अन्य विद्याएँ सफल होंगी। ऐसी माताएँ धन्य-धन्य हैं। एक ऐसी ही माता हुई थी, मालव प्रदेश के दशपुर (मंदसौर) की रहने वाली आर्यरक्षित की माता।

### □ अध्ययन वह जो संसार घटाए (आर्यरक्षित की कथा)

अपने पुत्र आर्यरक्षित को उसने पढ़ने के लिए पाटलिपुत्र भेजा। आर्यरक्षित ने वहाँ बारह वर्ष रहकर वेद, वेदांग, श्रुति, पुराण आदि सभी हिन्दू-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। ज्यों-ज्यों उसका अध्ययन पूर्णता के समीप आता गया, त्यों-त्यों उसकी विशिष्ट ग्रहण एवं विवेचन शक्ति के कारण उसका यश चहुँदिसि में व्याप्त होने लगा।

अध्ययन समाप्त हुआ। आर्यरक्षित अब पारंगत पंडित बन गया। पंडित बनने के पश्चात् बारह वर्ष तक उसने उसी आश्रम में अध्यापन का कार्य किया। जब वह पाटलिपुत्र से अपने नगर आया तो नगर के राजा को, नागरिकों को सभी को अत्यन्त हर्ष हुआ कि इस नगर को एक ऐसा विद्वान्-पंडित प्राप्त हो रहा है, जो सभी शास्त्रों का धुरंधर ज्ञाता है। राजाज्ञा से नगरवासियों ने उसके प्रवेश पर स्वागतोत्सव का आयोजन किया। राजा, राज्य



का मंत्रिपरिषद, राज्य के सभासद, विशिष्ट नागरिक-जन, ब्राह्मण, पंडित, श्रेष्ठिजन आदि सभी इस उत्सव में सम्मिलित हुए। अपने स्वागत में जब आर्यरक्षित ने इतने विशाल जनसमूह को, स्वयं महाराजा एवं मंत्रियों को देखा तो मन में हर्ष की लहर दौड़ गई। तभी उसे याद आयी, अपनी जननी जन्मदात्री माता रुद्रसोमा की।

अब दो नयन उस जनसमूह में ढूँढ़ रहे थे एक महनीया माता को पर माता वहाँ कहाँ थी? वह तो अपनी पौषधशाला में सामायिक व्रत लेकर बैठी थी। पुत्र ने सोचा—‘माँ वृद्ध है, अतः नगर-बाहर तक नहीं आ सकी होंगी। बाजार के चौराहे पर मिल जाएँगी।’

उसे रथारूढ़ कर उसकी शोभा-यात्रा निकाली गई। नगर का चौराहा भी अब उसे नजर आने लगा था। उत्सुकता से उसके नयन अपनी स्नेहमयी माता को ढूँढ़ने लगे पर यह क्या? माता तो यहाँ भी नहीं दिखाई दी। वह कुछ चिन्तित हो गया। फिर सोचा—‘हो न हो वह गली के मोड़ पर ही खड़ी रह गई है।’

बंधुओं! गली का मोड़ भी आया, घर का मुख्य-द्वार भी आया पर मुख्य-द्वार पर भी उसे पुत्र-प्रतीक्षारत अपनी माता के दर्शन नहीं हुए तो मुख उदास हो गया, मन विचलित हो गया, नयन साश्रु हो उठे।

वह घर के भीतर आया पर माता दिखाई नहीं दी। उसने आवाज लगाई—“माँ! माँ! तुम कहाँ हो?” पर कोई प्रत्युत्तर नहीं। वह व्यथित, बेचैन हो माँ को तलाशने लगा। माँ उसे दिखाई दी निजी पौषधशाला में, सामायिक व्रत में। वह अचंभित था। वर्षों के बाद घर आया है। माँ को मेरे आने की अग्रिम सूचना थी पर फिर भी सामायिक लेकर बैठ गई।

बंधुओं! उस आर्यरक्षित की जगह, आज का कोई नौजवान विदेश से पढ़कर आया होता और उसकी माँ उससे ऐसा व्यवहार करती, इस हालात में मिलती तो सोचिए क्या होता?

प्रथम तो कोई ऐसी माता ही दुर्लभ मिलेगी आज जो इतनी निर्मोही बन सके। लौकिक व्यवहार के डर से ही वह ऐसा नहीं कर सकेगी। यदि कोई माँ मान लो ऐसी निकल आए

तो आज के ये एज्यूकेटेड पुत्र जाने क्या-क्या बक जाएँगे ? शायद जीवनभर के लिए उससे बोलना ही छोड़ दें, ऐसी निष्ठुर माँ से क्या बात करना ?

सामायिक पूर्ण हुई। आर्यरक्षित ने पूछा—“माँ! आज तो मैं घर आने वाला था। तुम्हें पहले से सूचना थी। सारा नगर मेरे स्वागत में आया था पर तुम सामायिक व्रत में बैठ गई। क्या तुम्हें मेरे आने की कोई खुशी नहीं हुई?”

माता ने कहा—“किस बात की खुशी?”

आर्यरक्षित ने कहा—“माँ! आज चौबीस वर्ष बाद घर आया हूँ। पाटलिपुत्र में सम्पूर्ण वेद-वेदांग आदि अध्ययन कर पूर्ण पंडित बना हूँ। तुम्हें तो खुशी होनी ही चाहिए कि तुम्हारे पुत्र ने कितना विशाल ज्ञानार्जन किया है?”

पुत्र की बातें सुनकर उस पूज्या माता ने जो बात कही, वही ध्यान देने लायक, जीवन में उतारने लायक है। उसने कहा—“पुत्र! तूने जिन विद्याओं का अध्ययन किया है, वे सारी विद्याएँ संसार को बढ़ाने वाली विद्याएँ हैं। मुझे तो तब खुशी होगी जब तू संसार घटाने की विद्या सीखेगा।”

आर्यरक्षित माता की आज्ञा शिरोधार्य कर माता के बताए अनुसार अपने मामा आचार्य तोषलिपुत्र के पास जाता है, संसार घटाने की विद्या सीख मुनि बनता है, उत्कृष्ट संयम का पालन कर आत्म-कल्याण करते हुए पूरे परिवार को दीक्षित करता है।

#### □ आज की शिक्षा संसार बढ़ाने वाली

आज ऐसी कितनी माताएँ मिलेंगी ? आज तो माताएँ सीधे यही कहेंगी—“संजम खांडा री धार है।” वे पुत्र भी अब कितने हैं जो माँ को कह सकें—

संजम मार्ग दोयलो, सरे झूठी केवो नाय।  
सोरो काम किस्यो दुनियां में, दो नी साफ बताय ॥  
के.....सुण जननी म्हारी दीक्षा.....

इस पर माता पुनः कह देती है—

परीषह बावीस जीतना सरे, खरा खरी को खेल।  
मन राजा पर काबू राख णो, काम नहीं है सेल जी,  
सुण कंवर लाडला संजम रो.....

अरे बंधुओं! साधु के परीषह हैं बावीस, गिने जा सकते हैं पर संसारियों के कितने परीषह हैं, कोई यह तो बताए? क्या आप नहीं जानते कि संसार में पद-पद पर परीषह, उपसर्ग, कष्ट, बाधाएँ, दुःख, पीड़ाएँ भरी पड़ी हैं। किन्तु अज्ञान-मोह विमूढ़ता के कारण संसार के दारुण दुःख भी आपके लिए सुखाभास बने हुए हैं। स्वयं छोड़ते नहीं अन्य को छोड़ने देते नहीं।

#### □ यशा द्वारा वृद्ध राजहंस से भृगु को उपमित करना

पुरोहित-पत्नी यशा अपने पति भृगु पुरोहित को कहती हैं कि “**मा हु तुमं सीयरियाण संभरे, जुण्णो व हंसो पडिसोत्तगामी।**” आप अपने इन लाड़लों की देखादेखी संयम ले तो रहे हैं पर कहीं ऐसा न हो कि संयम लेने के बाद आपको उस वृद्ध राजहंस की तरह पछताना पड़े जो नदी की विपरीत धारा में चला जाता है। वह धारा इतनी तेज होती है कि वृद्ध राजहंस धारा के विरुद्ध चल नहीं पाता, उसका साहस टूट जाता है। मन ही मन पछताता है कि मैंने विपरीत धारा क्यों पकड़ ली?

#### □ भृगु का कथन : साँप की काँचली उतर चुकी है

पत्नी की बात सुनी पुरोहित ने। पर अब तो उसके ऊपर भी किरमची वैराग्य का रंग चढ़ गया था। वह बोला—“देवी! राजहंस की बात तो तुमने सुनाई पर क्या तुमने यह नहीं सुना कि जब सर्प के ऊपर काँचली आ जाती है तो वह विकट से विकट पथों, झाड़ियों, वनों में चलता है, जिससे काँचली कहीं अटके और उतर जाए। उतरते ही वह दुनियाँ के समस्त पदार्थों, जीवों, पथों को देख सके। जब उतर जाती है उसकी काँचली तो वह इतनी तीव्र गति से वहाँ से भागता है कि कहीं काँचली पुनः आकर उसे पकड़ न ले। वह पीछे मुड़कर भी उस काँचली को नहीं देखता। वह अपने जीवन में कभी उस राह से नहीं गुजरता, जहाँ उसकी काँचली उतरी है। मैं भी तुम्हें, इस घर को, संसार को, सभी काम-भोगों को इसी तरह त्याग रहा हूँ। निश्चित रूप से कभी इनकी तरफ पीछे मुड़कर भी नहीं देखूँगा।”

### □ यशा भी विरक्त : चारों की दीक्षा के लिए तैयारी

पुरोहित-पत्नी ने देखा कि पुत्र तो गए ही गए हाथ से, ये भी जा रहे हैं मुझे त्यागकर। जब दोनों पुत्र संसार से विरक्त बन गए, पति स्वयं दीक्षा धारण करने का निर्णय लिए अविचल हैं तो अकेली मैं ही संसार में क्यों रहूँ? वैसे भी संसार तो क्षणिक है। तारने वाला तो धर्म ही है। अब यह उत्तम संयोग मिला है तो मैं क्यों इसे व्यर्थ जाने दूँ। मैं भी इन्हीं का अनुगमन करूँगी।

बंधुओं! भृगु पुरोहित, पुरोहित-पत्नी यशा, दोनों पुरोहित-कुमार संयम को अंगीकार करने, धर्म की शरण ग्रहण करने के लिये प्रस्थित हो गये।

### □ भृगु पुरोहित की विशाल सम्पत्ति राज्य-कोष में

भृगु पुरोहित ऋद्धि-सम्पन्न था। धन-सम्पत्ति की कोई कमी नहीं थी। उस युग में यह राजकीय नियम था कि जिस परिवार में कोई सदस्य शेष न हो, जिस कुल की सम्पत्ति का कोई भी उत्तराधिकारी नहीं बचा हो उस परिवार की समस्त सम्पत्ति राज्य की हो जाती है और राज्य-कोष में मँगवा ली जाती है।

### □ रानी कमलावती की जिज्ञासा और समाधान

राज्य नियमानुसार पुरोहित-परिवार की सम्पत्ति भी राज-कोष में जमा होनी थी। राज-सैनिक एवं कोषाधिकारी गए उसके घर, भरवाई धन से गाड़ियाँ और लेकर चले आए राजमहलों की ओर। रानी कमलावती उस समय महल के झरोखे में बैठी हुई शहर की शोभा निहार रही थी। कतारबंद गाड़ियों में भरकर राजमहल की ओर आती उस विपुल हीरे-पत्त्रे-माणक-मोती-स्वर्ण-रजत राशि को देखा उसने भी। सोचा—‘यह धन राजमहलों में कहाँ से लाया जा रहा है? इतना धन तो किसी अन्य राज्य पर विजय प्राप्त करने पर ही लाया जाता है पर इन दिनों तो कहीं कोई युद्ध भी तो नहीं लड़ा गया। फिर.....?’

जिज्ञासावश रानी कमलावती पता करती है तब सारा भेद मालूम पड़ता है। उस परिवार के सभी सदस्य दीक्षित बन आत्म-कल्याण के लिए निकल चुके हैं। रानी विचार

में पड़ जाती है—‘पुरोहित को प्रसन्न होकर राजा समय-समय पर पुरस्कार देते हैं। उनके घर तो वही सम्पत्ति हो सकती है। राजा ने दी और राजा ही उसे वापस ले रहा है, यह कैसा राजनियम?’ रानी का वह चिन्तन और उसके परिणाम को पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस ढाल में गूँथ दिया है—

सांभल हो राजा,  
 ब्राह्मण री छांडि रिध मत आदरो,  
 राजा का मोटा भाग।  
 वमिया आहार की हो वांछा कुण करे,  
 करे छे कूतरा ने काग ॥ सांभल हो राजा.....

भृगु पुरोहित रिध तज निसर्यो,  
 थें जाणो आसी राज रे काज।  
 दान दियो थे पेला हाथ सूं,  
 पाछो लेता नहीं आवे लाज ॥ सांभल हो राजा.....

जग सगला रो धन हो भेलो करी,  
 घाले थारां राज रे मांय।  
 तो पिण तृष्णा हो राजा पापिणी,  
 कदे तृप्ति नहीं थाय ॥ सांभल हो राजा.....

इक दिन मरणो हो राजा यदा-तदा,  
 छोड़ो नी काम-विशेष।  
 बीजो तो तारण जग में को नहीं,  
 तारे जिणजी रो धर्म एक ॥ सांभल हो राजा.....

रत्नजड़ित हो राजा जी पिंजरो,  
 सुओ तो जाणे छे फंद।  
 इसड़ी पड़ी हूं थरि राज में,  
 रति न पाऊं आणंद ॥ सांभल हो राजा.....

स्नेहरूपी ए तांता तोड़ने,  
 म्हें तो बंधन सूं होसूं दूर।  
 विरक्त थईं ने संजम लेवसूं,  
 थें भी पिण हो जाओ सूर ॥ सांभल हो राजा.....

बादाम का हलुवा खाया, पचा नहीं, कै हो गयी पर कोई भी व्यक्ति यह सोचकर कि महँगे भाव के उत्तम खाद्य-पदार्थ बादाम जैसी चीज व्यर्थ ही चली जाएगी, उस उच्छिष्ट को तो पुनः सेवन नहीं करता। शायद कोई अधम प्राणी करे पर नर, वह भी नरेन्द्र नरोत्तम, उत्तम नर! उसके लिए भला यह शोभनीय है क्या ?

□ हाथ से दान दिया था, वापस लेते लज्जा आनी चाहिए

राजा की अर्द्धांगिनी थी, सहधर्मिणी थी अतः सही दिशा से भटकने पर पुनः दिशा दिखाना उसका धर्म था। जाती हैं वे इक्षुकार नृप के पास और उन्हें समझाती हुई कहती हैं—

“हे राजन्! वमन किये धन का उपयोग प्रशंसनीय कार्य नहीं होता। पुरोहित-परिवार द्वारा त्यागे धन की कामना निंदनीय कर्म है। आपके ऐसे जघन्य कर्म देख मैं तो सोचती हूँ कि इस पूरे विश्व का साम्राज्य और सारे संसार का हिरण्य-सुवर्ण-क्षेत्र-वस्तु-द्विपद-चतुष्पद पशु-पक्षी एवं अन्य सारा वैभव भी आपको मिल जाए तो भी आपकी धन-प्राप्ति की लालसा समाप्त नहीं होगी।”

□ रानी कमलावती विरक्त

“हे राजन्! मृत्यु निश्चित है और उस समय न तो यह धन साथ चलेगा, न आपकी रक्षा ही कर पाएगा। उस समय यदि कोई रक्षा कर सकेगा तो धर्म कर सकेगा। मैंने तो आज यह अनुभव कर लिया है कि संसार असार है, जीवन क्षणिक है अतः मैं इन महलों में किसी प्रकार के आनंद का अनुभव नहीं करती। मैं स्नेह, आसक्ति और मोह के समस्त बंधनों को काटकर अब मुनिधर्म का आचरण करूँगी।”

उसने महाराज को भी जगाने की, प्रतिबोध देने की कोशिश करते हुए कहा—

मोहांध बणी थें मूरख थकां,  
 मुरझ रह्या भोग मझार।

पहला दुःख देखे पर चेतें नहीं,  
 राज त्यागी लो संजम-भार ॥ सांभल.....  
 हस्ती जिम बंधन तोड़ने,  
 आपणे वन सुख जाय ।  
 त्यूं कर्मबंध तोड़ संजम ग्रहां,  
 होस्यां हम सुखी मुगति मांय ॥ सांभल.....

□ राजा इक्षुकार भी प्रतिबुद्ध : छह दीक्षाएँ, छह ही साधक मोक्षगामी

रानी के बहुत प्रकार से समझाने और संसार से विरक्त बन उसके दीक्षा लेने के भाव सुन राजा इक्षुकार भी प्रतिबुद्ध बन जाते हैं। राजा, रानी, भृगु पुरोहित, यशाभार्या, दोनों ही पुरोहित-कुमार ये छह ही जीव दीक्षा अंगीकार करते हैं।

इन छह ही जीवों ने निर्दोष, शुद्ध, उत्कृष्ट संयम का पालन किया। कालान्तर में सम्पूर्ण कर्मों को क्षय कर छह ही जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बने। आचार्य श्री जयमल जी म. सा. ने कहा है—

इम सांभल इषुकार चेतियो,  
 छोडयो छे मोटो राज ।  
 कायर ने ए रिध तजणी दोहिली,  
 छाडि विषय, सारूं निज काज ॥ सांभल हो राणी.....  
 छऊं ही अनुक्रमे प्रतिबोध हुआ,  
 सांचा धर्म, तप-जप तंत ।  
 जन्म मरणभय थकी उरपिया,  
 दुःखां रो कियो छे अंत ॥ सांभल हो श्रोतां.....  
 मोह निवार्यो जिन शासन मझे,  
 पूर्व करमां ने खपाय ।  
 छऊं ही जणा थोड़ा काल में,  
 मुगत गया दुःख मुकाय ॥ सांभल हो श्रोतां.....

बंधुओं! पुरोहित के दो पुत्रों के कारण चार और प्राणी सँभल गए, विरक्त बन दीक्षित हुए, मुक्ति पायी पर आज तो दशा ही विपरीत बनी हुई है, हवा उल्टी बह रही है। पुत्र दीक्षार्थी बनना चाहें तो माता-पिता अवरोध पैदा करते हैं, माता-पिता संसार से विरक्त बनना चाहें तो पुत्र-पुत्री उन्हें ऐसा करने से रोकने में कसर नहीं रखते। वह युग था जब प्राणी सरलमना होते थे, जिन-वचन श्रवण करते थे जीव और उतार लेते हृदय में, बन जाते अनेक विरक्त; पर आज सुनते हैं तो नींद में, यदि जागते हुए सुन लिया तो पल्ला यहीं झटक जाते हैं।

बंधुओं! ये जिनराज की वाणी है, महावीर के वचन हैं। अतः हर किसी के बस का काम भी नहीं है। कहा भी है—

सांभल हो श्रोता.....

शूरां ने लागे हो वचनज ताजणा ।

कायर ने लागे नहीं कोय ॥ सांभल.....

महावीर के वचन शूरवीरों को ही लग सकते हैं और आप शूरवीर हैं नहीं। प्रयत्न करिए आत्म-बल को विकसित करने का, बनिए शूरवीर आप भी, तभी प्राप्त कर सकेंगे अनन्त-अव्याबाध सुख रूप मोक्षगति।

आनंद ही आनंद !





## द्रव्य-संयति से भाव-संयति

आत्म-बंधुओं!

देवाधिदेव तीर्थंकर भगवंतों की वाणी देवों द्वारा देवों तक पहुँचाई जाती है। देव सुनाते हैं, देव सुनते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या प्रभु वाणी देवों के द्वारा पहुँचती है और क्या वह देवों के पास पहुँचती है? वस्तुतः तो उस महनीय वाणी को संत आप श्रावकों तक पहुँचाते हैं। तो क्या हम देव हैं और आप भी देव हैं? आप तो देव हैं ही, और कुछ नहीं तो पतिदेव तो हैं ही और हम.....? हम धर्मदेव कहे जाते हैं। यह तो हुई व्यावहारिक बात। आइए अब आगम-मन्थन करें।

### □ प्रथम देव अरिहन्त

देव किसे कहते हैं? शब्दानुसार तो जो 'दे' वह देव होता है। यदि देने वाला देव कहलाता है तो क्या जितने भी देने वाले हैं, वे देव हैं? नहीं, ऐसी-वैसी वस्तु देने वाला देव नहीं होता अपितु जीवन-कल्याणी वस्तु जो देता है, वह होता है देव। देव श्रेष्ठता बोधक शब्द है, यह व्यक्ति की श्रेष्ठता का बोध करता है। आपके देव कौन? अरिहंत देव हैं। क्यों हैं वे देव? क्या दिया उन्होंने? उन्होंने सम्यग्ज्ञान दिया। वे मोक्ष का पथ दर्शाने वाले हैं, मोक्षमार्ग बताते हैं, अर्थात् मोक्षदाता हुए, अतः देव हैं।

### □ दूसरे देव सिद्ध

पाँच परमेष्ठि पद हैं नमस्कार मंत्र के, जिनमें दो हैं देव पद, तीन हैं गुरु पद। एक देव अरिहंत अब दूसरे देव कौन? सिद्ध, ये अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में आने का स्थान देते हैं। नियम से जितने जीव सिद्धगति में जब-जब जाते हैं, तब-तब उतने ही जीव अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में आते हैं तो सिद्ध बनने वाले जीवों ने

स्थान रिक्त किया तभी अव्यवहार-राशि के जीवों को व्यवहार-राशि में आने का स्थान मिला अतः सिद्ध भी स्थान देने वाले देव हुए।

### □ पाँच तरह के देव

भगवतीसूत्र के बारहवें शतक, नवमें उद्देशक में पाँच तरह के देवों का वर्णन आया है—

**पंचविहा देवा, भविय दव्वदेवा, णरदेवा, धम्मदेवा, देवाधिदेवा, भावदेवा।**

देवताओं के पाँच प्रकार हैं—भव्य-द्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव।

१. **भव्य-द्रव्यदेव**—मनुष्य एवं तिर्यञ्च गति के जीवों को 'भव्य-द्रव्यदेव' से सम्बोधित किया गया है। ये जीव उत्तम करणी कर देवलोक में देव बनेंगे।

२. **नरदेव**—जो मानव-समूह पर शासन करें, किसी क्षेत्र-विशेष के जो अधिपति हों, ऐसे राजा, महाराजा, नरेन्द्र, सम्राट् आदि ३२,००० मुकुटबंध राजा जिनकी सेवा में, वे चक्रवर्ती नरदेव होते हैं।

३. **धर्मदेव**—जो संसार-सागर से स्वयं तिरने का कार्य करते हैं और दूसरों को तिराने का कार्य भी करते हैं। जो जिनेन्द्र-प्रभु के उपदेशामृत को जन-जन तक पहुँचाते हैं। जो पाँच समिति, तीन गुप्ति के पालक, पंच महाव्रतधारी, छह काय के रक्षक, नव-वाङ् सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य व्रत पालने वाले हैं। जिनके भाव सच्चे, योग सच्चे और करण सच्चे हैं। ऐसे सत्तावीस गुणों सहित जो हैं वे निर्ग्रन्थ मुनिराज धर्मदेव कहलाते हैं।

४. **देवाधिदेव**—जो साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चार तीर्थ की स्थापना कर, वीतरागी बन चार घातिकर्म नष्ट कर केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक बन जाते हैं। जो अठारह दोषरहित और बारह गुण सहित हैं, ऐसे तीर्थकर अर्हत हमारे देवाधिदेव हैं।

५. **भावदेव**—वर्तमान समय में जो देवगति में देवता की पर्याय में जीव हैं, वे वैमानिक, ज्योतिष, वाणव्यंतर, भवनपति आदि सभी देव 'भावदेव' हैं।

### □ श्रावक भव्य-द्रव्यदेव

श्रावक भव्य-द्रव्यदेव है। चाहे वह आराधक हो या विराधक, उसकी गति देवगति है। यदि आराधक है तो पहले से बारहवें वैमानिक देवलोक तक गति करता है और विराधक है तो हल्की जाति का देव बनता है अर्थात् भवनपति, बाणव्यंतर, ज्योतिष आदि।

देव वे जो दें। देना आप भी जानते हैं। देना चाहें तो दे सकते हैं। अतः दीजिए आप अपनी सामर्थ्यानुसार। ज्ञानी है तो ज्ञानदान दीजिए। छह काया के रक्षक बन अभयदान दीजिए। पहले कुछ देकर देव बनिए फिर देव से देवाधिदेव बनने के प्रयत्नों में लग जाइए। हमारा ध्येय, लक्ष्य, उद्देश्य यही रहना चाहिए—पहले धर्मदेव, फिर देवाधिदेव।

### □ राजा संयति

चल रहा है वर्णन धर्मदेव बनकर देवाधिदेव और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन चुके पूज्य पुरुषों का। आपने राजा इक्षुकार, रानी कमलावती, भृगु पुरोहित पत्नी यशा एवं दोनों पुरोहित-पुत्रों का उज्ज्वल वृत्तांत सुना। अब आज—

वलि संयति राजा, हिरण-आहिडे जाय।

मुनिवर गर्दभाली, आण्यो मारग ठाय॥१७॥

चारित्र लेई ने, भेट्या गुरू ना पाय।

क्षत्री राज ऋषीश्वर, चर्चा करी चित लाय॥१८॥

उत्तराध्ययनसूत्र के १८वें अध्ययन में वर्णन आता है। राजा संयति शिकार हेतु जाता है, आचार्य गर्दभाली मिलते हैं, विनय-वन्दन करने पर आचार्य धर्मोपदेश देते हैं, सुनकर संयति राजा विरक्त हो दीक्षा अंगीकार कर मुनि बन जाते हैं। मुनि संयति गुरु-चरणों में बैठ निरतिचार संयम का पालन करते हुए ज्ञान-ध्यान सीखते हैं।

मुनि संयति जब गीतार्थ बन जाते हैं और एकल विहार-प्रतिमा धारक हो जाते हैं उस दृढ़ श्रमणाचार-पालक से तब एक क्षत्रिय राजर्षि, उनके ज्ञान-दर्शन-चारित्र की थाह लेने के लिए उनसे कुछ प्रश्न करते हैं। उनको योग्य जानकर स्वयं के स्वानुभवमूलक

कई तथ्य एकान्तवादियों के क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एवं अज्ञानवाद के विषय में बताते हैं।

### □ जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

व्यक्ति में कब परिवर्तन आ जाए और दृष्टि बदल जाए, कहा नहीं जा सकता। जब दृष्टि बदलती है किसी की, तो सर्वस्व बदल जाता है। कहावत भी है—‘जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि।’ अर्थात् व्यक्ति की जैसी दृष्टि होगी, व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करेगा। जिसकी दृष्टि सम्यक् है, अच्छी है वह सदैव गुणग्राही होगा और दृष्टि यदि दोषपूर्ण है तो उसे समस्त संसार कमियों से, दोषों से, अवगुणों से परिपूर्ण नजर आएगा। राजा संयति की नजर भी जब तक दोषी रही, वे अनेक दुर्गुणों के शिकार रहे, पर नजर बदली तो सारे सावद्य पापकार्य त्यागकर मुनि बन गए।

### □ आँख से अंधा पर नाम ‘नयनसुख’

काम्पिल्यपुर नगर का शासनाधीश था—राजा संयति। बंधुओं! इस संसार की यह रीति है कि सन्तान के नाम उत्तम से उत्तम चुनकर दिए जाते हैं, चाहे उनके गुण नाम से विपरीत ही क्यों न हों? यथा नाम तथा गुण तो इस दुनियाँ में ढूँढ़ने पर भी मिलें तो मिलें, लगता असंभव ही है। यहाँ नाम तो ‘नयनसुख’ है पर वह दृष्टिविहीन, सूरदास मिलेगा। भर जवानी में मरकर श्मशान पहुँचने वाले का नाम पूछें तो वह ‘अमरचंद’ निकलेगा। गुणों से मूर्ख, अनपढ़, गँवार पर नाम पूछ लीजिए, कहेगी—सुरसती (सरस्वती)! कलावती में और कोई कला मिले-न-मिले पर कलह करने की कला अवश्य मिल जाएगी। लक्ष्मी नाम की बहुरानी को सुबह, दोपहर, शाम-तीनों समय आप सड़कों पर गोबर, कागज बीनते पाएँगे।

### □ राजा संयति—महाअसंयति

राजा संयति भी नाम से ही संयति थे शेष उनके सारे कर्म असंयति के थे।

राजा-महाराजाओं के पास सत्ता होती है और सत्ता का मद अच्छे से अच्छे व्यक्तियों को भी मदांध बना देता है। सत्तालोलुप बनकर युद्ध करना, सत्ता का दुरुपयोग कर प्रजा पर अत्याचार करना, उनके अर्जित धन को नित नए राजनियम बनाकर लूटना एवं उसे

स्वयं के भोगोपभोग में काम लेना, जुआ खेलना, शिकार करना, शराब पीना, राज्य की बहू-बेटियों पर बुरी नजर रखना, दुराचरण सेवन करना आदि अनेक दुष्प्रवृत्तियों के शिकार होते हैं ये धराधीश। यही सब दुर्व्यसन राजा संयति में भी थे।

#### □ एक वचन सुन सतगुरु के रो

इतना सब होते हुए भी एक बात ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जब कभी इन्हें कोई संयोगवश सुयोग मिलता है, सत्संगति मिलती है, संत-दर्शन मिलते हैं तो कई बार एक ही उद्बोधन में इनमें परिवर्तन आ जाता है। एक क्षण लगता है फिर राजपाट, सत्ता, दुर्व्यसन, अनमोल सम्पदा आदि का त्याग करते।

नागौर के नरेश थे महाराज बखतसिंह जी। सत्ता थी, सम्पदा थी, कुसंगत थी अतः एक, दो नहीं सातों दुर्व्यसन थे उनमें। ऐसे महापापी कि कुसंग के कारण जिन्होंने युवावस्था में अपने ही पिता का गला तलवार के एक ही वार से काट डाला। इन्हीं नागौर-नरेश को जब पूज्य आचार्य श्री जयमल जी म. सा. का प्रवचन सुनने को मिला तो उनका सारा जीवन ही बदल गया। जितने दुर्व्यसनी थे, उतने ही निर्व्यसनी एवं सदाचारी बन गये।

आचार्यश्री नागौर पधारे हुए थे। प्रवचन नित्य की भाँति चल रहा था। नरेश का उधर आना हुआ तो देखा मुनिवर को, उनकी प्रवचन सभा को। पूछा तो मालूम हुआ—पहुँचे हुए प्रभावी जैन संत हैं, उपदेश फरमा रहे हैं। मन में विचार आया कि इनके उपदेशों को सुनना चाहिए। दिल्ली प्रवास में सुने हुए प्रवचन अभी तक कानों में ज्यों के त्यों गूँज रहे थे। चले गए प्रवचन सभा में। नरेश थे, उपस्थित श्रोताओं ने शांति से उनके लिए स्थान बना दिया। आचार्यश्री ने देखा इन्हें, पहचान लिया कि नरेश है तो उचित प्रसंग लाकर 'राजा' के विषय में अनेक नीतिगत बातें बताना प्रारम्भ किया। कौन होता है राजा? किसे कहना चाहिए नरेश? सच्चा राजा वह जो सद्मार्ग पर चले, प्रजापालक एवं प्रजारक्षक हो, प्राणिमात्र का भरण-पोषण कर उन्हें अभय प्रदान करे, अन्यायी-अत्याचारी निग्रह (नियंत्रण) एवं कलाविद् व विद्वानों का सन्मान करे.....! ऐसी अनेक बातें आचार्यश्री के मुखारविन्द से नागौर-नरेश ने सुनीं।

जहाँ राजा हो, वहाँ प्रजा भी स्वतः आ जाती है फिर वह तो धर्म-सभा थी। ज्ञान-चारित्रातिशय के कारण पहले से उपस्थिति पर्याप्त मात्रा में थी पर 'स्वयं नरेश धर्म-सभा में पधारे हैं' ज्यों-ज्यों लोगों को मालूम पड़ा, झुण्ड के झुण्ड लोग प्रवचन में चले आए। तभी भरी सभा में नृपति खड़े हो गए, आचार्यश्री के सन्मुख करबद्ध हो कहा—“संतश्रेष्ठ! आपने मुझे आज जीवन का सत्य-पथ दर्शाया है। मैं अभी तक अज्ञानी, मूढ़ बना न जाने क्या-क्या दुष्कर्म करता रहा। मैं संकल्प लेता हूँ आपके समक्ष कि जीवनभर किसी भी दुर्व्यसन का सेवन नहीं करूँगा। आज मेरे जीवन में जितने भी दुर्व्यसन हैं, आज के बाद उन सबका त्याग करता हूँ।”

#### □ सामर्थ्य जब रास्ता बदलती है

जिस व्यक्ति में पाप अधिक करने की सामर्थ्य होती है, समय आने पर धर्ममार्ग में भी वह उत्कृष्ट साधना करने में अपना सामर्थ्य प्रकट कर ही देता है। जिनमें सामर्थ्य नहीं, पौरुष नहीं वे कभी कुछ नहीं कर सकते क्योंकि न उनमें साहस होता है, न वीरता, न धीरता और न गम्भीरता। धर्मध्यान, व्रत-प्रत्याख्यान भी रणक्षेत्र ही है, कर्मों से, कषायों से लड़ना है, उन्हें नष्ट करना है पर असमर्थ और पौरुषहीन भला कैसे इस रणक्षेत्र में टिक सकते हैं।

जो महावीर की सन्तान हैं उनमें न वीरता की कमी न धीरता की। आप भी महावीर की सन्तान हैं। सामर्थ्य है आप में भी। सच्चा जैन वही है जो जीवन में व्यसन हो तो उसका त्याग कर दे। जो पापभीरु बने रहें। व्यसन और पाप के त्याग में साहस बनाएँ। इसमें लोक लज्जा की आवश्यकता नहीं है कि ये सब देख रहे हैं, अपनी कमजोरी सबके सम्मुख कैसे प्रकट करूँ? आते हुए परिणामों को रोकिए मत, तुरन्त त्याग कर लीजिए, प्रत्याख्यान गुरु-भगवंत के मुँह से ग्रहण कर लीजिए। ऐसा करना ही सच्ची शूरवीरता है। (लगभग २०० से अधिक नर-नारियों द्वारा विभिन्न व्यसन-त्याग का संकल्प प्रवचन-सभा में लिया गया।)

संयति राजा ने भी ऐसी ही शूरवीरता दिखाई थी। एक बार राजा संयति ने हिरणों के शिकार का कार्यक्रम बनाया। अनेक सैनिकों एवं विविध वाहनों के साथ वह

अश्वारूढ़ होकर केसर नाम के उद्यान में गया। उसी की सेना के अश्वारोही, गजारोही, रथारोही एवं पैदल सैनिकों ने चारों तरफ से घेरकर हिरण-समूह एवं अन्य जानवरों को इस उद्यान की ओर हाँक करके धकेल दिया था। राजा ने इन्हीं हिरणों को अपना शिकार बनाते हुए तीर पर तीर की वर्षा कर इन्हें अकाल में ही मृत्यु के मुख में भेज दिया।

इसी केसर उद्यान में एक लताकुञ्ज के नीचे एक तपोधन अणगार स्वाध्याय एवं ध्यान में थे। राजा ने एक हट्टे-कट्टे विचित्र दिखाई देने वाले हिरण का पीछा करते हुए उधर का ही रुख किया और उस हिरण सहित लतामण्डप के समीप आए हुए अनेक अन्य मृगों को भी तीरों से बींध दिया।

यहाँ राजा उस हृष्ट-पुष्ट तीरों से बींधकर भूमि पर गिरे उस हिरण को उत्सुकतावश, देखने के लिए अश्व से उतरा। हिरण की ओर बढ़ा राजा कि उसे मुनि दिखाई दिए। मुनि के चेहरे पर संयम एवं तप का अद्भुत तेज उसे स्पष्ट दिखाई दिया। वह उन्हें वहाँ देख भय से काँप उठा। उसने सोचा—‘रसासक्त होकर मैं कैसा हिंसक बन गया कि व्यर्थ में यहाँ के हिरणों को भी हत एवं आहत कर बैठा। बड़ा मंद-भाग्य हूँ मैं। अब यदि मुनि क्रोधित हो गए तो मेरा क्या होगा?’

तब संयति राजा ने अश्व को वहीं छोड़ा और मुनि के निकट आए। आकर मुनि के चरणों में सविनय वन्दन किया और कहा—“भगवन्! मुझे क्षमा करें। मैंने अनजान में बहुत बड़ा पाप किया है। मुझे ज्ञात नहीं था कि यहाँ मुनिवर हैं। यहाँ के इन निरपराध हिरणों को मारकर मैंने सच ही बहुत बड़ा दुष्कर्म कर डाला है। इनको हताहत कर मैंने आपके हृदय को भी गहरा आघात दिया है।

मुनि तो ध्यानमग्न थे अतः मौन ही रहे। मुनि से कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला तो राजा ने सोचा—‘मुनि तो बहुत ज्यादा नाराज दिखाई देते हैं, बोलते तक नहीं, कहीं कुपित होकर मुझे श्राप न दे दें। ये तो जितेन्द्रिय हैं, उग्र तपी हैं, चाहें तो मेरी नगरी भी भस्म कर दें। पूज्य श्री रायचंद जी म. सा. ने अपनी साधु वन्दना में लिखा है—

संजती आहिडे नीसर्यो।

मार्यो मृग ने बाणो ए॥

गर्दभालि गुरु देख ने।  
 मन में घणो शंकाणो ए॥  
 नित करूं साधु जी ने वन्दना.....  
 खमजो अपराध माहरो।  
 इण अवसर हूं चूको ए॥  
 कृपा करो हे महामुने !  
 थांरी वाणी रो भूखो ए॥  
 नित करूं साधु जी ने वन्दना.....

भयभीत होकर राजा संयति ने मुनि से फिर कहा—“हे मुनिश्वर! मैं राजा संयति हूँ। आप अपना क्रोध त्यागें, मौन खोलें, कुछ तो बोलें। मैं आपके मुखारविन्द से उच्चरित वाणी सुनने को तरस रहा हूँ।”

संजओ अहमस्सीति, भगवं ! वाहराहि मे।  
 कुब्धे तेएण अणगारे, डहेज्ज नर कोडिओ॥

—उत्तरा. १८/१०

इस पर मुनि ने ध्यान खोलकर कहा—“हे पृथ्वीपाल! मेरी ओर से तुझे अभय है पर जैसा अभय तू चाहता है, वैसा ही संसार के सभी प्राणी चाहते हैं। तू भी अभयदाता बन। कितने-कितने निर्दोष प्राणी आज तुझसे भयभीत बने हुए हैं, इन्हें तू अभयदान देकर अभय कर दे।”

अभओ पथित्वा ! तुब्भ, अभयदाया भवाहि य।  
 अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ?

—उत्तरा. १८/११

अय राजन्! संसार अनित्य है, जीवन क्षणिक है, राज, धन, रूप आदि सभी नाशवान हैं, पत्नियाँ-पुत्र-मित्र-बंधु सभी जीते-जी तक के साथी हैं, मरने पर यही लोग तुरंत घर से बाहर निकालने का प्रबंध करते हैं, व्यक्ति तो अकेला आया था और अकेला जाता है। साथ जाते हैं उसके अच्छे-बुरे कर्म।



राजन्! अभयदान श्रेष्ठ दान है। जीवन को सर्वोच्च स्थान पर ले जाना है अतः तू छह काया का प्रतिपाल बन, रक्षक बन। तूने इतने हिरण मारे, क्या इन सबका माँस तू अकेला खाएगा? सभी खाएँगे पर जो पाप हुआ है उसे केवल तुम भोगोगे? उसे कोई नहीं बाँटेगा। एक अंगुली की पीड़ा तक तो कोई दूसरा बाँट नहीं सकता, निकटस्थ अंगुली भी नहीं बाँट सकती तो फिर यह सब अधर्म क्यों?

मुनि ने संसार की असारता व क्षणिकता पर अत्यन्त प्रभावी उपदेश दिया। राजा संयति सुनकर संवेग और निर्वेद को प्राप्त हुए। समस्त राज्य, धन-वैभव, कुटुम्ब आदि का परित्याग कर वे उन गर्दभालि मुनि के पास प्रव्रजित हो गए।

अस्थिर राजा थारो आउखो,  
जीवां ने मत संतापो ए।  
थरि तो राजा साथे चालसी,  
पुण्य एक, बीजो पापो ए॥  
नित करूं साधु जी ने वन्दना.....  
इत्यादिक उपदेश दियो,  
खुली अभ्यंतर गांठों ए।  
संजती राजा संजम लियो,  
कोरे घड़े लाग्यो छांटो ए॥  
नित करूं साधु जी ने वन्दना.....

#### □ अन्तर् के कचरे को हटाइए

बंधुओं! यह जिनवाणी है। लोहे को पारस का स्पर्श स्वर्ण बना देता है, ठीक उसी भाँति जिनवाणी से यदि अन्तर् का स्पर्श हो जाए तो सारे पाप-भाव तिरोहित हो जाएँगे। आत्मा लोहे-सी कलुषता छोड़, स्वर्ण-सी चमकदार बन जाएगी। आप कहेंगे—महाराज! वर्षों हो गए जिनवाणी का श्रवण करते पर स्वर्ण नहीं हुए। दोष किसका? जिनवाणी का इसमें कोई दोष नहीं। दोष है सेठ विमलदत्त की तरह उनका जो सुनते तो हैं पर उसे ग्रहण करने की, स्पर्शन की विधि ज्ञात नहीं।

सेठ विमलदत्त कभी बड़े ऋद्धि-सम्पन्न थे। उनका लम्बा-चौड़ा विदेशों तक पसरा हुआ व्यापार था। पुण्यराशि जब समाप्त हुई, अशुभ कर्मों का उदय हुआ तो चारों ओर से हानि के समाचार मिलने लगे। 'विनाश काले विपरीत बुद्धि' सेठ ने हानि की पूर्ति हो सकेगी, इस विचार से सट्टा खेला पर बुरे दिन आ गए थे, तकदीर बदल गई थी, सेठ कंगाल हो गए।

सेठ ने अपना नगर छोड़ दिया। जिस नगर में वे सदैव वैभव-सम्पन्न, यशो-कीर्ति मंडित रहे, अब उसी नगर में दीन-हीन बनकर कैसे रहते? अनेक नगर-ग्राम घूमते सेठ की एक बार एक महात्मा से भेंट हुई। बड़े मन से सेठ ने महात्मा की सेवा-अर्चना की। किसी ने सेठ को बता दिया कि महात्मा के पास 'पारस' है, छोड़ना मत इनके चरण! प्रसन्न हो गए यदि महात्मा और दे दिया तुम्हें 'पारस' तो मालामाल हो जाओगे। चारों तरफ तुम्हारे स्वर्ण ही स्वर्ण बिखरा रहेगा।

सेठ को विश्वास हो गया कि महात्मा करामाती हैं, इनके पास 'पारस' हो सकता है। चिपके रहे वे महात्मा के साथ, करते रहे निरन्तर उनकी सेवा-शुश्रूषा। मन में लोभ था। लोभ सहित की गई सेवा भौतिक-साधन दे तो भले ही दे पर उसका कोई आध्यात्मिक फल नहीं होता। निर्जरा की दृष्टि से तो क्या, पुण्य की दृष्टि से भी उसमें विशिष्टता नहीं आ पाती।

बहुत दिन बीत गए। सेठ सेवा करता रहा। मुनि ने भी ध्यान दिया कि इतना अधिक समय हो गया है, यह व्यक्ति निरन्तर सेवारत है। पूछा उससे—“क्यों भाई! क्या बात है जो तुम निरन्तर यहीं सेवारत हो।”

सेठ ने तब कहा—“महाराज! बहुत दुःखी हूँ, संकट में हूँ। आप ही मेरा कल्याण कर सकते हैं।”

महात्मा जी बोले—“कैसा संकट? कुछ बताओ तो।”

सेठ बोला—“कभी मैं वैभव-सम्पन्न सेठ था। आज कंगाल हूँ। कहीं मुँह दिखाने लायक भी नहीं हूँ। अब आप कृपा करें तो इज्जत के साथ समाज में मुँह दिखा सकूँ।”

महात्मा ने कहा—“ठीक है, बोलो क्या चाहिए?”

सेठ ने देखा, अब अच्छा मौका है, कहा—“महात्मन्! मुझे तो कुछ दिन के लिए ‘पारस’ दे दीजिए। आप तो त्यागी पुरुष हैं पर मैं सामाजिक प्राणी हूँ। मैं वादा करता हूँ कि उसकी सहायता से जैसे ही ठीक स्थिति तक आया, मैं वह ‘पारस’ पुनः आपको लौटा दूँगा।”

महात्मा जी दयालु थे। सोचा—‘ठीक है, इसी के कुछ काम आ जाएगा यह! मेरे लिए तो यह पत्थर का पत्थर ही है।’ दे दिया वह ‘पारस’ उस सेवाभावी को। सेठ प्रसन्न। हृदय उछलने लगा उसका। धड़कन की गति बढ़ गई। हाथ में ‘पारस’ को लेकर सोचा—‘लोहा तो है नहीं जिससे सोना बनाऊँ। लोगों से माँगूँगा तो भेद खुलने का भय है। उसे याद आया कि उसके पुराने विशाल भवन के भोंयरे (Underground) में एक पुरानी अत्यन्त वजनी लोहे की टूटी-फूटी कोठी थी, अब भी हो सकती है।’

घर आता है। वहाँ वर्षों का भरा कचरा पर उसे तो कोठी की पड़ी थी। वह जाता है, नीचे तहखाने में। भोंयरे में जैसा उसने सोचा, लोहे की पुरानी कोठी अब भी पड़ी थी। देखकर फिर प्रसन्न हुआ। चट से ‘पारस’ उसमें डाल दिया और स्वयं बेचैनी से प्रतीक्षा करने लगा, उसके स्वर्ण में परिवर्तन की। क्षण, दो क्षण, दो मिनट, पाँच मिनट. ....समय बीतता गया। दो घंटे से भी अधिक समय हो गया पर कोठी वैसी ही रही। लोहे की थी, लोहे की ही रही, स्वर्ण की नहीं बनी।

सेठ की प्रसन्नता गायब। उदासी और गम से चेहरे पर मुर्दनी छ गई। अंतर् में क्रोध का ज्वालामुखी जैसे फटा जा रहा था। ‘यह तो साफ धोखा है। नहीं देना था तो मना कर देते पर नकली पत्थर को ‘पारस’ कहकर पकड़ा दिया, वाह रे! ढोंगी महात्मा! व्यर्थ मैंने इतनी सेवा की। क्या पता ‘पारस’ इनके पास है भी कि नहीं। होगा तो भी मुझ पर भला वे क्यों विश्वास करते? ऐसी ही हजारों-हजार बातें मन-मस्तिष्क में कौंध-कौंध जाती थीं।

निकाला कोठी से वह पत्थर। गुस्से से भरा आया महात्मा के पास। निकाले महात्मा को दुर्वचन। खूब खरी-खोटी सुनाई। भीतर का सारा उबाल बाहर निकाल दिया। आखिर महात्मा ने पूछा—“यह सब क्या अनापशानाप, अंटसंट बोले जा रहे हो भाई, यह तो बताओ कि हुआ क्या है?”

सेठ ने जो हुआ, बता दिया। महात्मा ने कहा—“तुमने कहीं न कहीं गलती जरूर की है। चलो मैं साथ चलता हूँ।”

गए महात्मा सेठ के साथ, सेठ के घर। तहखाने में देखा कोठी को। थी तो लोहे की। कोठी के अंदर झाँका पर अंदर अंधेरा था, कुछ भी नजर नहीं आया। लालटेन मँगवाई। अंधेरा समाप्त, अब प्रकाश का राज्य था वहाँ। देखा कोठी में तो वर्षों का कचरा नीचे तल में पड़ा था। कचरा इतना कि तल पर दो-तीन इंच की परत। जहाँ ‘पारस’ डाला, वहाँ कुछ खड्डा-सा बन गया था पर तब भी ‘पारस’ ने तल को, लोहे को स्पर्श नहीं किया था। जगह-जगह जंग भी लगी थी।

महात्मा ने कहा—“भाई! जब तक कचरा साफ नहीं होगा, जंग नहीं छूटेगी तब तक ‘पारस’ का तो शुद्ध लोहे से स्पर्श भी नहीं हो पाएगा। बिना इसे स्पर्श किए वह स्वर्ण कैसे बनेगा?”

कचरा निकाला गया, जंग साफ कर दी गई। अब पारस से उसे छुआ तो लोहे की वह कोठी स्वर्ण की कोठी बन गई।

यही बात जिनवाणी के साथ है। जिनवाणी ‘पारस’ है, आत्मा अपनी लोहा है पर बीच में जो कषायों का कचरा है, वह हटे नहीं तो लोहा कैसे स्वर्ण बने? अशुद्ध, पापमय, कर्ममलयुक्त आत्मा कैसे शुद्धात्मा, परमात्मा, मुक्तात्मा बने।

#### □ द्रव्य-संयति (राजा) बना, भाव-संयति (मुनि)

संयति राजा के अन्दर का कषायादि कचरा हट चुका था। मुनि के वचनों ने आत्मा को स्पर्श कर लिया। जिनवाणी रूप पारस का स्पर्श पाते ही संयति राजा की आत्मा स्वर्ण-सम शुद्ध, चमकदार बन गई। वे असंयति से संयति बन गए। पहले नाम से संयति थे, अब काम से संयति हो गए। द्रव्य-संयतिपन से भाव-संयतिपन पा लिया उन्होंने। वन्य जीवों के शिकारी, छह काय जीवों के रक्षक बन अन्दर के विकारों का शिकार करने लगे।

### □ हिसाब लगा लीजिए

बंधुओं! मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ था। गुरुदेव आपके समक्ष ही विराजमान हैं (श्री पार्श्वचंद्र मुनि जी म. सा.)। इन्हीं के दर्शन किये थे तब आपकी पारसदृष्टि से मेरी लोहदृष्टि मिली। आपके धर्मानुराग रूप आकर्षण ने मुझे आकृष्ट किया। एक बार आपश्री के धर्माकर्षण की ओर खिंचा तो खिंचता ही चला गया। पहले मन में कचरा था, साफ जब हुआ तो गुरुवाणी, जिन-वचनों का अंतर्मन तक स्पर्श पा गया। आज मैं आप सभी के समक्ष हूँ और जैसा भी, जो कुछ भी हूँ गुरु-कृपा से ही हूँ।

चल रहा है चातुर्मास, बरस रहा है जिनवाणी-अमृत। अवसर बहुत बढ़िया हाथ आया है आपके। चूकना नहीं है यह हाथ आया अवसर। यहाँ से तीन गए (आचार्य श्री जीत, आचार्य श्री लाल एवं मुनि श्री नूतन), दो आए (मैं स्वयं तथा सुमति मुनि जी)। हिसाब लगा लीजिए, एक अभी बाकी है और ब्याज बाकी है। चुकाना है आप ही लोगों को। उऋण होना है तो तैयारी कर लीजिए।

### □ क्षत्रिय राज-ऋषिश्वर से राजर्षि संयति की चर्चा

यही तैयारी की थी राजा संयति ने और वे बन गए मुनि संयति। वे निर्दोष, निरतिचार संयम-साधना करने लगे, उग्र तप करने लगे, गुरु-चरणों में बैठ ज्ञान-ध्यान बढ़ाने लगे। योग्यता प्राप्त होने पर गुरु-आज्ञा से एकलविहारी प्रतिमा धारण कर अकेले विचरने लगे। अब वे गीतार्थ थे। विहार करते हुए किसी नगर में एक क्षत्रिय अप्रतिबद्ध विहारी मुनि से उनकी भेंट हुयी। मुनि का आंतरिक परिचय भी हो और ज्ञान-ध्यान-संयम की जाँच भी इसी हेतु से क्षत्रिय राजर्षि ने मुनिराज संयति से प्रश्न किया—“आपका नाम क्या है, गोत्र क्या है?” उत्तर मिला—“मैं संजय हूँ और गौतम गोत्रीय हूँ।” क्षत्रिय राजर्षि ने फिर प्रश्न किया—“आप किस प्रयोजन से ‘माहन’ बने हैं?” यहाँ प्रश्न में ‘माहन’ शब्द से तात्पर्य मन, वचन और क्रिया से हिंसा की पूर्ण निवृत्ति है। मा (मत), हन (मारो) अर्थात् किसी भी जीव को मत मारो। छह काय की त्रिकरण, त्रियोग से हिंसा का त्याग कर उन्हें अभय देना। ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि ही होते हैं अतः ‘माहन’ का तात्पर्य ‘मुनि’ से है।

एकलविहारी गीतार्थ मुनि संयति कहते हैं—“मेरे आचार्य गर्दभालि का उपदेश श्रवण कर मैं प्राणातिपात आदि के सर्वथा त्यागरूप पंच महाव्रतों को धारण कर मुनिधर्म के मूल गुणों का आराधक बना हूँ।”

क्षत्रिय राज-ऋषीश्वर ने फिर प्रश्न किया—“आप एकाकी विचरण करते हैं, अतः आचार्यों की परिचर्या कैसे और कब करते हैं? एवं विनयशील क्यों कहलाते हैं?”

मुनिराज संयति ने इस पर प्रत्युत्तर दिया—“हे मुनि! ‘आणाए धम्मो’। मैं आचार्यश्री की जैसी भी मेरे लिए आज्ञा-आदेश-उपदेश हैं तदनुसार चलता हूँ, यही उनकी परिचर्या है। उन्हीं के कथनानुसार मैं समस्त मुनिचर्या करता हूँ अतः विनयशील कहलाता हूँ।”

तब क्षत्रिय राज-ऋषीश्वर स्वयं स्वानुभूत तथ्यों का मुनि को ज्ञान कराने की दृष्टि से कहते हैं कि हे महामुनि! आज भी अनेक एकान्तवादी-तत्त्वज्ञ (१) क्रिया, (२) अक्रिया, (३) विनय, और (४) अज्ञान, इन चार के द्वारा जन-जन में असत्य प्ररूपणा कर रहे हैं। भगवान महावीर ने ऐसे असत्प्ररूपक साधकों के लिए घोर नरक का विधान दिया है। इन एकान्तवादियों के अपने-अपने वाद में कहे गए तर्क मिथ्या हैं, भ्रान्त हैं, मायापूर्ण हैं अतः सभी एकान्तवादी मिथ्यामति हैं। मैं इनसे बचकर चलता हूँ। मेरे द्वारा जाने गए उन वादियों के तर्क इस प्रकार हैं—

**१. क्रियावादी**—इस मत की मान्यता है कि जीव को पाप और पुण्य रूप क्रिया लगती है। उस क्रिया के निमित्त से ही जीव इहलोक व परलोक को, पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। इसमें ज्ञान-दर्शन की उत्थापना की जाती है और एक मात्र क्रिया (चारित्र) की ही उपयोगिता स्वीकार की जाती है। ‘अज्ञानी किं काही’ दशवैकालिक की इस सूक्ति से ‘अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है?’—इस मत का कोई मतलब नहीं और न ‘ज्ञान के अभाव में क्रिया अंधी’ कहावत को क्रियावादी मान्यता ग्रहण करते हैं। क्रियावादियों के १८० भेद हैं।

२. **अक्रियावादी**—इस मत में समस्त पदार्थ, यहाँ तक कि आत्मा को भी अस्थिर माना गया है। यह मत कहता है कि अस्थिर आत्मा में क्रिया (पुण्य-पाप) संभव नहीं। इस मत में आत्मा को आकाश के समान सर्वव्यापक और निराकार मानकर उसके द्वारा क्रिया किए जाने से इन्कार किया गया है। इसके अनुसार आत्मा स्वभाव से ही निर्लेप है अतः वह परमात्मा है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष की प्ररूपणा करना ठगों का कार्य है, दुनियाँ को ठगने के लिए है।

अक्रियावाद में अक्रियावाद-नास्तिक मत भी एक मत है। इस मत में आकाश, अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल—केवल इन पाँच भूत तत्त्वों को ही माना गया है। इन्हीं से उत्पत्ति और मृत्यु होने पर ये पाँचों तत्त्व अपने-अपने तत्त्वों में मिल जाते हैं। इनसे भिन्न न कोई आत्मा है, न परमात्मा है। न पाप है, न पुण्य है। आत्मा-परमात्मा आदि कल्पनाएँ हैं, कुमतियों का भ्रम मात्र हैं अतः इन्हें मानना उचित नहीं। अक्रियावादी नास्तिक इन्हें त्याग कर निश्चिन्त बन, निर्भय हो मौज-शौक करने की बात कहते हैं। अक्रियावादियों के ८४ प्रकार हैं।

३. **विनयवादी**—इनकी मान्यता है कि केवल विनय से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। ये कहते हैं कि सुर, असुर, नृप, योगी, तपस्वी, हाथी, अश्व, मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, शृगाल, जलचर, तोता, कबूतर आदि को किया गया नमस्कार भी कर्म-क्लेशनाशक है। वस्तुतः ऐसा विनय न तो इहलोक में भला करता है, न परलोक में। लौकिक एवं लोकोत्तर दोनों ही जगत् में जो गुणों में उच्च हो वही विनय-योग्य पात्र माना गया है। निश्चय में विनय है—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धर्म का विनय और व्यवहार में है रत्नत्रय-पालक साधुओं का विनय। विनयवादियों के ३२ भेद हैं।

४. **अज्ञानवादी**—इनका मानना है कि अज्ञान ही श्रेयस्कर है। ज्ञान के कारण ही जगत् के विभिन्न सिद्धान्त, मत और पंथ हैं। कोई आत्मा को नित्य बताता है, कोई अनित्य.....ऐसी अनेक विसंगत बातें हैं ज्ञान में, अतः इन्हें जानने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी ज्ञान आवश्यक नहीं है। केवल कष्टरूप तपश्चरण से ही मोक्ष मिल सकता है। अज्ञानवादियों के ६७ भेद हैं।

विस्तार भेद से ऐसे ३६३ पाखंडी मत एकांतवादियों के बनते हैं।

#### □ अनेकान्तवाद अपनाइए

जैनधर्म एकान्तवादी नहीं। प्रभु महावीर ने तो विश्व को अनेकान्त की क्रांतिकारी नवीन दृष्टि दी है फिर एकान्तवादी क्यों बना जाए? 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' मोक्ष के लिए तो ज्ञान भी हो, विनय भी हो एवं क्रिया भी हो तभी मुक्ति मिलेगी।

बंधुओं! ज्ञान प्राप्त करें, श्रद्धा को बढ़ाएँ तब आचरण के पथ पर चलते चले जाएँ। मंजिल (मोक्ष) निश्चित है। आप भी एकान्तवाद का परित्याग कर अनेकान्तवाद को जीवन में अपनाएँगे तो आनंद की प्राप्ति होगी।

आनंद ही आनंद!





## चक्रवर्ती से मोक्षवर्ती

आत्म-बंधुओं !

जीवन जीने के दो ढंग हैं—एक वह जो संसार को बढ़ाता है और दूसरा वह जो संसार को घटाता है। पहला भोग का मार्ग है और दूसरा योग का। पहले पथ में आसक्ति, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, वासना आदि कर्म-पंक बढ़ाने वाले तत्त्वों का समावेश है तो दूसरे पथ में अनासक्ति, संयम, शान्ति, क्षमा, सरलता, निष्कामभाव, निर्मोहपन, संसार से वितृष्णा, वैराग्य आदि तत्त्वों को समाहित किया गया है। पहला पथ प्राणी को अधमगति की ओर ले जाता है और दूसरा पथ ऊर्ध्वगति की ओर। अधोगामी पथ का अनुसरण करता हुआ प्राणी अधमगति की चरम सीमा तक पहुँचकर सातवीं नरक में पहुँच जाता है जबकि ऊर्ध्वगामी प्राणी संयम के पथ पर चलता हुआ निष्काम-साधना कर निरन्तर ऊर्ध्वगति की ओर गमन करता है।

### □ भोग व योग की पराकाष्ठा

भोग की पराकाष्ठा का पथ चक्रवर्ती पद तक जाता है और योग का अन्तिम चरम लक्ष्य है मोक्ष-सिद्धि। चक्रवर्ती अनुत्तर भोगी होते हैं और तीर्थकर-मोक्षगामी जीव अनुत्तर योगी। आज हम चक्रवर्ती और मोक्षवर्ती का विवेचन करते हुए भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी के बारह चक्रवर्तियों में से उन दस चक्रवर्तियों के जीवन-प्रसंग की ओर अग्रसर होंगे जिन्होंने अनुत्तर भोग भोगने के पश्चात् अनुत्तर योग का पथ ग्रहण किया।

### □ कालचक्र के दो काल (दो आरे)

त्रिषष्टि अर्थात् त्रिरेसठ श्लाघ्य-पुरुषों में जहाँ चौबीस तीर्थकरों के नाम आते हैं, वहीं बारह चक्रवर्तियों के नाम भी आते हैं। प्रत्येक काल के प्रथम चक्रवर्ती एवं प्रथम तीर्थकर तीसरे आरे में और शेष तेवीस तीर्थकर तथा ग्यारह चक्रवर्ती चौथे आरे में होते हैं। इसे समझने के लिए कालचक्र को समझना आवश्यक है। प्रत्येक कालचक्र बीस कोटाकोटि

सागरोपम का होता है। एक कालचक्र में दो काल होते हैं—एक उत्सर्पिणी काल व दूसरा अवसर्पिणी काल। प्रत्येक काल में छह आरे होते हैं। उत्सर्पिणी काल में जीवों की शक्ति, अवगाहना, आयु आदि की समय-दर-समय बढ़ोतरी होती जाती है जबकि अवसर्पिणी काल में समय के साथ-साथ शक्ति, अवगाहना, आयु आदि का ह्रास होता है।

### □ चक्रवर्ती का जीवन

प्रथम तीर्थंकर के काल में, राजकुल में प्रथम चक्रवर्ती का भी जन्म होता है।

जैसे तीर्थंकरों की माताएँ चौदह स्वप्न देखती हैं, वैसे ही चक्रवर्ती की माताएँ भी चौदह स्वप्न देखती हैं। अन्तर इतना ही है कि तीर्थंकरों की माताएँ इन स्वप्नों को स्पष्ट देखती हैं जबकि चक्रवर्ती की माताओं को आने वाले चौदह स्वप्न कुछ मंद होते हैं।

उत्सर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती का देहमान सात धनुष होता है जो बढ़ते-बढ़ते बारहवें चक्रवर्ती तक पाँच सौ धनुष तक पहुँचता है, अवसर्पिणी काल में देहमान की यह स्थिति ठीक विपरीत होती है। वर्तमान अवसर्पिणी के बारह चक्रवर्ती सम्राटों का देहमान जानने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है। आयुष्य-प्रमाण के लिए भी यही बात है।

क्र. सं.	चक्रवर्ती नाम	देहमान	आयुष्य-प्रमाण
१.	भरत	५०० धनुष	८४ लाख पूर्व
२.	सगर	४५० धनुष	७२ लाख पूर्व
३.	मघवा	४२ धनुष	५ लाख पूर्व
४.	सनत्कुमार	४१ धनुष	३ लाख पूर्व
५.	शान्तिनाथ	४० धनुष	१ लाख पूर्व
६.	कुंथुनाथ	३५ धनुष	९५ हजार वर्ष
७.	अरहनाथ	३० धनुष	८४ हजार वर्ष
८.	सुभूम	२८ धनुष	६० हजार वर्ष
९.	महापद्म	२० धनुष	३० हजार वर्ष
१०.	हरिषेण	१५ धनुष	१० हजार वर्ष
११.	जयषेण	१२ धनुष	३ हजार वर्ष
१२.	ब्रह्मदत्त	७ धनुष	७ सौ वर्ष

चक्रवर्ती अत्यन्त बलशाली होते हैं पर तीर्थंकर से इनका बल कम होता है। प्रथम चक्रवर्ती (अवसर्पिणी) का बल चालीस लाख अष्टापद पक्षियों के समान होता है। प्रत्येक चक्रवर्ती युवा वय प्राप्त होने तक मांडलिक राजा होते हैं फिर १३ तेलों की तपस्या करके भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर एकछत्र शासन करते हैं।

#### □ चक्रवर्ती सम्राटों की ऋद्धि

**चौदह रत्न**—चक्रवर्ती सम्राटों की ऋद्धियों में चौदह रत्न विशेष महत्त्व रखते हैं—

(१) **चक्ररत्न**—यह सेना के आगे-आगे आकाश में 'गरणाट' शब्द करता हुआ चलता है और छह खण्ड साधने का रास्ता बताता है।

(२) **छत्ररत्न**—सेना के ऊपर १२ योजन लम्बे, ९ योजन चौड़े छत्र के रूप में परिणत हो जाता है और शीत, ताप तथा वायु आदि के उपसर्ग से रक्षा करता है।

(३) **दण्डरत्न**—विषम स्थान को सम करके सड़क जैसा रास्ता बना देता है और वैताढ्य पर्वत की दोनों गुफाओं के द्वार खुले करता है।

(४) **खड्गरत्न**—यह ५० अंगुल लम्बा, १६ अंगुल चौड़ा और आधा अंगुल मोटा होता है। अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला होता है। हजारों कोसों की दूरी पर स्थित शत्रु का सिर काट डालता है। (ये चारों रत्न चक्रवर्ती की आयुधशाला में उत्पन्न होते हैं।)

(५) **मणिरत्न**—चार अंगुल लम्बा और दो अंगुल चौड़ा होता है। इसे ऊँचे स्थान पर रख देने से दो योजन तक चन्द्रमा के समान प्रकाश करता है। अगर हाथी के मस्तक पर रख दिया जाय तो सवार को किसी प्रकार का भय नहीं होता।

(६) **कांगनीरत्न**—छहों ओर से चार-चार अंगुल लम्बा-चौड़ा, सुनार के ऐरन के समान, ६ तले, ८ कोने और १२ हांसे वाला तथा ८ सोनैयाभर वजन का होता है। इससे वैताढ्य पर्वत की गुफाओं में एक-एक योजन के अन्तर पर ५०० धनुष के गोलाकर ४९ मण्डल किये जाते हैं। उसका चन्द्रमा के समान प्रकाश जब तक चक्रवर्ती जीवित रहते हैं तब तक बना रहता है।

(७) **चर्मरत्न**—यह दो हाथ लम्बा होता है। यह १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी नौकारूप हो जाता है। चक्रवर्ती की सेना इस पर सवार होकर गंगा और सिन्धु

जैसी महानदियों को पार करती है। (यह तीनों रत्न चक्रवर्ती के लक्ष्मी भण्डार में उत्पन्न होते हैं।)

(८) **सेनापतिरत्न**—बीच के दोनों खण्डों को चक्रवर्ती स्वयं जीतता है और चारों कोनों के चारों खण्डों को चक्रवर्ती का सेनापति जीतता है। यह वैताढ्य पर्वत की गुफाओं के द्वार दण्ड का प्रहार करके खोलता है और म्लेच्छों को पराजित करता है।

(९) **गाथापतिरत्न**—चर्मरत्न को पृथ्वी के आकार का बनाकर, उन पर २४ प्रकार का धान्य और सब प्रकार के मेवा-मसाले, शाक-भाजी आदि दिन के पहले पहर में लगाते हैं, दूसरे पहर में सब पक जाते हैं और तीसरे पहर में उन्हें तैयार करके चक्रवर्ती आदि को खिला देता है।

(१०) **वर्धकिरत्न**—मुहूर्त भर में १२ योजन लम्बा, ९ योजन चौड़ा और ४२ खण्ड का महल, पौषधशाला, रथशाला, घुड़साल, पाकशाला, बाजार आदि सब सामग्री से युक्त नगर बना देता है। रास्ते में चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार के साथ उसमें निवास करते हैं।

(११) **पुरोहितरत्न**—शुभ मुहूर्त बतलाता है। लक्षण, हस्तरेखा आदि (सामुद्रिक), व्यंजन (तिल, मसा आदि) स्वप्न अंग का फड़कना—इत्यादि सब का शुभ-अशुभ फल बतलाता है। शान्तिपाठ करता है। जाप करता है।

(१२) **स्त्रीरत्न (श्रीदेवी)**—वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के स्वामी विद्याधर की पुत्री होती है। अत्यन्त सुरुपवती और सदैव कुमारिका के समान युवती रहती है। इसका देहमान चक्रवर्ती के देहमान से चार अंगुल कम होता है। यह पुत्र प्रसव नहीं करती।

(१३) **अश्वरत्न (कमलापति घोड़ा)**—पूँछ से मुख तक १०८ अंगुल लम्बा, खुर से कान तक ८० अंगुल ऊँचा, क्षणभर में अभीष्ट स्थान पर पहुँचा देने वाला और विजयप्रद होता है।

(१४) **गजरत्न**—यह चक्रवर्ती से दुगुना ऊँचा होता है। महासौभाग्यशील, कार्यदक्ष और अत्यन्त सुन्दर होता है। (यह अश्व और हाथी वैताढ्य पर्वत के मूल में उत्पन्न होते हैं।)

ये चौदह रत्न चक्रवर्ती की ऋद्धि के सर्वश्रेष्ठ पदार्थ हैं, उस काल में उस क्षेत्र में इनकी तुलना के ये पदार्थ अन्य किसी के पास नहीं होते।

इन चौदह रत्नों में प्रथम सात तो एकेन्द्रिय हैं जबकि शेष सात पंचेन्द्रिय।

नव-निधि—इन रत्नों के अतिरिक्त चक्रवर्ती की ऋद्धि में नव-निधियाँ भी होती हैं—

(१) 'नैसर्पनिधि'—इससे ग्राम आदि बसाने की तथा सेना का पड़ाव डालने की सामग्री व निधि प्राप्त होती है।

(२) 'पंडुकनिधि'—इससे तोलने के और नापने के उपकरणों की प्राप्ति होती है।

(३) 'पिंगलनिधि'—इससे मनुष्यों और पशुओं के सब प्रकार के आभूषण प्राप्त होते हैं।

(४) 'सर्वरत्ननिधि'—इससे चक्रवर्ती को १४ रत्न और सब प्रकार के रत्नों तथा जवाहरात की प्राप्ति होती है।

(५) 'महापद्मनिधि'—इससे वस्त्रों की तथा वस्त्रों को रंगने की सामग्री प्राप्त होती है।

(६) 'कालनिधि'—इससे अष्टांग निमित्त-सम्बन्धी, इतिहास-सम्बन्धी तथा कुम्भकार आदि के शिल्प-सम्बन्धी शास्त्रों की प्राप्ति होती है।

(७) 'महाकालनिधि'—इससे स्वर्ण आदि धातुओं की, बर्तनों की और नकद धन की प्राप्ति होती है।

(८) 'माणवकनिधि'—इससे सब प्रकार के अस्त्रों और शस्त्रों की प्राप्ति होती है।

(९) 'शंखनिधि'—इससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधन बतलाने वाले शास्त्र की तथा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, संकीर्ण गद्य-पद्यमय शास्त्रों की और सब प्रकार के वादित्रों की प्राप्ति होती है।

यह नौ ही महानिधियाँ सन्दूक के समान १२ योजन लम्बे, ९ योजन चौड़े, ८ योजन ऊँचे चक्र से युक्त, जहाँ समुद्र और गंगा का समागम हुआ है वहाँ रहती हैं। जब चक्रवर्ती अष्ट भक्त (तेला) तप करके इनकी आराधना करते हैं, तब वे चक्रवर्ती के पैर के नीचे आकर रहती हैं। इनमें से द्रव्यमय वस्तु तो साक्षात् निकलती है और कर्मरूप वस्तु को बतलाने वाली निधियों की पुस्तकें निकलती हैं; जिन्हें पढ़कर इष्ट अर्थ की सिद्धि की जा सकती है। चक्रवर्ती की आयु पूर्ण होने के पश्चात् अथवा दीक्षा लेने के बाद यह सब साधन अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं।

### □ अन्य ऋद्धियाँ

चौदह रत्नों में से प्रत्येक रत्न के एक-एक हजार अधिष्ठायक देव होते हैं। चक्रवर्ती सम्राट् के दो हजार आत्मरक्षक देव होते हैं—ऐसे कुल सोलह हजार देव चक्रवर्ती सम्राट् की सेवा में प्रतिपल तत्पर रहते हैं। छह खण्डों के बत्तीस हजार देशों पर इनका राज्य होता है जो लगभग २१ लाख कोस तक फैला हुआ होता है। बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उनकी सेवा करते हैं। चौंसठ हजार रानियाँ होती हैं। ८४ लाख हाथी, ८४ लाख ही घोड़े, ८४ लाख ही रथ और छियानवे लाख पैदल सैनिक होते हैं। इनके साम्राज्य में बत्तीस हजार नृत्यकार इनके अधीन होते हैं। कुछ अन्य विवरण जो शास्त्रों में वर्णित हैं उसे भी आप सभी सुन लीजिये—

१६,००० राजधानियाँ, १६,००० द्वीप, निन्यानवे हजार द्रोणमुख, नव करोड़ साठ लाख ग्राम, ४९,००० हजार उद्यान, १४,००० महामंत्री, १६,००० सेवक म्लेच्छ राजा, १६,००० रत्नागार, २०,००० सुवर्ण-चाँदी के आकार, ४८,००० वाहन, तीन करोड़ गोकुल (दस हजार गायों का एक गोकुल), निन्यानवे लाख अंगरक्षक, तीन करोड़ आयुधशालाएँ, २६ लाख अंगमर्दक, निन्यानवे करोड़ दास-दासी, तीन करोड़ वैद्य, बयालीस मंजिल वाले चौंसठ हजार महल होते हैं। उनके भोजनागार में चार करोड़ मन अनाज प्रतिदिन पकता है, एक लाख मन नमक का प्रतिदिन प्रयोग होता है और एक दिन में ७२ मन हींग का बघार लगता है।

### □ संयम से मुक्ति : अन्यथा नरक

इतनी महान् ऋद्धि के स्वामी होकर भी जो चक्रवर्ती सम्राट् अपनी इस ऋद्धि, भोग, ऐश्वर्य का त्याग करके संयम धारण करते हैं, वे या तो देवलोक में जाते हैं या फिर जन्म-मरण से सदा-सदा के लिए छुटकारा पाकर मोक्ष में जा विराजमान होते हैं।

अगर राज्य भोगते-भोगते कोई चक्रवर्ती सम्राट् मृत्यु को प्राप्त होता है तो निश्चित ही नरक में जाता है।

### □ मोक्षवर्ती सिद्ध-अरिहंत

चक्रवर्ती सम्राटों की शक्ति, अवगाहना, ऋद्धि आदि के बाद अब मोक्षवर्ती सिद्धों के विषय में कुछ जानकारी सुनिये। प्रत्येक सांसारिक व्यक्ति का चरम लक्ष्य है—मोक्ष,

सिद्धगति। जो सिद्धगति प्राप्त कर चुके हैं—वे ही हैं मोक्षवर्ती, सिद्ध, बुद्ध या मुक्त। सिद्ध भगवान दो प्रकार के बताये गये हैं—(१) भाषकसिद्ध अर्थात् बोलने वाले सिद्ध, और (२) अभाषकसिद्ध।

#### □ अरिहंत को सिद्ध की भाँति ही माना गया है

अरिहंत भगवान भाषकसिद्ध हैं, वे धर्मोपदेश देते हैं और निकट भविष्य में ही मुक्त होने वाले होते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के नौवें अध्ययन में नमि राजर्षि को संसार-अवस्था में 'भगवान' शब्द से सम्बोधित किया है—“जाइं सरित्तु भयवं।” अर्थात् उन भगवान ने जन्म का स्मरण किया। उत्तराध्ययन के ही सत्रहवें अध्ययन में मृगापुत्र को “जुवराया दमीसरे।” अर्थात् युवराज पद भोगते हुए भी दमीश्वर, ऋषीश्वर कहा है। ये कथन भावी भाव को वर्तमान रूप में कथन करने वाले द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा से हैं। बस इसी भाँति अरिहंत भगवान भविष्य में सिद्ध होने वाले हैं अतः द्रव्य-निक्षेप से इनको भी सिद्ध कह दिया जाता है।

सर्व कार्य को सिद्ध कर, सर्व कर्म-कलंक से रहित निजात्मरूप 'सत्-चित्-आनन्द' पद को जिन्होंने प्राप्त कर लिया वे अभाषक सिद्ध कहे गये हैं।

#### □ अरिहंत : जन्म-विवरण

अरिहंत-पद को प्राप्त करने वाले प्राणी मनुष्यलोक के पन्द्रह कर्मभूमि क्षेत्र में, उत्तम कुल में, अपनी माता द्वारा १४ उत्तम स्वप्न देखे जाने पर उत्पन्न होते हैं। सवा नौ मास की गर्भावधि पूर्ण कर वे चन्द्रबल आदि उत्तम योग होने पर, शुभ मुहूर्त में मति-श्रुति-अवधि इन तीनों ज्ञान सहित जन्म लेते हैं।

इन्द्रों के जीत-व्यवहार अर्थात् परम्परागत व्यवहार के अनुसार तीर्थकर-अर्हत के जन्म पर देवलोक की छप्पन दिशा कुमारियाँ, चौंसठ इन्द्र आदि उनका जन्म-महोत्सव मनाते हैं। मेरु पर्वत पर इन्द्रादि इन्हें ले जाकर उमंग-उत्साहपूर्वक समारोह करते हैं। तीर्थकर के पिता जन्म-महोत्सव कर नाम रखते हैं। युवावस्था प्राप्त हो जाने पर यदि भोगावली कर्म का उदय होता है तो तीर्थकर उत्तम स्त्री का पाणिग्रहण करके रूक्ष-अनासक्तवृत्ति से भोग भोगते हैं।

### □ वर्षीदान और दीक्षा

तीर्थ प्रवर्तन का समय होने पर नौ लोकान्तिक देव तीर्थकरों की सेवा में उपस्थित होकर निष्क्रमण की प्रार्थना करते हैं। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व तीर्थकर-अर्हत बारह मास तक प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्ण-मुहरों का वर्षीदान देते हैं। वर्षभर में यह दान कुल तीन अरब अट्ठासी करोड़ स्वर्ण-मुहरों तक पहुँचता है।

अब तीर्थकर तीन करण—तीन योग से समस्त आरंभ-परिग्रह का त्याग कर दीक्षा धारण करते हैं। दीक्षा लेते ही तीर्थकर भगवन्त को चौथा मनःपर्यवज्ञान प्राप्त हो जाता है।

### □ संयम और तप द्वारा मुक्ति

संयम-पर्याय में रहकर वे अहिंसा-संयम धर्म का पालन करते हुए तपस्या करते हैं। इस छद्मस्थ अवस्था में उन्हें देव, दानव, मानव, तिर्यच सम्बन्धी अनेक उपसर्ग होते हैं, जिन्हें वे समभाव से सहन करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी तीर्थकरों को उपसर्ग आवें ही, किन्हीं-किन्हीं तीर्थकर-भगवन्त को उपसर्ग नहीं भी आते।

अपने तपश्चरण द्वारा तीर्थकर भगवन्त सर्वप्रथम दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करते हैं जिससे उन्हें आत्मगुणरूप यथाख्यातचारित्र की प्राप्ति होती है।

### □ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी

मोहनीय कर्म के क्षय होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्मों का एक साथ क्षय निश्चित है। इनके क्षय से अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन तथा अनन्त दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि व वीर्यलब्धि की प्राप्ति होती है। वे केवलज्ञान द्वारा समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव को जानने लगते हैं तब उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है। केवलदर्शन द्वारा वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव इन पाँचों को देखने लगते हैं। अतः सर्वदर्शी हो जाते हैं। पंचलब्धि-प्राप्ति के कारण सर्वशक्तिमान हो जाते हैं।

मोहनीय आदि ऊपर मैंने जिनका अभी वर्णन सुनाया है उन चार घनघाति कर्मों के क्षय हो जाने पर शेष चार अघातिया कर्म-वेदनीय, आयुष्य, नाम व गोत्र शक्तिरहित बन जाते हैं। जैसे भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार ये शेष अघातिया कर्म अरिहन्त-तीर्थकर भगवन्त की आत्मा में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।



आयु पूर्ण हो जाने पर आयुष्य कर्म के साथ ही समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं और वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बन जाते हैं।

अरिहंत भगवान बारह गुण, चौंतीस अतिशय तथा पैंतीस वाणी-गुणों से युक्त होते हैं। वे अठारह दोषों से रहित होते हैं। कौन-कौन-से हैं उनके गुण? क्या-क्या हैं उनके अतिशय और वाणी के गुण?

#### □ अरिहंत प्रभु के बारह गुण

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र, (४) अनन्त तप, (५) अनन्त बल-वीर्य, (६) अनन्त क्षायिक-सम्यक्त्व, (७) वज्रऋषभनाराच संहनन, (८) समचतुरस्र-संस्थान, (९) चौंतीस अतिशय, (१०) पैंतीस वाणी के गुण, (११) एक हजार आठ लक्षण, (१२) चौंसठ इन्द्रों के पूज्य।

भेदान्तर से प्रतिक्रमण में अरिहंत प्रभु के बारह गुण इस प्रकार कहे गये हैं—

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र, (४) अनन्त बलवीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) कुसुम वृष्टि, (७) दिव्य ध्वनि, (८) चंवर, (९) स्फटिक सिंहासन, (१०) भामण्डल, (११) देव-दुन्दुभि, (१२) तीन छत्र।

#### □ अरिहंत प्रभु के अतिशय

सर्व साधारण में जो विशेषता नहीं पाई जाती, उसे अतिशय कहते हैं। अरिहंत में ऐसी चौंतीस मुख्य विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ या अतिशय कुछ जन्म से ही होती हैं, कुछ केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) मस्तक आदि समस्त शरीर के बालों का मर्यादा से अधिक (बुरे लगें ऐसे) न बढ़ना।

(२) शरीर में रज, मैल आदि अशुभ लेप न लगना।

(३) रक्त और माँस गौ दूध से भी अधिक उज्ज्वल-धवल और मधुर होना।

(४) श्वासोच्छ्वास में पद्म-कमल से भी अधिक सुगन्ध होना।

(५) आहार और निहार चर्मचक्षु वालों द्वारा दिखाई न देना (अवधिज्ञानी देख सकता है)।

(६) जब भगवान चलते हैं तो आकाश में गरणाट शब्द करता हुआ धर्मचक्र चलता है और जब भगवान ठहरते हैं तब वह भी ठहरता है।

(७) भगवान के सिर पर लम्बी-लम्बी मोतियों की झालर वाले, एक के ऊपर दूसरा और दूसरे के ऊपर तीसरा छत्र, इस प्रकार तीन छत्र आकाश में दिखाई देते हैं।

(८) गौ के दूध और कमल के तन्तुओं से भी अधिक अत्यन्त उज्ज्वल बाल वाले तथा रत्नजड़ित डण्डी वाले चमर, भगवान के दोनों तरफ ढोरे जाते हुए दिखाई देते हैं।

(९) स्फटिक मणि के समान निर्मल देदीप्यमान, सिंह के स्कंध के आकार वाले रत्नों से जड़े हुए, अन्धकार को नष्ट करने वाले, पादपीठिकायुक्त सिंहासन पर भगवान विराजे हुए हैं, ऐसा दिखाई देता है।

(१०) बहुत ऊँची रत्नजड़ित स्तम्भ वाली और अनेक छोटी-छोटी ध्वजाओं वेष्टित इन्द्रध्वजा भगवान के आगे दिखाई देती है।

(११) अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं से युक्त पत्र, पुष्प, फल एवं सुगन्ध वाला भगवान से बारह गुना ऊँचा अशोक वृक्ष भगवान पर छाया करता हुआ दिखाई देता है।

(१२) शरद ऋतु के जाज्वल्यमान सूर्य से भी बारह गुने अधिक तेज वाला, अन्धकार का नाशक प्रभामण्डल अरिहंत के पृष्ठ भाग में दिखाई देता है।

(१३) तीर्थंकर भगवान जहाँ-जहाँ विहार करते हैं वहाँ की जमीन गड्ढे या टीले आदि से रहित सम हो जाती है।

(१४) बबूल आदि के काँटे उल्टे हो जाते हैं, जिससे पैर में चुभ न सकें।

(१५) शीतकाल में उष्ण और उष्णकाल में शीत वाला सुहावना मौसम बन जाता है।

(१६) भगवान के चारों ओर एक-एक योजन तक मन्द-मन्द शीतल और सुगन्धित वायु चलती है, जिससे सब अशुचि वस्तुएँ दूर हो जाती हैं।

(१७) भगवान के चारों ओर बारीक-बारीक सुगन्धित अचित्त जल की वृष्टि एक-एक योजन में होती है जिससे धूल दब जाती है।

(१८) भगवान के चारों ओर देवताओं द्वारा विक्रिया से बनाये हुए अचित्त पाँचों रंगों के पुष्पों की घुटनों प्रमाण वृष्टि होती है। उन पुष्पों का टेंट (डंठल) नीचे की तरफ और मुख (पंखुड़ियाँ) ऊपर की ओर होता है।

(१९) अमनोज्ञ (अच्छे न लगने वाले) वर्ण, रस, गंध और स्पर्श का नाश होता है।

(२०) मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का उद्भव होता है।

(२१) भगवान के चारों ओर एक-एक योजन में स्थित परिषद् बराबर धर्मोपदेश सुनती है और वह धर्मोपदेश सभी को प्रिय लगता है।

(२२) भगवान का धर्मोपदेश अर्ध-मागधी (आधी मगध देश की और आधी अन्य देशों की मिश्रित) भाषा में होता है।

“भगवं च णं अब्द्धमागहीए भासाए धममाइक्खति।”

—उववाईसूत्र

(२३) आर्य देश और अनार्य देश के मनुष्य, द्विपद (पक्षी), चतुष्पद (पशु) और अपद (सर्प आदि) सभी भगवान की वाणी को अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं।

(२४) भगवान का दर्शन करते ही और उपदेश सुनते ही जाति-वैर (जैसे—सिंह और बकरी का, कुत्ता और बिल्ली का) तथा भवान्तर (पिछले जन्मों) का वैर शान्त हो जाता है।

(२५) भगवान का प्रभावपूर्ण और अतिशय सौम्य स्वरूप देखते ही अपने-अपने मत का अभिमान रखने वाले अन्य दर्शनी वादी अभिमान को त्यागकर नम्र बन जाते हैं।

(२६) भगवान के पास वादी वाद करने के लिए आते तो हैं किन्तु उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं।

(२७) (भगवान के चारों तरफ २५-२५ योजन तक) ईति-भीति अर्थात् टिड्डी और मूषकों आदि का उपद्रव नहीं होता।

(२८) महामारी, हैजा आदि का उपद्रव नहीं होता।

(२९) स्वदेश के राजा का और सेना का उपद्रव नहीं होता।

(३०) परदेश के राजा का और सेना का उपद्रव नहीं होता।

(३१) अतिवृष्टि अर्थात् बहुत अधिक वर्षा नहीं होती।

(३२) अनावृष्टि (कम वर्षा या वर्षा का अभाव) नहीं होता।

(३३) दुर्भिक्ष-दुष्काल नहीं पड़ता।

(३४) जिस देश में पहले से ईति-भीति महामारी, स्व-परचक्र का भय आदि उपद्रव हो, वहाँ भगवान का पदार्पण होते ही तत्काल उपद्रव दूर हो जाते हैं।

इन चौत्तीस अतिशयों में से ४ अतिशय जन्म के होते हैं, १५ केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् होते हैं और १५ देवों के किये हुए होते हैं।

### □ अरिहंत की वाणी के ३५ गुण

तीर्थकर भगवान कृतकृत्य होने पर भी, तीर्थकर-नामकर्म के उदय से निरीह-निष्कामभाव से, जगत् के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्मोपदेश देते हैं। उनकी वाणी में जो-जो गुण होते हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) तीर्थकर भगवान संस्कारयुक्त वचनों का प्रयोग करते हैं।

(२) भगवान ऐसे उच्च स्वर (बुलन्द आवाज) में बोलते हैं कि एक-एक योजन तक चारों तरफ बैठी हुई परिषद् (श्रोतागण) भलीभाँति श्रवण कर लेती है।

(३) 'रे', 'तू' इत्यादि तुच्छता से रहित सादे और मानपूर्ण वचन बोलते हैं।

(४) मेघगर्जना के समान भगवान की वाणी सूत्र से और अर्थ से गम्भीर होती है। उच्चारण और तत्त्व दोनों दृष्टियों से उनकी वाणी का रहस्य बहुत गहन होता है।

(५) जैसे गुफा में और शिखरबन्द प्रासाद में बोलने से प्रतिध्वनि उठती है, उसी प्रकार भगवान की वाणी की भी प्रतिध्वनि उठती है।

(६) भगवान के वचन श्रोताओं को घृत और शहद के समान स्निग्ध और मधुर लगते हैं।

(७) भगवान के वचन ६ राग और ३० रागिनी रूप परिणत होने से श्रोताओं को उसी प्रकार मुग्ध और तल्लीन बना देते हैं, जैसे पुंगी का शब्द सुनकर नाग और वीणा का शब्द सुनकर मृग मुग्ध और तल्लीन हो जाता है।

(८) भगवान के वचन सूत्ररूप होते हैं। उनमें शब्द थोड़े और अर्थ बहुत होता है।

(९) भगवान के वचनों में परस्पर विरोध नहीं होता। जैसे—'अहिंसा परमो धर्मः' कहकर फिर "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः।" अर्थात् पशु यज्ञ के लिए ही बने हैं, ऐसे पूर्वापर-विरोधी वचन भगवान नहीं बोलते।

(१०) भगवान प्रस्तुत प्रकरण को पूर्ण करके फिर दूसरे प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं। एक बात पूरी हुई कि नहीं और बीच में ही दूसरी बात कह दी; इस तरह गड़बड़ नहीं करते। उनकी देशना सिलसिलेवार होती है।

(११) भगवान ऐसा स्पष्ट (खुलासा) करके उपदेश देते हैं कि श्रोताओं को किंचित् भी संशय उत्पन्न नहीं होता।

(१२) बड़े से बड़े पण्डित भी भगवान के वचन में किंचित्मात्र भी दोष नहीं निकाल सकते।

(१३) भगवान के वचन सुनते ही श्रोताओं का मन एकाग्र हो जाता है। उनके वचन सबको मनोज्ञ लगते हैं।<sup>१</sup>

(१४) बड़ी विचक्षणता के साथ देश-काल के अनुसार बोलते हैं।

(१५) सार्थक और सम्बद्ध वचनों से अर्थ का विस्तार तो करते हैं किन्तु व्यर्थ और ऊटपटांग बातें कहकर समय पूरा नहीं करते।

(१६) जीव आदि नौ पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाले सार-सार वचन बोलते हैं, निस्सार वचन नहीं बोलते।

(१७) सांसारिक क्रिया की निस्सार बातें (कहना आवश्यक हो तो) संक्षेप में पूरी कर देते हैं अर्थात् ऐसे पदों को संक्षेप में समाप्त करके आगे के पद कहते हैं।

(१८) धर्मकथा ऐसे खुलासे के साथ कहते हैं कि छोटा-सा बच्चा भी समझ जाय।

(१९) अपनी श्लाघा (प्रशंसा) और दूसरे की निन्दा नहीं करते। पाप की निन्दा करते हैं, परन्तु पापी की निन्दा नहीं करते।

(२०) भगवान की वाणी दूध और मिश्री से भी अधिक मधुर होती है, इस कारण श्रोता धर्मोपदेश छोड़कर जाना नहीं चाहते।

(२१) किसी की गुप्त बात प्रकट करने वाले मर्मवेधी वचन नहीं बोलते।

(२२) किसी की योग्यता से अधिक गुण-वर्णन करके खुशामद नहीं करते किन्तु वास्तविक योग्यता के अनुसार गुणों का कथन करते हैं।

१. वैदिक ग्रन्थ भी कहते हैं—“सत्यं ब्रूहि, प्रियं ब्रूहि।” अर्थात् सत्य बोलो किन्तु वह ऐसा हो कि श्रोता को प्रिय लगे।

(२३) भगवान ऐसा सार्थक धर्मोपदेश करते हैं, जिससे उपकार हो और आत्मार्थ की सिद्धि हो।

(२४) अर्थ को छिन्न-भिन्न करके तुच्छ नहीं बनाते।

(२५) व्याकरण के नियमानुसार शुद्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं।

(२६) अधिक जोर से भी नहीं, अधिक धीरे भी नहीं और शीघ्रतापूर्वक भी नहीं, किन्तु मध्यम रीति से वचन बोलते हैं।

(२७) प्रभु की वाणी सुनकर श्रोता ऐसे प्रभावित होते हैं और बोल उठते हैं कि “अहा ! धन्य है प्रभु की उपदेश देने की शक्ति ! धन्य है प्रभु की देशना शैली !”

(२८) भगवान हर्षयुक्त और प्रभावपूर्ण शैली से उपदेश करते हैं, जिससे सुनने वालों के सामने हू-बहू चित्र उपस्थित हो जाता है और श्रोता एक अनूठे रस में निमग्न हो जाते हैं।

(२९) भगवान धर्मकथा करते-करते बीच में विश्राम नहीं लेते, बिना विलम्ब किये धाराप्रवाह भाषण करते हैं।

(३०) सुनने वाला अपने मन में जो प्रश्न सोचकर आता है, उसका बिना पूछे ही समाधान करते हैं।

(३१) भगवान परस्पर सापेक्ष वचन ही कहते हैं और जो कहते हैं वह श्रोताओं के दिल में जम जाता है।

(३२) अर्थ, पद, वर्ण, वाक्य—सब स्फुट कहते हैं—आपस में भेलसेल करके नहीं कहते।

(३३) भगवान ऐसे सात्त्विक वचन कहते हैं जो ओजस्वी और प्रभावशाली हों।

(३४) प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि होने पर ही दूसरे अर्थ को आरम्भ करते हैं—अर्थात् एक कथन को दृढ़ करके ही दूसरा कथन करते हैं।

(३५) धर्मोपदेश देते-देते कितना ही समय क्यों न बीत जाय, भगवान कभी थकते नहीं हैं किन्तु ज्यों के त्यों निरायास रहते हैं।

### □ समवशरण

जिस क्षेत्र (ग्राम-नगर आदि) में अन्य मतावलम्बी अधिक होते हैं या श्रोतागण बहुत अधिक आते हैं वहाँ देवता समवशरण की रचना करते हैं। समवशरण की रचना इस प्रकार की जाती है—समवशरण के चारों ओर तीन कोट होते हैं। पहला कोट चाँदी का होता है और उस पर सोने के कंगूरे होते हैं। इस कोट के भीतर १,३०० धनुष का अन्तर छोड़कर दूसरा कोट सुवर्ण का होता है। उस पर रत्नों के कंगूरे होते हैं। फिर उसके भीतर १,३०० धनुष का अन्तर छोड़कर चौतरफा घिरा हुआ तीसरा कोट होता है। यह तीसरा कोट रत्नों का होता है और उस पर मणिरत्नों के ही कंगूरे होते हैं। इस कोट के मध्य में अष्ट महाप्रतिहार्य से युक्त भगवान विराजमान होकर धर्मोपदेश देते हैं।

तीर्थकर भगवान के ईशानकोण में श्रावक, श्राविकाएँ और वैमानिक देव बैठते हैं। आग्नेयकोण में साधु, साध्वी और वैमानिक देवों की देवियों के बैठने की जगह होती है। वायव्यकोण में भवनपति देव, वाणव्यन्तर देव और ज्योतिषी देव बैठते हैं। नैऋत्यकोण में भवनपति देवों की देवियाँ, वाणव्यन्तरों की देवियाँ और ज्योतिषी देवों की देवियाँ बैठती हैं। इस प्रकार बारह तरह की परिषद् जुड़ती है। किसी-किसी आचार्य के कथनानुसार चार प्रकार के देव, चार प्रकार की देवियाँ तथा मनुष्य, मनुष्यनी, तिर्यच और तिर्यचनी; इस तरह बारह प्रकार की परिषद् बैठती है।

समवशरण के पहले कोट में चढ़ने के लिए १०,००० पंक्तियाँ होती हैं। दूसरे और तीसरे कोट में चढ़ने के लिए पाँच-पाँच हजार पंक्तियाँ होती हैं। इस प्रकार कुल बीस हजार पंक्तियाँ एक-एक हाथ की ऊँचाई पर होती हैं। चार हाथ का एक धनुष होता है और दो हजार धनुष का एक कोस होता है। इस हिसाब से समवशरण अढ़ाई कोस ऊँचा होता है। किन्तु तीर्थकर भगवान के अतिशय के कारण तथा चढ़ने वालों की उमंग के कारण कोई चढ़ने वाले थकावट अनुभव नहीं करते।

### □ अरिहंत भगवान अठारह दोषरहित होते हैं

अरिहंत भगवान वीतराग और सर्वज्ञ होते हैं। पहले कहा जा चुका है कि चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अर्हत-अवस्था प्रकट होती है। जो महान् पुरुष चार घातिया कर्मों से रहित हो चुके हैं उनकी आत्मा में किसी प्रकार का विकार या दोष नहीं रह सकता।

घातिया कर्म ही सब प्रकार के दोषों को उत्पन्न करते हैं। मोहनीय आदि घातिया कर्मों का नाश हो जाने पर आत्मा विभाव-परिणति का त्याग करके स्वभाव-परिणति में जाता है। ऐसी अवस्था में आत्मा निर्दोष, निरंजन, निष्कलंक और निर्विकार होती है। अतः अरिहंत भगवान में दोष का लेश भी नहीं रहता। वे समस्त दोषों से अतीत होते हैं। किन्तु यहाँ जिन अठारह दोषों का अभाव बतलाया जा रहा है, वे उपलक्षण मात्र हैं। इन दोषों का अभाव प्रकट करने से समस्त दोषों का अभाव समझ लेना चाहिए। जिस आत्मा में नीचे लिखे अठारह दोष न होंगे, उसमें अन्य दोष भी नहीं रह सकते—

(१) मिथ्यात्व—जो वस्तु जैसी है उस पर वैसी ही श्रद्धा न रखकर, विपरीत श्रद्धा करना मिथ्यात्व दोष कहलाता है। अरिहंत भगवान अनन्त क्षायिक सम्यक्त्व की परिपूर्णता को प्राप्त कर चुके हैं इसलिए मिथ्यात्व दोष से रहित होते हैं।

(२) अज्ञान—ज्ञान न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना अज्ञान कहलाता है। ज्ञान न होने का कारण ज्ञानावरणीय कर्म है और विपरीत ज्ञान होने का कारण मोहनीय कर्म है। अरिहंत भगवान इन कर्मों से रहित होते हैं। वे केवलज्ञानी होने से समस्त लोकालोक एवं चर-अचर पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं।

(३) मद—अपने गुणों का गर्व होना मद कहलाता है। मद वहीं होता है जहाँ अपूर्णता हो। अरिहंत सब गुणों से सम्पन्न होने के कारण मद नहीं करते। कहा भी है—“सम्पूर्णकुम्भो न करोति शब्दम्।” अर्थात् गर्व न करना ही सम्पूर्णता का चिह्न है।

(४) क्रोध—अरिहंत क्षमाशूर कहलाते हैं। वे क्षमा के सागर होते हैं।

(५) माया—छल-कपट को कहते हैं। अरिहंत अत्यन्त सरल स्वभाव वाले होते हैं।

(६) लोभ—इच्छा या तृष्णा को कहते हैं। अरिहंत भगवान प्राप्त हुई ऋद्धि का परित्याग करके अनगार अवस्था अंगीकार करते हैं। उन्हें अतिशय आदि की महान् ऋद्धि प्राप्त होती है, फिर भी उसकी इच्छा नहीं करते। वे अनन्त सन्तोष-सागर में ही रमण करते रहते हैं।

(७) रति—इष्ट वस्तु की प्राप्ति से होने वाली खुशी रति कहलाती है। अरिहंत अवेदी, अकषायी और वीतराग होने के कारण तिल मात्र भी रति का अनुभव नहीं करते, क्योंकि भगवान को कोई भी वस्तु इष्ट नहीं है।



(८) अरति—अनिष्ट या अमनोज्ञ वस्तु के संयोग से होने वाली अप्रीति अरति कहलाती है। अरिहंत भगवान समभावी होने से किसी भी दुःखप्रद संयोग से दुःखी नहीं होते।

(९) निद्रा—दर्शनावरण कर्म के उदय से निद्रा आती है। इसका सर्वथा क्षय हो जाने के कारण अरिहंत निरन्तर जागृत ही रहते हैं।

(१०) शोक—इष्ट वस्तु के वियोग से शोक होता है। अरिहंत भगवान के लिए कोई इष्ट नहीं है और किसी भी पर-वस्तु के साथ उनका संयोग भी नहीं होता अतः वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता और इसलिए उन्हें शोक नहीं होता।

(११) अलीक—झूठ बोलना अलीक कहलाता है। अरिहंत निस्पृह होने से कभी किंचित् भी मिथ्या भाषण नहीं करते और न अपना वचन पलटते हैं। भगवान शुद्ध सत्य की ही प्ररूपणा करते हैं।

(१२) चौर्य—मालिक की आज्ञा बिना किसी वस्तु को ग्रहण करना चोरी है। अरिहंत निस्पृही होने के कारण मालिक की आज्ञा के बिना किसी भी पदार्थ को कदापि ग्रहण नहीं करते।

(१३) मत्सरता—दूसरे में किसी वस्तु या गुण की अधिकता देखने से होने वाली ईर्ष्या को मत्सरता कहते हैं। अरिहंत से अधिक गुणधारक तो कोई होता नहीं, अगर गोशालक के समान फितूर करके कोई अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करता है तो भी अरिहंत कभी ईर्ष्याभाव नहीं धारण करते।

(१४) भय—अर्थात् डर। भय सात प्रकार के हैं—(१) इहलोक भय—मनुष्य का भय, (२) परलोक भय—तिर्यच तथा देव आदि का भय, (३) आदान भय—धनादि सम्बन्धी भय, (४) अकस्मात् भय, (५) आजीविका का भय, (६) मृत्यु का भय, (७) पूजा-श्लाघा का भय। अरिहंत भगवान अनन्त बलशाली होने से इन सातों भयों से अभीत हैं। वे किसी प्रकार भय से भीत नहीं होते।

(१५) हिंसा—षट्काय के जीवों में से किसी का भी घात करना हिंसा है। अरिहंत महादयालु होते हैं। वे त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा से सर्वथा निवृत्त होते हैं। साथ ही 'मा हन' अर्थात् 'किसी भी जीव को मत मारो', इस प्रकार का उपदेश देकर दूसरों से

भी हिंसा का त्याग करवाते हैं। “सर्वजगजीवरक्षणदयट्टयाए पावयणं भगवया सुकहियं।” अर्थात् समस्त जगत् के जीवों की रक्षारूप दया के लिए ही भगवान ने उपदेश दिया है। ऐसा श्री प्रश्नव्याकरणसूत्र में उल्लेख है।

(१६) प्रेम—अरिहंत में तन, स्वजन तथा धन आदि सम्बन्धी स्नेह नहीं होता। वे वन्दक और निन्दक में समभाव रखते हैं। इसलिए अपनी स्तुति करने वाले पर तुष्ट होकर उसका कार्य सिद्ध नहीं करते और निन्दा करने वाले पर रुष्ट होकर उसे दुःख नहीं देते।

(१७) क्रीड़ा—मोहनीय कर्म से रहित होने के कारण अरिहंत सब प्रकार की क्रीड़ाओं से रहित होते हैं। गाना, बजाना, रास खेलना, रोशनी करना, मण्डप बनाना, भोग लगाना इत्यादि क्रियाएँ करके भगवान को जो प्रसन्न करना चाहते हैं, वे बड़े मोहमुग्ध हैं।

(१८) हास्य—किसी अपूर्व-अद्भुत वस्तु या क्रिया आदि को देखकर हँसी आती है। सर्वज्ञ होने के कारण अरिहंत के लिए कोई वस्तु अपूर्व नहीं है, गुप्त नहीं है। इस कारण उन्हें कभी हँसी नहीं आती।

#### □ अरिहंत-प्रशस्ति

तीर्थकर नियम से एक समय में जघन्य बीस और उत्कृष्ट एक सौ सत्तर होते हैं। इनकी जघन्य आयु बहत्तर वर्ष एवं उत्कृष्ट आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है। (सत्तर लाख छप्पन हजार करोड़ वर्षों का एक पूर्व होता है)। अर्हत-तीर्थकरों की जघन्य शरीर की ऊँचाई सात हाथ तथा उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष की होती है।

अर्हत-तीर्थकरों का शरीर पसीने, मैल, रज, थूक, श्लेष्म-कफ आदि से रहित होता है। इनके शरीर पर कोई दुष्ट लक्षण या व्यंजन तिल-मसा आदि नहीं होते। चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुंभ, पर्वत, मगर, सागर, चक्र, शंख, स्वस्तिक जैसे उत्तम एक हजार आठ लक्षणों के वे धारक होते हैं। उनका शरीर सूर्य से भी अधिक महातेजस्वी, निर्धूम-अग्नि के समान देदीप्यमान तथा अत्यंत मनोहर होता है। भक्तामर में तीर्थकर-भगवंतों (ऋषभ) के शरीर की सुन्दरता के लिए अनेक स्तोत्र-पद हैं। इनके लिए कहा है—

वे अनंत गुणों के धारक,  
सकल अघ (पाप) के निवारक,

सम्पूर्ण जगत् के सुधारक,  
 मोहादि आंतरिक रिपुओं के संहारक,  
 अपूर्व उद्योत के कारक,  
 तीनों तापों के अपहारक,  
 भूतल के भव्य जीवों के तारक,  
 अज्ञानतिमिर के विदारक  
 और  
 सन्मार्ग के प्रचारक हैं।  
 सिद्ध कहाँ अवस्थित होते हैं ?

सभी कर्मों को क्षय कर मुक्तात्माएँ कहाँ निवास करती हैं ? उववाईसूत्र में ऐसा ही प्रश्न गाथा के माध्यम से किया गया है—

कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पड़ट्टिया ?  
 कहिं बोदिं चइत्ताणं, कत्थ गन्तूण सिज्झइ ?

अर्थ यह है कि सिद्ध भगवान कहाँ जाकर रुके हैं ? सिद्ध भगवान कहाँ जाकर स्थित हुए हैं ? सिद्ध भगवान कहाँ शरीर त्यागकर अशरीरी होकर किस जगह सिद्ध हुए हैं ?

इसी सूत्र में अगली गाथा में उत्तर देते हुए कहा गया है—

अलोए पडिहया सिद्धा, लोयगगे य पड़ट्टिया ।  
 इहं बोदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥

अर्थात् सिद्ध भगवान लोक के आगे अलोक से लगकर रुके हैं, लोक के अग्र भाग में स्थित हुए हैं। उन्होंने यहाँ मनुष्यलोक में शरीर का त्याग किया है और वहाँ—लोक के अग्र भाग में सिद्ध हुए हैं।

वास्तव में मोक्ष किसी स्थान-विशेष का नाम नहीं है, वह तो आत्मा की विशुद्ध अवस्था है। सर्वथा शुद्ध आत्मा की अवस्था मोक्ष कहलाती है। सिद्धात्मा लोकाग्र में विराजमान होती है। अतः वह सिद्धगति स्थान कहलाता है।

लोक का जहाँ अन्तिम छोर है, जहाँ से आगे लोक नहीं है, अलोकाकाश है। उस अलोकाकाश में गति का निमित्त धर्मास्तिकाय विद्यमान नहीं है अतः वहीं मुक्तात्मा की गति

रुक जाती है। अतः शास्त्र कहते हैं—सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में स्थित हैं और अलोक से लगकर रुक गये हैं।

#### □ पन्द्रह भेदे अनन्तसिद्धा

सिद्धक्षेत्र में मोक्षवर्ती पन्द्रह प्रकार से सिद्ध हुए हैं—

(१) तीर्थकर सिद्ध—जो तीर्थकर पदवी भोगकर सिद्ध हुए हैं।

(२) अतीर्थकर सिद्ध—सामान्य केवली होकर जो सिद्ध हुए हैं।

(३) तीर्थ सिद्ध—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना होने के बाद जो सिद्ध हुए हैं।

(४) अतीर्थ सिद्ध—तीर्थ की स्थापना से पहले जैसे मरुदेवी माता या तीर्थ का विच्छेद<sup>१</sup> हो जाने के बाद जो सिद्ध हुए हैं।

(५) स्वयंबुद्ध सिद्ध—जातिस्मरण आदि ज्ञान से अपने पूर्वभवों को जानकर गुरु के बिना, स्वयं दीक्षा धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

(६) प्रत्येकबुद्ध सिद्ध—वृक्ष, वृषभ, श्मशान, मेघ, वियोग या रोग आदि का निमित्त पाकर अनित्य आदि भावना से प्रेरित होकर, स्वयं दीक्षा लेकर जो सिद्ध हुए हैं।

(७) बुद्धबोधित सिद्ध—आचार्य आदि से बोध प्राप्त करके, दीक्षा धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

(८) स्त्रीलिंग सिद्ध—वेद-विकार को क्षय करके, स्त्री के शरीर से जो सिद्ध हुए हैं।

(९) पुरुषलिंग सिद्ध—जो पुरुष-शरीर से सिद्ध हुए हैं।

(१०) नपुंसकलिंग सिद्ध—जो नपुंसक के शरीर से सिद्ध हुए हैं।

(११) स्वलिंग सिद्ध—रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि साधु का वेश धारण करके जो सिद्ध हुए हैं।

१. नववें सुविधिनाथ जी से सत्रहवें कुंथुनाथ जी तक उनके मोक्ष गये बाद अन्तर में तीर्थ का उच्छेद हुआ। उस वक्त सिद्ध हुए अतीर्थ अतीर्थसिद्ध जानना।

(१२) **अन्यलिंग सिद्ध**—किसी अन्यलिंगी को अत्यधिक तपश्चरण आदि से विभंगज्ञान की प्राप्ति हो, इसके बाद जिनशासन का अवलोकन करके अनुरागी बनने पर अज्ञान मिट जाय और अवधिज्ञानी बनकर परिणाम शुद्ध हो जाने पर केवलज्ञान प्राप्त हो जाय। आयु कम होने से लिंग बदले बिना ही सिद्ध हो जाय वह अन्यलिंग सिद्ध कहलाता है।

(१३) **गृहलिंग सिद्ध**—गृहस्थ के वेश में धर्माचरण करते-करते परिणाम-विशुद्धि होने पर केवलज्ञान प्राप्त कर ले और स्वल्प आयु होने के कारण गृहवेश बदले बिना ही सिद्ध हो जाय, वह गृहलिंग सिद्ध कहलाता है।

(१४) **एक सिद्ध**—एक समय में अकेला—एक ही सिद्ध होने वाला।

(१५) **अनेक सिद्ध**—एक समय में एकाधिक १०८ पर्यन्त सिद्ध हों, वे अनेक सिद्ध कहलाते हैं।

#### □ सिद्धावस्था-प्राप्ति के चौदह प्रकार

इस तरह पन्द्रह प्रकार से जो सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे—वे एक समय में अधिक से अधिक कितने व किस प्रकार से होते हैं—इसकी गणना शास्त्रों में चौदह प्रकार से बताई गई है—

(१) तीर्थ की विद्यमानता में एक समय में १०८ तक सिद्ध हों, (२) तीर्थ का विच्छेद होने पर एक समय में १० तक सिद्ध हों, (३) एक समय में २० तीर्थकर सिद्ध हों, (४) सामान्यकेवली एक समय में १०८ सिद्ध हों, (५) एक समय में ४ स्वयंबुद्ध सिद्ध हों, (६) प्रत्येकबुद्ध १० सिद्ध हों, (७) बुद्धबोधित १०८ सिद्ध हों, (८) स्वलिंग भी १०८ सिद्ध हों, (९) अन्यलिंग १० सिद्ध हों, (१०) गृहलिंग ४ सिद्ध हों, (११) स्त्रीलिंग २० सिद्ध हों, (१२) पुरुषलिंग १०८ सिद्ध हों। (१३) नपुंसकलिंग १० सिद्ध हों।

(१४) **पूर्वभवाश्रित सिद्ध**—पहले, दूसरे और तीसरे नरक से निकलकर आने वाले जीव एक समय में १० सिद्ध होते हैं। चौथे नरक से निकले हुए ४ सिद्ध होते हैं। पृथ्वीकाय और अप्काय से निकले हुए ४-४ सिद्ध होते हैं। पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यच और तिर्यचनी की पर्याय से तथा मनुष्य की पर्याय से निकलकर मनुष्य हुए १० जीव सिद्ध होते हैं। मनुष्यनी से आये हुए २० सिद्ध होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी देवों से आये हुए २०

सिद्ध होते हैं। वैमानिकों से आये १०८ सिद्ध होते हैं और वैमानिक देवियों से आये हुए २० सिद्ध होते हैं।

**क्षेत्राश्रित सिद्ध**—ऊँचे लोक में ४, नीचे लोक में २० और मध्यलोक में १०८ सिद्ध होते हैं। समुद्र में २ (समुद्र, नदी, अकर्मभूमि के क्षेत्र, पर्वत आदि स्थानों में कोई हरण करके ले जाय, वहाँ वह जीव केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं)। नदी आदि सरोवरों में ३, प्रत्येक विजय में अलग-अलग २० सिद्ध हों (तो भी एक समय में १०८ से ज्यादा जीव सिद्ध नहीं हो सकते)। मेरु पर्वत के भद्रशाल वन, नन्दन वन और सौमनस वन में ४, पाण्डुक वन में २, अकर्मभूमि के क्षेत्र में १०, कर्मभूमि के क्षेत्र में १०८, भरत, ऐरावत क्षेत्र के पहले, दूसरे और पाँचवें तथा छठे आरे के समय महाविदेह क्षेत्र में १० और तीसरे व चौथे आरे में १०८ जीव सिद्ध होते हैं। यह संख्या भी सर्वत्र एक समय में अधिक से अधिक सिद्ध होने वालों की है।

**अवगाहना-आश्रित सिद्ध**—जघन्य दो हाथ की अवगाहना वाले एक समय में ४ सिद्ध होते हैं। मध्यम अवगाहना वाले १०८ और उत्कृष्ट ५०० धनुष की अवगाहना वाले एक समय में २ जीव सिद्ध होते हैं। प्रथम तीर्थंकर ऋषभजिन के शासन में उत्कृष्ट अवगाहना वाले एक समय में 108 सिद्ध हुए जो ठाणांग सूत्र के दशवें ठाणे में उल्लेखित दस आश्चर्य में से एक आश्चर्य है।।

#### □ सिद्धावस्था में अवगाहना

सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाने पर जो कर्मण-वर्गणा के पुद्गल अब तक आत्म-प्रदेशों के साथ क्षीरनीरवत् मिले हुए थे, वे कर्मप्रदेश आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं और बचे रहते हैं केवल आत्म-प्रदेश।

बंधुओं! ये आत्म-प्रदेश अपने शुद्ध स्वरूप में आते ही सघन हो जाते हैं। अतः सिद्ध दशा में जीव की अवगाहना उसके अन्तिम शरीर की अवगाहना से तीसरे भाग कम अर्थात् दो-तिहाई भाग रह जाती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कोई जीव उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष की अवगाहना वाले शरीर से सिद्ध होता है तो सिद्धावस्था में उसके आत्म-प्रदेशों की अवगाहना तीन सौ तैंतीस धनुष और ३२ अंगुल की होगी। इसी तरह सात हाथ के शरीर को त्यागकर सिद्ध बने जीव की अवगाहना चार हाथ और सोलह अंगुल होगी।

### □ सिद्धों के आठगुण

मोक्षवर्ती सिद्धात्माओं में आठ गुणों की उपस्थिति रहती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक-सम्यक्त्व, अटल अवगाहना, अमूर्तिकपन, अगुरुलघु और अनन्तकरणवीर्य ।

### □ मोक्षवर्ती सिद्धात्माओं का स्वरूप

आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध, पाँचवें अध्याय और छठे उद्देशक में सिद्धों का स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—

सव्वे सरा नियट्ठंति, तक्का तत्थ न विज्जइ।  
मई तत्थ न गाहिया, ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयन्ने ॥

से न दीहे, न हस्से, न तंसे, न चउरसे, न परिमण्डले, न आइतंसे, न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिदे, न सुक्किल्ले, न सुरभिगंधे, न दुरभिगंधे, न तित्ते, न कड्डुए, न कसाए, न अंबिले, न महुरे, न कक्कडे, न सउए, न गुरुए, न लहुए, न सीए, न उण्हे, न णिद्धे, न लुक्खे, न इत्थी, न पुरिसे, न अन्नहा, परिण्णे, सण्णे, उवमा न विज्जति अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं णत्थि; से न सद्दे, न रूवे, न रसे, न फासे, इच्चेतावंती, त्ति बेमि।

तात्पर्य यह कि शुद्ध आत्मा (सिद्ध) का वर्णन करने में कोई शब्द समर्थ नहीं है, कोई भी कल्पना वहाँ तक पहुँचती नहीं है। मति भी वहाँ प्रवेश नहीं करती। केवल सम्पूर्ण ज्ञानमय आत्मा ही वहाँ है।

सिद्ध दीर्घ (लम्बे) नहीं, ह्रस्व (छोटे) नहीं, वृत्त (गोलाकार) नहीं, त्रिकोण नहीं, चौकोर नहीं, मण्डलाकार (चूड़ी की तरह) नहीं, लम्बे नहीं, काले नहीं, नीले नहीं, लाल नहीं, पीले नहीं, शुक्ल नहीं, सुगंधवान् नहीं, दुर्गन्धवान् नहीं, तिक्त नहीं, कटुक नहीं, कसैले नहीं, खट्टे नहीं, मीठे नहीं, कठोर नहीं, कोमल नहीं, गुरु (भारी) नहीं, लघु नहीं, शीत नहीं, उष्ण नहीं, चिकने नहीं, रूखे नहीं।

स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, नपुंसक नहीं, केवल परिज्ञान रूप हैं, ज्ञानमय हैं, उनके लिए कोई उपमा नहीं दी जा सकती। वे अरूपी-अलक्ष्य हैं। उनके लिए किसी पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता। वे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शरूप नहीं हैं। इस प्रकार समस्त

पौद्गलिक गुणों और पर्यायों से अतीत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय सत्-चित्-आनन्दमय सिद्धस्वरूप है।

भक्तामर स्तोत्र में कहा है—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं, ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।  
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्, ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति संतः ॥

अर्थ यह कि स्थिर स्वभाव वाले होने के कारण 'अव्यय' कहलाते हैं, परमेश्वर्य और ज्ञानस्वरूप से व्यापक होने के कारण 'विभु' उन्हें कहते हैं। वे 'अचिन्त्य' हैं क्योंकि उनके स्वरूप की कल्पना नहीं हो सकती, वे गुणों से 'असंख्य' हैं, सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे बड़े होने के कारण 'ब्रह्मा' हैं, सर्व ऐश्वर्ययुक्त होने से 'ईश्वर' हैं, अन्तरहित होने से 'अनन्त' हैं, कामदेव के नाशक होने के कारण 'अनंगकेतु' हैं, ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप योगपथ के निर्माता-ज्ञाता होने के कारण 'विदितयोग' हैं, ज्ञानपर्याय से अनेक में व्याप्त होने के कारण 'अनेक' हैं। सबका एक ही आत्मस्वरूप होने के कारण 'एक' हैं। उनके समान कोई दूसरी वस्तु नहीं है इस कारण वे अद्वितीय हैं। ज्ञानी संत पुरुषों ने उनका ऐसा ही स्वरूप बताया है।

□ सिद्धासिद्धि मम दिसन्तु !

बंधुओं! चक्रवर्ती एवं मोक्षवर्ती इस विवेचन को आपने सुना, समझा, हृदयंगम किया। आगे विवरण चलेगा उन दस चक्रवर्ती सम्राटों का जिन्होंने अनुत्तर चक्रवर्ती-पद के भोगों को भोगते हुए उनसे विरक्त बन संयम धारणकर मुनि-वेश लिया, श्रमणधर्म पाला, उत्कृष्ट साधना की और मोक्षवर्ती बने।

आज तो उन अनन्त आत्माओं को मेरा, आपका सभी का भावपूर्वक नमन जो शुद्ध आत्मिक गुणों से समृद्ध होकर मोक्षवर्ती बन सिद्धगति को गये।

चन्देसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।  
सागरवरगंभीरा, सिद्धा-सिद्धि मम दिसन्तु ॥

आनंद ही आनंद !



## वलि दसे चक्रवर्ती

बिन त्याग व्रत रे विरथा जावे है थारी जिन्दगी ।  
कुगुरु-देव ये बातां दिन-दिन बढ़ती जावे ।  
गुरु निर्ग्रन्थ, देव अरिहंत री, क्युं असातना लावे हो ... । बिन.... ।

आत्म-बन्धुओं !

जीवन का मूल, सारा सार निचोड़कर रख दिया गया है इन पंक्तियों में। त्याग नहीं, व्रत-प्रत्याख्यान नहीं तो जीवन बेकार है, व्यर्थ है, बेमानी है। आपको कहा जाता है त्याग-व्रत-प्रत्याख्यान के लिए, चौदह नियम चितारने के लिए, तीन मनोरथ के चिन्तन के लिए पर आप हमारी सुनते कहाँ हैं? वैसे सुनने को सबसे आगे आकर बैठते हैं पर सुनकर ग्रहण करने की बात आते ही अपना मुँह फेर लेते हैं या उठकर चले जाते हैं।

### □ मंजिल के लिए चाहिए, सम्यक्-पथ व सम्यक्-गति

कुछ व्यक्ति हैं जो नियम-व्रत ग्रहण करते हैं पर वे खड़े हो जाते हैं, हाथ जोड़ लेते हैं, गुरुदेव के श्रीमुख से संकल्प ग्रहण कर लेते हैं और कुछ दिन बाद उन्हें यदि पुनः उस व्रत-नियम की बात पूछते हैं तो ज्ञात होता है कि लिए हुए व्रत-प्रत्याख्यान का सम्यक्-प्रकारेण पालन नहीं हुआ है। बंधुओं! ध्यान रखिए, केवल चलने से मंजिल नहीं मिलेगी, जिस पथ पर चल रहे हैं, वह पथ सम्यक्-पथ होना चाहिए और साथ ही आपके चलने की जो गति है, वह भी सम्यक् होनी चाहिए। नियम ग्रहण से पूर्व उसका स्वरूप समझना आवश्यक है।

### □ पृच्छा सर्वहितार्थ

प्रत्याख्यान के संबंध में भगवतीसूत्र में गौतम गणधर ने प्रभु महावीर से कुछ प्रश्न किए हैं। सूत्र में गौतम द्वारा पृच्छा किए गए अनेक प्रश्न हैं। गौतम चौदह पूर्व के ज्ञाता थे,

मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्याय इन चार ज्ञान के धनी थे। अनेक साधारण प्रश्नों को गौतम द्वारा प्रभु से पूछा जाता देख कोई सोच सकता है कि क्या उन्हें इतने साधारण प्रश्नों के समाधान भी ज्ञात नहीं थे? ज्ञात थे उन्हें, वे जानते थे सारे समाधान पर सर्वहित की दृष्टि से ही उन्होंने प्रभु से पूछा की है। उनके पूछने का जो दृष्टिकोण है, वह यह कि आने वाले काल में प्रत्येक साधक सम्यक् प्रकारेण अपनी साधना कर सके।

### □ प्रत्याख्यान विवेचन

गौतम प्रत्याख्यान संबंधी पूछा करते हुए प्रभु से प्रश्न करते हैं—“भगवन्! प्रत्याख्यान कितने प्रकार के हैं?”

प्रभु फरमाते हैं—“गौतम! प्रत्याख्यानों के दो प्रकार हैं—(१) सुप्रत्याख्यान, (२) दुष्प्रत्याख्यान।

गौतम—“भगवान! एक आगारी-साधक या एक अणगार-साधक यदि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के छह काय जीवों की हिंसा का मन, वचन और काया से न करने, न किसी अन्य से करवाने एवं करने वाले को अनुमोदन भी नहीं करने के प्रत्याख्यान (तीन करण, तीन योग से) लेता है तो क्या वह सुप्रत्याख्यान है?”

प्रभु—“गौतम! उसके प्रत्याख्यान कथंचित् सुप्रत्याख्यान हो सकते हैं और कथंचित् दुष्प्रत्याख्यान भी।”

गौतम—“प्रभु! ऐसा कैसे?”

प्रभु—“यदि उस प्रत्याख्यान करने वाले साधक को प्राण भूत जीव-सत्व की पहचान नहीं है, वह जीव-अजीव को सम्यक् प्रकारेण यदि नहीं जानता, उनके स्वरूप को नहीं पहचानता। एकेन्द्रिय आदि जीवों का स्वरूप, जीवों की जातियाँ आदि नहीं जानता, छह काय के विषय में उसकी जानकारी यदि नगण्य है तो उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान नहीं हो सकते, वे तो दुष्प्रत्याख्यान ही गिने जाएँगे।”

प्रत्याख्यान लेकर भी वह जिस बात के प्रत्याख्यान ले रहा है, उसके बारे में सम्पूर्ण जानकारी नहीं रखता तो वह मृषावादी हो सकता है, मिथ्याभाषी हो सकता है। नासमझी में वह हिंसा का त्यागी बन जाने के बाद भी हिंसा करने वाला हो सकता है।

जो जीवों के भेद, प्रभेद, इन्द्रिय, जाति, काय आदि की सम्पूर्ण जानकारी रखता है और सम्यक् प्रकार से लिए व्रत की पालना करता है तो वह सुप्रत्याख्यानी है।

#### □ व्रत के स्वरूप को समझना आवश्यक

स्पष्ट है कि केवल व्रत लेने से ही कार्य सम्पन्न नहीं होता। व्रत के स्वरूप को समझना भी आवश्यक है, अन्यथा व्रत का सम्यक्-प्रकारेण पालन कैसे संभव हो सकेगा? धारण करने से पहले यदि प्रत्याख्यान के स्वरूप को नहीं समझा, लिए हुए व्रत को समझने के अनंतर उसकी यदि सम्यक् रूप से पालना नहीं की तो व्रत-प्रत्याख्यान निष्फल ही रहेंगे।

क्षत्रिय राजऋषीश्वर भी मुनि संयति को अनेक वादों का ज्ञान देकर, अनेक मुक्तात्माओं के उदाहरण देकर भाँति-भाँति से उन्हें समझाकर मोक्ष के इस राजमार्ग पर दृढ़ता से चलने के लिए तैयार करते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने स्वानुभूत क्रियावाद आदि से संयति मुनि को परिचित कराया। इसके पश्चात् वे अपने पूर्वभव की बात बताकर दस चक्रवर्ती, आठ बलदेव, दर्शाणभद्र राजा, चार प्रत्येकबुद्ध-करकण्डू, दुमुख, नग्गति और राजर्षि नमिराज आदि जो मोक्ष गए, उनका वर्णन राजा संयति के सम्मुख करते हैं। भावना वही है कि इनके वर्णन करने से मुनि संयति भी मोक्ष-साधना में दृढ़ होकर शीघ्र मोक्ष प्राप्त करें।

वलि दसे चक्रवर्ती, राज-रमणी-ऋद्धि छोड़।

दसे मुक्ति पहुंच्या, कुल ने शोभा च्छोड़॥१९॥

#### □ मुक्तिगामी चक्रवर्ती

क्षत्रिय राजर्षि ने मुनिश्रेष्ठ संयति को बताया कि अर्थ और धर्म से उपशोभित पवित्र उपदेश सुनकर जिन-जिन पवित्रात्माओं ने उसे जीवन में ग्रहण किया, उन्होंने अपूर्वपद को प्राप्त कर चरम लक्ष्य की सिद्धि की। बारह चक्रवर्ती में से दस चक्रवर्ती सम्राट् ऐसे ही महानात्मा हुए जिन्होंने जिनवचनों को सुना तो राज्य एवं काम-भोग त्यागकर प्रव्रजित हो गए तथा उत्कृष्ट संयम का पालन कर मुक्ति के अधिकारी बने। ये दस चक्रवर्ती हैं—

(१) भरत, (२) सगर, (३) मघवा, (४) सनत्कुमार, (५) शांतिनाथ, (६) कुंथुनाथ, (७) अरनाथ, (८) महापद्म, (९) हरिषेण, (१०) जयसेन।

ब्रह्मदत्त एवं संभूम-ये दो चक्रवर्ती ऐसे हुए जिन्होंने चक्रवर्ती-पद का भोग भोगा और अत्यन्त रौद्र परिणामों के फलस्वरूप दोनों सातवीं नरक में गए।

### प्रथम चक्रवर्ती—भरतेश्वर

एवं पुण्णपयं सोच्चा, अत्थ-धम्मो वसोहियं ।

भरहो विभारहं वासं, चेच्चा कामाइ पव्वए ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३४

बंधुओं ! भरत प्रथम चक्रवर्ती थे। वे प्रथम तीर्थकर आदिनाथ ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभदेव के दो पत्नियाँ थीं—सुनन्दा और सुमंगला। एक बार सुख-शय्या पर निद्रालीन महारानी सुमंगला ने रात्रि के अंतिम प्रहर में चौदह स्वप्न देखे। प्रातःकाल महारानी महाराज के समक्ष उपस्थित हुईं। महाराज को अभिवादन किया और रात्रि में देखे हुए चौदह स्वप्नों का शुभाशुभ फल पूछा। महारानी ने जो चौदह स्वप्न बताए, वे इस प्रकार थे— (१) गर्जता, चिंघाड़ता, विशाल सूँड़ वाला हाथी, (२) ऊँचे स्कन्ध वाला श्वेत वृषभ (सांड), (३) केशरीसिंह, (४) लक्ष्मी, (५) पाँच वर्णों की माला, (६) सोलह कलाओं से युक्त चंद्रमा, (७) तेजस्वी सूर्य, (८) झूलती हुई पताकाओं वाला रत्न-जड़ित ध्वज, (९) कुम्भ-कलश, (१०) पद्मसरोवर, (११) अत्यन्त उत्ताल तरंगों वाला समुद्र, (१२) देव-विमान, (१३) अत्यधिक चमकते हुए रत्नों की राशि (ढेर), (१४) बिना धुएँ की अग्नि जो समस्त आकाश को प्रदीप्त बना रही थी।

#### □ ऋषभदेव के सौ पुत्र, दो पुत्रियाँ

अवधिज्ञान के धारक भगवान ऋषभदेव ने कहा—“देवी! आपने अति मंगलकारी स्वप्न देखे हैं। प्रिये! स्वप्न बहत्तर प्रकार के होते हैं। इनमें से तीस प्रकार के स्वप्न उत्कृष्ट फल देने वाले बताये गये हैं। तुमने जो चौदह स्वप्न देखे हैं, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। तीर्थकर अथवा चक्रवर्ती के गर्भ में आने पर ये स्वप्न दिखाई देते हैं। तुम निश्चय ही चक्रवर्ती-पुत्र की माता बनोगी। तुम्हारे गर्भ में से जो पुत्र पैदा होगा वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करने वाला, षट्खंडाधिपति, समस्त भरत क्षेत्र का अधिनायक एवं इस अवसर्पिणी का प्रथम चक्रवर्ती होगा।”

स्वप्न का फलादेश सुन महारानी सुमंगला का हृदय-कमल प्रसन्नता से खिल उठा। उसने जिज्ञासावश प्रश्न किया—“हृदयेश्वर! मुझे जो स्वप्न आए हैं, वे तीर्थकरों की माताओं को भी आते हैं तो मुझे तीर्थकर-पुत्र की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त न होने का क्या कारण है?”

प्रभु समझ गये कि मातृ-हृदय की सहज-आकांक्षा क्या है? कौन माता ऐसी होगी जो अपने पुत्र का सर्वश्रेष्ठ पद पर आसीन होना न देखना चाहेगी? प्रभु ने महारानी को समझाते हुए कहा—“प्राणेश्वरी! यह नियम है कि एक समय में एक ही क्षेत्र में युगपद् दो तीर्थकर नहीं होते।”

महारानी सुमंगला ने अपने को धन्य-धन्य माना। उसने मन ही मन कहा—‘मैं धन्य हूँ। मेरे पतिदेव युग के प्रथम तीर्थकर होंगे और मेरा पुत्र प्रथम चक्रवर्ती।’

गर्भ का समय पूर्ण होने पर महारानी सुमंगला ने युगल रूप से एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। प्रभु ने पुत्र का नाम रखा ‘भरत’ और पुत्री का ‘ब्राह्मी’।

प्रभु की दूसरी पत्नी सुनन्दा ने भी युगल रूप से एक पुत्र एवं एक पुत्री को जन्म दिया। इनके नाम रखे गये—बाहुबलि एवं सुन्दरी। इनके अतिरिक्त भगवान के ९८ पुत्र और हुए।

#### □ ऋषभ दीक्षित, भरत को वनिता का राज्य

आद्य तीर्थकर प्रभु ऋषभ के जब दीक्षा लेने का समय आया तो उन्होंने अपने सभी पुत्रों को बुलाकर बड़े पुत्र भरत को कहा—“पुत्र! अब तुम राज्य सँभालो। मैं संयम धारण कर मुनिव्रत ग्रहण करूँगा।” सुनकर सभी पुत्र उदास हो गये। भरत बोले—“पितृवर! हम आपका वियोग सहन नहीं कर सकेंगे, अतः आप यहीं रहें। हमें राज-पाट नहीं चाहिए।”

तब ऋषभ ने समझाया—“पुत्र! युगलिक काल समाप्त होकर अब कर्मभूमि का समय प्रारम्भ हो चुका है, इसमें वियोग तो सहना ही पड़ेगा। आने वाले समय में माता-पिता का, भाई का, पति को पत्नी का—पत्नी को पति का वियोग तो होगा ही।”

पुत्र विवश थे। प्रभु ने वनिता का राज्य भरत को दिया, तक्षशिला का बाहुबलि को दिया। शेष सभी को अन्य-अन्य नगरों का राज्य देकर वे पंचमुष्टि लोच कर प्रव्रजित हो गये। भरत का राज्याभिषेक धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

#### □ भरत को एक साथ तीन बधाइयाँ

बहुत समय बीत जाने पर एक दिन राज्य के तीन बड़े अधिकारी सहसा एक साथ ‘महाराज भरत की जय’ बोलते हुए राजसभा में आए। उनमें एक थे धर्माधिकारी, दूसरे थे आयुधशाला-अधिकारी और तीसरे थे अतःपुर के प्रधान।

महाराज का संकेत पाकर सर्वप्रथम धर्माधिकारी ने महाराज को अभिवादन करते हुए शुभ संदेश सुनाया कि इसी महानगरी के उपनगर पुरमिताल के शकटमुख उद्यान में भगवान श्री ऋषभदेव को 'कैवल्य' की प्राप्ति हुई है।

सुनकर महाराज हर्ष विभोर हो गये। सभी सभासदों के मन भी प्रसन्नता से झूमने लगे। तभी आयुधशाला अधिकारी कह उठा—“महाराजाधिराज की जय-विजय हो।” तब भरत ने पूछा—“कहो सौम्य! तुम क्या सन्देश लाए हो?” अधिकारी ने प्रसन्न स्वर में कहा—“स्वामी! आयुधशाला में आपश्री के पुण्य-प्रताप से देवाधिष्ठित चक्ररत्न प्रकट हुआ है।” निर्विकार भाव से भरत ने सुना और अंतःपुर के प्रधान की ओर उन्मुख हुए। “बधाई महाराज! महलों में महारानीश्री ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया है।” अंतःपुर के प्रधान ने खिलते हुए प्रफुल्लित वदन से संदेश दिया।

भरत ने कहा—“हम सर्वप्रथम पिताश्री के कैवल्य-प्राप्ति पर मंगलमय महोत्सव का आयोजन करेंगे।”

भरत राज्य-परिवार, राज्याधिकारी आदि सेना सहित भगवान के समवशरण की ओर चले। नागरिकों के अनेक परिवार भी साथ हो गये। देवेन्द्रों एवं देवों ने आकाश में और भरत ने धरती के धरातल पर बड़े उत्साह एवं समारोह के साथ आद्य तीर्थकर का कैवल्य महोत्सव मनाया। प्रभु की देशना सुनी। वहाँ से लौटकर आयुधशाला में चक्ररत्न की विधिवत् पूजा-अर्चना की और तब पुत्रोत्सव मनाया।

#### □ षट्खण्ड-विजय-यात्रा

कालान्तर में भरत अपनी विशाल सेना को लेकर षट्खंड-विजय के लिए निकले। आगे-आगे चक्ररत्न, पीछे-पीछे भरत। कइयों ने तत्काल बिना युद्ध किये ही भरत की अधीनता स्वीकार कर ली तो कइयों ने युद्ध किया। भरत ने अपनी सेना, अधीनस्थ सेवा कर रहे देवों की शक्ति एवं चक्ररत्न की शक्ति से पूर्ण भरत राज्य के छह खंडों को जीत लिया।

भरत चक्रवर्ती के विजय-अभियान का अंतिम पड़ाव ऋषभकूट पर्वत के निकट पड़ा। स्फटिक की भाँति निर्मल श्वेत प्रस्तर खंडों के गगनचुम्बी शिखर, एक सौ योजन ऊँचा, बड़ा भव्य-बड़ा उज्ज्वल। भरत ने चाहा—‘इस पर्वत के किसी प्रस्तर खंड पर मेरा नाम, मेरी उपलब्धियाँ अंकित होनी चाहिए। उठाया उन्होंने अपने हाथ में कांकिणी-रत्न

को। कदम बढ़ाये उस पर्वत की ओर। मन में सहज अभिमान कि मैं भरत क्षेत्र का प्रथम चक्रवर्ती हूँ। मुझसे पहले किसी भी मनुष्य ने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को अपने अधीन नहीं किया।’

#### □ सब कुछ नश्वर है

इन्हीं विचारों में पर्वत के निकट पहुँचे। कांकिणी-रत्न को उस तरफ बढ़ाया ही था कि...! आश्चर्यचकित भरत ने जो देखा उस पर उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वहाँ तो पहले ही किसी चक्रवर्ती का नाम व प्रशस्ति लिखी थी। अब उन्होंने दायीं ओर देखा, बायीं ओर देखा, ऊपर मुँह उठाकर देखा, चारों ओर फेरी देकर घूम-घूमकर देखा तो कहीं भी रिक्त स्थान नहीं। जहाँ देखो किसी न किसी चक्रवर्ती की प्रशस्ति।

भरत के अभिमान को ठेस लगी। विजयी चक्री का गर्व गल-गलकर बह निकला। उनका मान का भूत मस्तक से निकलकर धरती के नीचे दफन हो गया। असंख्य नाम, मुझसे पूर्व के चक्रवर्तियों के। कितना उद्यम किया था छह खंडों को साधने में पर लगा सब निष्फल-निस्सार है। तब उन्होंने विवश किसी अन्य का नाम मिटाकर स्वयं का नाम व प्रशस्ति लिखी।

ऋषभकूट से लौटे तो पूरे पथ में सोचते रहे कि ऐसे ही कभी कोई अन्य चक्री मेरे नाम को भी मिटा देगा और अपना नाम अंकित कर देगा। लगा-स्थायी कुछ नहीं है। सभी क्षणिक हैं, नाशवान हैं।

#### □ चक्रवर्ती-पद के लिए सहोदरों पर शासन

अयोध्या में उत्सव आयोजन हुआ। विजयी महाराज के नगर-प्रवेश पर उनका शानदार स्वागत, अभिनन्दन किया नगर-निवासियों ने। राजमहिषी ने आरती उतारी। महाराजा सिंहासन पर बैठे तभी सेनापति सुषेण आए और बोले—“महाराज! क्षमा करें। चक्ररत्न आयुधशाला के बाहर ही रुक गया है, अन्दर प्रवेश नहीं कर रहा है।”

भरत चिन्तित हुए तो राजपुरोहित बोले—“स्वामी! अभी तो आपके निन्यानवे सहोदर आपके अधीन कहाँ हुए? उनके आधिपत्य स्वीकार करने पर ही यह दिग्विजय पूर्ण होगी। भरत ऊहापोह में थे कि अपने ही भ्राताओं को पिता द्वारा प्रदत्त राज्य मैं कैसे छीनूँ? किस

मुख से उन्हें अधीनता स्वीकार करने को कहूँ? क्या उनके दिलों को ठेस नहीं लगेगी? इस पर राजपुरोहित ने राजनीति का प्रकाशन करते हुए चक्रवर्ती के लिए करणीय का भान कराया।”

भरत ने आश्वस्त हो अपने सहोदरों को लिखा कि मेरी अधीनता स्वीकार कर अपने-अपने राज्यों का सुखपूर्वक शासन करो। इस लिखित सन्देश को पढ़ अट्टाणु भ्राता तो पिताश्री से आज्ञा व मार्गदर्शन प्राप्त करने गए, वहाँ धर्मोपदेश सुन विरक्त बने, उन्होंने शाश्वत राज्य की प्राप्ति के लिये संयम-पथ ग्रहण कर लिया।

राजदूत संदेश लेकर बाहुबलि के पास भी गया पर बाहुबलि ने भरत के संदेश को टुकरा दिया। उसने आगंतुक राजदूत से कहा कि “अपने महाराज भरत को युद्ध के मैदान में मिलने का संदेश मेरी ओर से देना।”

भरत और बाहुबलि के युद्ध का वर्णन मैंने आप सभी को पूर्व प्रवचन में भगवान ऋषभ के सौ पुत्रों के मोक्ष जाने वाली गाथा के विवेचन में बताया था।

चक्रवर्ती भरत के शीशमहल में अंगुली से स्वर्ण-अंगुष्ठिका के गिर जाने पर चिन्तन, केवलज्ञान, प्रव्रज्या एवं सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होने का विवरण भी आप सुन चुके हैं।

### द्वितीय चक्रवर्ती—महाराज सगर

सगरोवि सागरन्तं भरहवासं नराहिवो।

इस्सरियं केवलं हिच्चा दयाए परिनिव्वुडे ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३५

भरत के बाद राज-ऋषीश्वर ने सगर चक्रवर्ती की संयम-साधना व निर्वाण की बात मुनि संयति को बताते हुए कहा कि सगर चक्रवर्ती भी सागर पर्यन्त अर्थात् तीन दिशाओं में समुद्र पर्यन्त एवं उत्तर दिशा में हिमवत् पर्यन्त भारतवर्ष के राज्य का एवं परिपूर्ण ऐश्वर्य का त्याग कर संयम के पथ पर चलते हुए छह काय जीवों के अभयदान का व्रत पालते हुए जप-तप साधना द्वारा निर्वाण को प्राप्त हुए।

अयोध्या नाम की एक नगरी थी। उस नगरी के राजा इक्ष्वाकुवंश के थे। नाम था उनका जितशत्रु। जितशत्रु के छोटे भाई सुमित्र राज्य के युवराज थे।



राजा जितशत्रु एवं रानी विजया के महान् पुण्यशाली एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया 'अजित'। यही 'अजित' आगे चलकर वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थकर भगवन्त हुए।

युवराज सुमित्र एवं उनकी पत्नी युवराज्ञी यशोमति के भी एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'सगर' रखा गया।

#### □ महाराज अजित दीक्षित, सगर राजा बने

राजकुमार अजित और युवराज-पुत्र सगर जब वयस्क हुए तो महाराज जितशत्रु ने अजित को राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ किया तथा सगर को युवराज के पद से शोभित किया। कालान्तर में महाराज जितशत्रु तथा युवराज सुमित्र दोनों ने दीक्षा धारण की और मुनि बन संयम का पालन करने लगे।

महाराज अजित ने कुछ समय तक राज-सुख भोगा, राजधर्म का पालन किया, राजा के कर्तव्यों का निर्वहन किया। वे तीर्थकर थे, अतः जब उनके धर्म-प्रवर्तन का समय आया तो उन्होंने दीक्षा लेने की भावना प्रकट की। युवराज 'सगर' को अपना राज्य सौंप दिया और उन्होंने स्वयमेव चारित्रधर्म अंगीकार कर तीर्थ-स्थापना की।

#### □ चक्रवर्ती-पद

सगर के चक्रवर्ती योग्य चौदह रत्नों की प्राप्ति कर लेने पर, उसकी इच्छा छह खंडों को अपने अधीन कर चक्रवर्ती बनने की हुई। उसने राज्य करते हुए भरत क्षेत्र के छह खंडों पर विजय प्राप्त की और चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया।

#### □ सगर के साठ हजार पुत्र यात्रा पर

चक्रवर्ती सगर के साठ हजार पुत्र हुए। इनमें से सबसे बड़े राजकुमार का नाम था—जह्नुकुमार। पट्टधर राजकुमार बहुत ही विनम्र, पितृभक्त, आज्ञापालक था। उसके गुणों व कार्यों से सगर अत्यन्त प्रसन्न व सन्तुष्ट रहते थे। शेष कुमार भी अपने अग्रज-भ्राता के सहगामी थे।

एक बार सगर चक्रवर्ती ने अत्यन्त प्रसन्न होकर जह्नुकुमार से इच्छानुसार वरदान माँगने को कहा। इस पर उस पट्टधर कुमार ने अपनी इच्छा प्रकट करते हुए पिताश्री से कहा—“पितृवर! मैं चाहता हूँ कि मैं अपने सभी भाइयों के साथ आपश्री के चौदह रत्न साथ

लेकर एवं राज्य की समस्त शक्ति को साथ लेकर सम्पूर्ण भूमण्डल की परिक्रमा करूँ। स्थान-स्थान का पर्यटन करूँ। वन-वन, नदी-नदी, पर्वत-पर्वत भ्रमण करूँ।”

#### □ अद्भुत शोभायुक्त हिमवंत

सगर ने सहर्ष इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी। जह्नुकुमार अपने उनसठ हजार नौ सौ निन्यानवे भाइयों के साथ चक्रवर्ती के धारण करने योग्य चौदह रत्न लेकर एवं चक्रवर्ती की विशाल सुसज्जित सेना साथ लेकर भू-भ्रमण को निकला। अनेक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, वन, पर्वत, सरोवर, प्रासाद, नदी-नाले, झरने आदि देखते, घूमते, मौज-शौक करते एक दिन वे सभी विशिष्ट शोभा से युक्त हिमवंत पर्वत के निकट पहुँचे। उस पर्वतराज की श्री, सम्पदा, शोभा, स्थान-स्थान पर बिखरा वैभव, हरियाली, पशु-सम्पदा, वृक्ष-सम्पदा, झरने, गुफाएँ आदि घूम-घूमकर, उस पर आरोहण कर, पर्वत-शिखर तक जाकर देखे और आश्चर्यचकित रह गये। वे इतना घूमे-फिरे पर ऐसा सर्व शोभा-सम्पन्न पर्वत उन्होंने अभी तक कहीं नहीं देखा था।

#### □ शोभा-सुरक्षा के प्रयत्न : नागराज की चेतावनी

घूम-फिरकर पुनः नीचे आए तो सहसा विचार आया कि इस पर्वत को सुरक्षित बना देना चाहिए ताकि इसकी श्री-शोभा-सम्पन्नता नष्ट न हो। उसकी सुरक्षा हेतु सभी ने वलयाकार खाई खोदने का निर्णय लिया। साठ हजार सगर-पुत्र। सभी ने दंड-रत्न का आह्वान कर अपनी अभिलाषा कही। दंड-रत्न ने भूमि का खनन प्रारंभ किया। देव-अभिमंत्रित दंड-रत्न, भला खोदते क्या समय लगता? खोदते-खोदते दंड-रत्न के प्रहार-विशेष भूमि के नीचे ज्वलनप्रभ नामक नागराज के नागलोक तक महसूस किए जाने लगे। अपने भवनों को इस प्रकार कम्पित होते देख ज्वलनप्रभ नागराज अति कुपित हुए। उन्होंने अनुचर-सर्पों से वास्तविकता का पता लगाने को कहा। वास्तविकता मालूम होने पर क्रोधित स्वर में उसने जह्नुकुमार को ऐसा न करने की चेतावनी दी।

#### □ सगर के साठहजार पुत्रों पर दृष्टि-विष

जह्नुकुमार स्वभाव से ही विनयी था, अतः नागराज की बात मानकर उसने खुदाई बंद करवा दी। पर सुरक्षा का कार्य चालू रखते हुए निर्णय लिया कि जितना गहरा भाग खोदा जा चुका है, उसमें गंगा का पानी भर दिया जाय तो पर्वतराज की बेहतर सुरक्षा हो सकेगी।

अब उन्होंने गंगा नदी के पानी से खाई को भरने का कार्य प्रारम्भ किया। कुछ ही देर बाद उन्हीं भवनों में वह पानी टपकने लगा। इस पर नागराज ज्वलनप्रभ अत्यन्त कुपित हो गया। उसने बहुत ही बड़ी संख्या में दृष्टि-विष सर्पों को उन सगर-पुत्रों के विनाश के लिए भेज दिया। उन दृष्टि-विष सर्पों ने समस्त सगर-पुत्रों को अपने नेत्रों की विषपरिपूर्ण अग्निज्वालाओं से भस्म कर दिया।

चौदह रत्न वहीं थे, पूरा का पूरा सैन्य वहीं था पर साठ हजार सगर-पुत्र अब वहाँ कहीं नहीं थे। अधिष्ठाता देव को चिन्ता लगी—‘क्या सगर इस सन्देश को सहन कर सकेंगे? कैसे झेलेंगे वे इस महान् दुःख को? शोक-मग्न कहीं वे अपना आपा न खो दें? मुझे कुछ करना चाहिए?’

#### □ साठ हजार पुत्रों के मरण की सूचना, पिता सगर को

उस देव ने अपनी माया से एक वृद्धा का रूप धारण कर कंधे पर एक मायावी लाश का शरीर रखकर सगर के राज्य में प्रवेश किया। धीरे-धीरे चलते हुए वह वृद्धा राजसभा में आई। कंधे से लाश उतारकर रखी। रोने-बिलखने लगी, विलापात करने लगी। उसने कहा—“हाय महाराज! मेरा तो एकाएक जवान बेटा मर गया। बुढ़ापे का सहारा चला गया। अब इसके बिना मैं क्या करूँगी? मेरा तो जीना ही व्यर्थ है। महाराज! आप समर्थ हैं, आप इसकी रक्षा कर सकते हैं। आप हमारे रक्षक हैं, आप इसे बचा लीजिये।”

महाराज सगर ने वृद्धा को समझाया—“ए वृद्धा! तुम रोना-धोना, विलाप करना छोड़ो। यह मानव देह तो है ही मरणधर्मा! जो जन्म लेता है, उसकी मृत्यु निश्चित है। मरने से कोई किसी को बचा नहीं सकता। तुम्हारे इस पुत्र का आयुष्य इतना ही था अतः अब रोना-धोना छोड़कर धैर्य धारण करो।”

वृद्धा रोना बंद कर पूछती है—“क्या यह सब सच है। आप जो कह रहे हैं वैसा निश्चित ही होता है।”

महाराज ने कहा—“मैं जो कहता हूँ उसमें तनिक भी असत्य नहीं है।”

वृद्धा—“यदि ऐसा है तो आप भी सावधान हो जाइये।”

सगर—“क्यों?”

वृद्धा—“क्योंकि आपके भी सारे के सारे साठ हजार पुत्र मृत्यु की गोद में समा गये हैं।”

सगर—“क्या बक रही हो तुम ? ऐसा हो नहीं सकता। तुम सरासर झूठ बोल रही हो।”

वृद्धा—“यह सरासर सत्य है महाराज !”

तब वृद्धा ने अपना देवरूप प्रकट कर हिमवंत पर्वत पर हुई पूरी घटना आद्योपान्त बता दी।

### □ सगर को विरक्ति और मुक्ति

सगर ने सुना तो मूर्च्छित हो सिंहासन से नीचे गिर पड़े। सभागार में हाहाकार मच गया। रनिवास में रानियाँ बिलखने लगीं। सारा शहर शोक-संतप्त हो गया।

उपचार किया गया महाराज का, तो उनकी चेतना पुनः लौटी। अपने पुत्रों के अभाव में राजमहल सूना-सूना लगने लगा। अत्यंत शोकमग्न बन वह चिंता करने लगा—‘मैं चक्रवर्ती सम्राट् हूँ, षट्खंड का अधिपति हूँ। महान् ऋद्धि एवं शक्ति-सम्पन्न चौदह रत्न मेरी सेवा में कार्यरत हैं। सोलह हजार देव मेरे सेवक हैं। हजारों नौकर-चाकर-सुभट हैं। चतुरंगिणी विशाल सेना है लेकिन मेरे साठ हजार पुत्रों की रक्षा में कोई समर्थ नहीं। न मैं उन्हें बचा सका और न मेरी ऋद्धि, सिद्धि, रत्न, सेना, सेवक-देव ही बचा सके। आज मुझे अनुभव हो रहा है कि ये सब निस्सार हैं, अविश्वसनीय हैं, समय पर रक्षा-सुरक्षा करने वाले कोई नहीं हैं। उन्होंने समझ लिया कि यहाँ सब कुछ क्षणिक है, नश्वर है। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई।

उन्होंने अपना राज्य जह्नुकुमार के पुत्र भगीरथ को सौंप दिया और स्वयं ने प्रभु अजितनाथ से अणगारधर्म का व्रत अंगीकार किया। निर्दोष संयम का पालन कर एवं उत्कृष्ट तपाराधन कर ‘सगर’ अपने समस्त कर्म-बंधन को तोड़ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

### तृतीय चक्रवर्ती—मघवा

चइत्ता भारहंवासं चक्कवट्टी महडिढओ।

पव्वज्जामब्भुवगओ मघवं नाम महाजसो ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३६

भरत क्षेत्र के षट्खंड साम्राज्य का त्याग कर एवं महान् ऋद्धि-ऐश्वर्य का परित्याग कर महान् यशस्वी चक्रवर्ती मघवा ने अकिंचन-व्रत रूप प्रव्रज्या स्वीकार कर निर्वाण प्राप्त किया।

मघवा श्रावस्ती नगर के राजा समुद्रविजय एवं उनकी रानी भद्रा के पुत्र थे। बचपन में कलाचार्य के पास राजकुमार ने अस्त्र-शास्त्र, शास्त्र एवं अन्य विद्याएँ तथा कलाएँ सीखीं। बड़े हुए तो नम्र, शूरवीर, विनयी, शांत, करुणार्द्र आदि अनेक गुण से भूषित हुए। पिता ने उन्हें जब राज्य-पद के योग्य देखा तो राज्य की बागडोर उनके हाथों में देकर दीक्षित हो गए।

राज-सिंहासन के भार का निर्वाह करते हुए कुछ काल बीता तब उन्हें सूचना मिली कि उनके आयुधागार में 'चक्ररत्न' उत्पन्न हुआ है। स्वयं राजा मघवा आयुधागार में गए। उन्होंने चक्ररत्न की पूजा-अर्चना की। चक्ररत्न की उपासना के अनंतर वे चक्ररत्न को लेकर अपनी सेना के साथ भरत क्षेत्र के छह ही खंडों पर विजय प्राप्त करने निकले।

छह खंड की साधना कर चक्रवर्ती-पद पर आरूढ़ हो मघवा ने लम्बे समय तक चक्रवर्ती के सुख-ऐश्वर्य-ऋद्धि को भोगा। एक बार मघवा चक्री धर्मघोष मुनि का धर्मोपदेश सुनने गए। मुनिवर का उपदेश अत्यन्त विरक्तिपूर्ण था। सुनकर चक्रवर्ती मघवा का मन संसार से विरक्त बन गया। अपने पुत्र को राज्य सौंप वे दीक्षित हो गए। निरतिचार चारित्र-पर्याय का पालन कर, उग्र तपश्चरण कर वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

### चतुर्थ चक्रवर्ती—सनत्कुमार

कुरू जांगल नाम का देश। उस देश में हस्तिनापुर नगर। नगर के राजा का नाम था— राजा अश्वसेन। उनकी रानी सहदेवी की कुक्षि से एक होनहार, सुन्दर, सुरूपवान पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम सनत्कुमार रखा गया। उत्तराध्ययनसूत्र के १८वें अध्ययन की ३७वीं गाथा में वर्णन आता है—

सणकुमार मणुस्सिंदो चक्कवटी महडिडओ।

पुत्तं रज्जे ठवेऊणं सोवि राया तवं चरे ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३७

अर्थात् मनुष्यों में इन्द्र के समान वैभव एवं रूप सम्पन्न महान् ऋद्धिमंत चक्रवर्ती सनत्कुमार ने संसार से विरक्त होकर पुत्र को राज्य का भार सौंपा और कठोर तपश्चरण करने लगे।

माता-पिता के चित्त को प्रफुल्लित करता हुआ, सबके मनो को मोहता हुआ सनत्कुमार बड़ा होने लगा। अल्पकाल में ही वह अनेक विद्याओं में निपुण बन गया, बहत्तर कलाओं का विशेषज्ञ बन उसने युवावस्था में प्रवेश किया।

#### □ कुमार की अश्व-क्रीड़ा

सनत्कुमार का एक घनिष्ठ मित्र था क्षत्रिय महेन्द्रसिंह। किसी समय पिता अश्वसेन द्वारा प्रदत्त एक अतिचपल एवं विपरीत गति वाले अश्व के साथ अश्व-क्रीड़ा करते हुए सनत्कुमार बहुत दूर तक निकल गए। सनत् के सारे ही साथी पीछे रह गए। सनत् के मित्र महेन्द्रसिंह ने अपने मित्र को ढूँढ़ने में अथक श्रम किया। अनेक घने जंगलों, पर्वतों, अटवियों में घूमा और अंत में उसे पा लिया।

दोनों अभिन्न मित्रों का अविस्मरणीय मिलन हुआ। महेन्द्रसिंह ने बताया कि उनके वियोग से उनके माता-पिता आदि कितने दुःखी हैं, प्रतीक्षारत हैं कि कब कुमार के समाचार मिलें, कब कुमार स्वयं आएँ?

सनत्कुमार ने भी घोड़े की उड़ान से लेकर अब तक कहाँ-कहाँ पहुँचे, क्या विपदाएँ आईं, किन-किन स्त्री-रत्नों से शादी हुई आदि बातें, जो घटीं, सभी बता दीं।

#### □ सनत्कुमार को राज्य, चक्रवर्ती-पद प्राप्ति

माता-पिता की व्यथा जान सनत् अपने मित्र सहित हस्तिनापुर आए। पुत्र को सिंहासन पर बिठाकर, राज्य-भार सौंपकर और महेन्द्रसिंह को सेनापति बनाकर अश्वसेन और सहदेवी दोनों ही दीक्षित हो गए। अनुक्रम से चक्र आदि चौदह रत्न प्रकट होने पर सनत् ने पूर्व चक्रवर्तियों की भाँति भरत क्षेत्र के छह ही खंडों पर विजय प्राप्त कर, चक्रवर्ती-पद ग्रहण किया।

#### □ देवलोक में सौन्दर्य प्रशंसा

एक बार देवराज शकेन्द्र की देव-सभा जुड़ी हुई थी। नृत्य-संगीत हो रहा था। तभी संगमदेव आकर शकेन्द्र से कुछ वार्त्ता करने लगा। संगमदेव इतना रूपवान था कि देव-सभा के समस्त देव उसके उस अनुपम रूप-लावण्य को विस्मय से एकटक निहारने लगे। नृत्य कर रही देवांगनाओं के थिरकते चंचल पाँव भी रुक गए और चंचल नयन संगम

की रूपराशि पर स्थिर हो गए। उसके चले जाने पर देव-सभा के सभी देवताओं ने शक्रेन्द्र से पूछा—“महाभाग! अनुपम कांति वाले, अद्वितीय सौंदर्ययुक्त एवं असाधारण प्रभा के धनी यह देव कौन हैं, कहाँ से आए हैं?”

इन्द्र ने उन्हें अभीष्ट उत्तर दिया तो पुनः देवों ने प्रश्न किया—“क्या इस जैसे अनुपम शारीरिक सौंदर्य के धारक और भी कोई इस लोक में हैं?”

शक्रेन्द्र ने बताया—“इससे भी अधिक रूपवान इस लोक में विद्यमान हैं। वह भी देव नहीं अपितु मनुष्य!” नाम बताते हुए शक्रेन्द्र बोले—“चक्रवर्ती सनत्कुमार रूप-सौंदर्य में धरा एवं सुरलोक दोनों में अद्वितीय हैं।”

#### □ सौंदर्य-दर्शन के अभिलाषी देव

देव-सभा के विजय एवं वैजयन्त नाम के दो देवों को शक्रेन्द्र की इस बात पर विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने इसकी जाँच करने का निश्चय कर लिया।

दोनों देवों ने अतिवृद्ध ब्राह्मणों का रूप धारण किया और हस्तिनापुर पहुँचे। द्वारपाल से चक्रवर्ती के दर्शनों की इच्छा प्रकट की। द्वारपाल ने कहा—“आपकी इच्छा यहाँ राजमहल में पूरी नहीं की जा सकती। आप राज्यसभा में महाराज से भेंट कर लीजिएगा।”

ब्रह्मवेशी देवताओं ने कहा—“भैया! हम तो बहुत दूर से आए हैं। जवानी में महाराज के रूप की प्रशंसा सुनकर चले थे, रास्ता पार करते-करते वृद्ध हो गए हैं। जैसे भी हो, हमें उनके रूप के एक बार दर्शन करा दो।” द्वारपाल के पुनः मना कर देने पर, वृद्ध बोले—“हम वृद्ध हैं। हमारी आयु का कोई भरोसा नहीं। हो सकता है अगले कुछ क्षणों, मिनटों में हमारे प्राण-पखेरू उड़ जाएँ और हमारे मन की इच्छा मन में ही रह जाए। तुम एक बार कहो तो सही अपने महाराज से।”

#### □ प्रतिपल शुभ भाव रखिए

बंधुओं! कितना यथार्थ तत्त्व कह गए वे देव! वस्तुतः मृत्यु का कोई भरोसा नहीं। पर इस बात का तर्क-वितर्क से धर्मकार्य में बाधक रूप में सहारा लेना भी उचित नहीं। संत कहते हैं—“भाई! पचरंगी में नाम लिखाओ।” भाई कहते हैं—“अरे बाब जी! काँई पचरंगी में नाम लिखावां। आप पांच दिन री बात करो पिण एक क्षण रो भी काँई भरोसो।” बंधुओं!

तर्क अपनी जगह ठीक है पर धर्मकार्य में यह कुतर्क है। भावों की धारा का, परिणामों की शुभ्रता का भी फल मिलता है। एक व्यक्ति के संलेखना-संधारा करने के परिणाम (विचार) हैं पर जिह्वा रुक जाती है, बोलना बंद हो जाता है, नहीं होती है संलेखना, नहीं होता है संधारा पर अन्तर् में जो भाव हैं उनका फल तो मिलना ही है। किसी व्यक्ति को किसी व्रत में दोष लग गया। वह मन ही मन पश्चात्ताप करता है। विचार करता है कि मैं गुरुदेव के सम्मुख दोषों को प्रकट कर, आलोचना कर प्रायश्चित्त कर लूँगा पर नहीं कर सका और काल कर जाता है। समझ लीजिए उसका पाप धुल गया।

#### □ देवों द्वारा सौन्दर्य प्रशंसा

ब्राह्मणों की बात पर द्वारपाल को भी विचार आया। उसने सूचना भिजवा दी। अन्दर से स्वीकृति मिल गई। दोनों वृद्ध ब्राह्मण धीरे-धीरे चलकर चक्री के निकट पहुँचते हैं। तेल-मर्दन कराते, उबटन लगवाते सनत् चक्री स्नान की तैयारी में थे। देह दप-दप दमक रही थी। ब्राह्मणों ने देखा उन्हें। बोले—“अनुपम, असाधारण, अप्रतिम सौंदर्य!” महाराज सनत्कुमार बोले—“विप्रदेव! अभी क्या रूप है? अलंकृत होकर राजसभा में राज-सिंहासन पर बैठूँ तब आइए और देखिएगा मेरे रूप-सौन्दर्य को।”

चक्री अपने शरीर-सौन्दर्य पर फूले हुए स्नानागार की ओर बढ़ गए। ब्राह्मण देव भी धीमे-धीमे कदम रखते हुए राजमहल से बाहर निकल आए।

#### □ पहले वाली बात नहीं रही

कुछ समय बाद दोनों ब्राह्मणों को राज्यसभा में बुलाया गया। राज-सिंहासन पर वस्त्राभूषणों से शरीर को अलंकृत कर चक्री सनत्कुमार विराजमान थे। उन्हें प्रतीक्षा थी कि अब ब्राह्मण मेरी, मेरे रूप-सौन्दर्य की और भी अधिक प्रशंसा करेंगे। उन ब्राह्मणों ने भी देखा चक्री को पर तब उनके चेहरे पर खेद झलक आया। उन्हें चुप देख और उनके चेहरे पर खेद की रेखाएँ देख चक्री ने पूछा—“क्यों विप्रदेव? क्या बात है? आपने कुछ कहा नहीं।”

तब दोनों विप्रों ने कहा—“महाराज! पहले वाली बात अब नहीं रही।”

चक्री सनत्कुमार ने पूछा—“क्यों भाई, ऐसी क्या बात हो गई?”



विप्र बोले—“आपका शरीर अब आधि, व्याधि, अनेक रोगों से युक्त बन गया है। आप स्वयं पीकदानी में थूककर परीक्षण कर लें।”

#### □ मती कर गर्व दिवाना

पीकदानी मँगाई गई। चक्री ने पीक थूकी और देखा—उस पीक में तो हजारों कीटाणु कुलबुलाते दिखाई दिए, तीव्र दुर्गंध चारों ओर फैल गई। सभी आश्चर्यचकित और स्वयं चक्री भी स्तंभित थे। कवि ने इसे कितने सुन्दर शब्दों में सँजोया है—

हांऽऽ मती कर गर्व दिवाना,  
 सुन सतगुरु की सीख सयाना,  
 धर्या रहे धनमाल, होत तन राख मसाना रे,  
 हांऽऽ मती कर गर्व दिवाना ॥  
 सनत्कुमार की सुन्दर काया,  
 अमर रूप देखण को आया,  
 गर्व किया उसी वक्त विलाया,  
 पीकदानी में थूकत कीड़ा देख डराना रे...  
 हांऽऽ मती कर गर्व दिवाना ॥

चक्रवर्ती ने अहंकार किया था अपने रूप का, सौन्दर्य का। यह अहं, यह घमण्ड, यह गर्व कितना घातक है, कितना आत्म-विनाशक है और कैसा तुरन्त-फुरन्त फल देता है। शरीर में सोलह प्रकार के रोग उत्पन्न कर दिए उस अहंकार के भाव ने। तुरंत पापोदय हुआ और फल प्रत्यक्ष दिखाई दिया। जाति और कुल-मद किये जाने पर नीच गोत्र बंध की बात स्थान-स्थान पर आई और आप सभी ने सुनी। आज रूप पर मद करने का इतना त्वरित कर्मबंध और उदय भी सुन लिया। बंधुओं! यदि सुनकर कुछ गुन सकें तो जीवन से ‘अहं’ की भावना का त्याग कर दीजिए। अहं भाव तन, मन एवं आत्मा तीनों का नाश करता है, अहं भाव का त्याग तन को स्वस्थ, मन को प्रफुल्ल और आत्मा को ‘स्व’ में स्थिर रखता है।

### □ विरक्ति और मुक्ति

आप गुनें या न गुनें, चिन्तन करें या न करें पर चक्रवर्ती सनत्कुमार चिन्तन में खो गए—‘मैंने व्यर्थ इस शरीर और इसके सौन्दर्य पर गर्व किया। जिसे मैंने अनुपम समझा था वही आज निस्तेज, लावण्यरहित एवं रोगग्रस्त है। वस्तुतः शरीर, सुन्दरता आदि क्षणिक हैं। वैभव, ऋद्धि, राजपाट सभी शरीर स्वस्थ, तन्दुरुस्त है तब तक के ही हैं। रानियाँ, पुत्र-पुत्री, दास-दासी सभी जीते-जी तक के साथी-सेवक हैं। इनमें आसक्ति रखना अज्ञानता ही है। शुक्र-शोणित, मल-मूत्र, रुधिर-माँस-मज्जा का यह घर चमड़ी से मँढ़ा है, भीतर साढ़े तीन करोड़ रोम और हर रोम में पौने दो व्याधियाँ व्याप्त हैं। इसमें कोई सार नहीं। मुझे अपना गर्व त्याग, इस शरीर पर से आसक्ति हटा, राज्यादि का त्याग कर आत्म-कल्याण का पथ ग्रहण कर लेना चाहिए।’

चिन्तन चलता रहा। विरक्तिभाव आया। पुत्र को सिंहासन पर बिठाया और विजयंघराचार्य से अणगारधर्म में दीक्षित हो गए। दीक्षित होने के पश्चात् वे निरतिचार कठोर संयमाराधन व उग्र तपश्चरण करने लगे। उनके अंतरंग में वैराग्य एवं समत्वभाव का झरना बह रहा था पर शरीर अनेक रोगों से जर्जरित था। कण्डू, कास, श्वाँस आदि अनेक महाव्याधियों को उन्होंने ७०० वर्ष पर्यन्त समभाव से सहन किया।

तीन लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर आयु के अंतिम भाग में चक्रवर्ती सनत्कुमार मुनि-पर्याय में पंच-परमेष्ठी का ध्यान धरते हुए कालधर्म को प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

आनन्द ही आनन्द!



## संति संति करे लोए

श्री शांतिनाथ भगवान ! अरजी सुन लीजो ।  
कर जोड़ करूं गुणगान, अरजी सुन लीजो ।  
थे तो अचिरा दे जी रा लाडला ।  
थारो नाम लिया दुःख जाय ॥ अरजी .....  
म्हाने भव जल पार उतारिए ।  
म्हारे दूजी नहीं कोय चाय ॥ अरजी.....  
इन्द्र - चन्द्र - नर - देवता..... ।  
थारे-लुल-लुल लागे पांय ॥ अरजी.....  
म्है तो ओलख लिया आपने ।  
म्हांणे दूजो न आवे दाय ॥ अरजी.....  
स्वामी नाथ शिष 'चौथमल' कहे ।  
म्हारे शांतिनाथ वर दाय ॥ अरजी.....

आत्म-बन्धुओं !

अरजी की गई है, दुःख दूर करने की। दुःख क्या है? भव-भ्रमण, जन्म-मरण, शुभाशुभ कर्मों का भोग—ये ही तो हैं दुःख! इन समस्त दुःखों से मुक्ति का एक ही उपाय है—मोक्षगति। प्रभु से हाथ जोड़कर, उनका गुणगान करते हुए आशु-कवि श्रुताचार्य स्वामीवर्य श्री चौथमल जी म. सा. कहते हैं कि हे भगवान शांतिनाथ प्रभो! आपका नाम-स्मरण करने से ही रोग, शोक, संताप जैसे सारे दुःख मिट जाते हैं। मेरी आपसे अन्य कोई अभिलाषा नहीं है, बस यही अभिलाषा है कि मुझे इस संसार-सागर से पार उतार दीजिये।

### □ जागरणा के प्रकार

संसार दुःखों का सागर है। पार यदि करना है इस सागर को तो आत्मा को जागृत बनाना होगा। भगवतीसूत्र में प्रभु ने जागरणा तीन प्रकार की बताई हैं—(१) धर्म-जागरणा, (२) अधर्म- जागरणा, तथा (३) सुदर्शन-जागरणा।

(१) धर्म-जागरणा—जो साधक संसार के दुःखों का स्वरूप समझकर, आत्मा एवं शरीर के भेद-ज्ञान को समझ लेता है और हर समय धर्म-साधना में लीन रहता है—उसकी जागरणा धर्म-जागरणा है। ऐसे साधक का सोना, निद्रालीन होना भी जागरणा में ही माना गया है। कारण यह कि ऐसा साधक स्वयं भले सो जाता है पर उसके भाव जागृत रहते हैं। तीर्थकरों के स्मरण व उनकी वाणी में लीन रहते हैं।

ऐसा कैसे होता है, आप चाहें तो इसकी अनुभूति आपको भी हो सकती है। आगम के किसी एक छोटे-से-छोटे, आसानी से उच्चरित होने वाले शब्द को पकड़ लीजिए और हर श्वासोच्छ्वास के साथ उस शब्द का स्मरण करिए। कुछ ही समयावधि बीतने पर आप देखेंगे कि वह शब्द रात्रि में शयन के पश्चात् भी आपकी भावनाओं में केन्द्रित बना, जागृत रहता है।

श्री हेमचन्द्राचार्य सूरि ने योगशास्त्र में जप के तीन प्रकार बताये हैं—(अ) भाष्य-जप, (ब) उपांशु-जप, और (स) मानस-जप।

(अ) भाष्य-जप—व्यक्ति जब तीव्र घोष के साथ जप करता है, मुँह से निकले उसके शब्द जब वायुमण्डल में चारों ओर विलीन होते हैं, सौ, दो सौ, पाँच सौ गज तक वे शब्द सुनाई दे जाते हैं तो वह भाष्य-जप कहलाता है। इस तरह के जप का कार्य है—वातावरण के अशुभ पुद्गलों को नष्ट कर, शुभ में परिवर्तित करना।

(ब) उपांशु-जप—साधक के मुँह से जप के शब्द तो निकलते हैं पर वे शब्द उसी के कानों तक पहुँचते हैं अर्थात् उन्हें केवल वह स्वयं सुनता है, अन्य कोई नहीं सुन पाता। ऐसा जप साधक की श्रोत्रेन्द्रिय को नियंत्रण में लाकर उसे अपने लक्ष्य पर स्थिर करता है।

(स) मानस-जप—मन के वर्गणा द्वारा श्वासोच्छ्वास के साथ चलने वाला होता है यह जप। इस प्रकार का जप कर्मों की विशेष निर्जरा करता है। इसी जाप को हम धर्म-जागरणा का नाम दे सकते हैं। यह प्रतिक्षण, प्रतिपल चलता रहता है। इसमें होंठ व जिह्वा नहीं हिलती। यह जप अन्तर्मुखी होता है।

(२) अधर्म-जागरणा—धर्म-जागरणा के विपरीत इसमें मन तो सुषुप्त रहता है पर केवल शरीर से जागृति रहती है। मन हर पल भौतिक पदार्थों में रहेगा। शरीर स्थानक में, सामायिक में, प्रवचन में, प्रतिक्रमण में कैसी भी स्थिति में, कैसी भी साधना कर रहा है पर मन उसका साधना-क्रिया में नहीं, परिवार-धन-धंधे आदि में रहेगा। ऐसा व्यक्ति जागरण में भी सोता हुआ गिना गया है।

(३) सुदर्शन-जागरणा—श्रावक एवं श्राविका वर्ग की जागरणा को सुदर्शन-जागरणा कहा जाता है। इसमें व्यक्ति समस्त सांसारिक कार्य करता हुआ भी ध्यान यह करता है कि मैं संसार में हूँ, मेरा कर्तव्य है इसलिए मैं यह कर रहा हूँ। जब वह सांसारिक कार्यों में होता है तो उसकी वह अधर्म-जागरणा होती है पर जब वह सामायिक, प्रतिक्रमण, संवर, पौषधादि में होता है तो वह उसकी धर्म-जागरणा होती है। सम्यग्दर्शन सहित जो धर्माधर्म-जागरणा है, वही सुदर्शन-जागरणा का रूप है।

जो महापुरुष अधर्म या सुदर्शन-जागरणा से धर्म-जागरणा तक पहुँचे और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने या बनेंगे—उन्हीं का वर्णन यहाँ चल रहा है। अब जिन तीन महापुरुषों का वर्णन आप सुनेंगे वे महनीय पुरुष चक्रवर्ती भी थे और तीर्थकर भी। अनुत्तर भोगी थे मानव-जीवन की दृष्टि से और अनुत्तरयोगी भी थे। प्रबल पुण्यवानी थी इन महापुरुषों की जिन्होंने दोनों महनीय पदों को भोगा।

### शांतिजिन चक्रवर्ती—पूर्वभव

चइत्ता भारहंवासं चक्कवट्टी महिड्डिओ।

सन्ती सन्तिकरं लोए पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३८

अपने पूर्वभव में चक्रवर्ती शांतिनाथ का जीव राजा मेघरथ के रूप में था। राजा मेघरथ पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहाँ महारानी प्रियमती की कुक्षि से उत्पन्न हुए। युवा होने पर सुमंदिरपुर की राजकुमारी के साथ इनका विवाह हुआ। मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी अत्यन्त दयालु और शरणागतरक्षक थे।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्य-भार सौंपकर दीक्षा ग्रहण कर ली। महाराज मेघरथ राज्य-सुख भोगने लगे पर न्याय, करुणा व अहिंसा के गुण आपमें अब भी विद्यमान थे।

### □ देवों द्वारा परीक्षा : शरण का महत्त्व

एक दिन एक कबूतर क्षत-विक्षत शरीर लिए, भय से कातर नेत्रों से देखता हुआ आपकी गोद में आ गिरा और पुकार उठा—“अभय ! महाराज मुझे बचाइये, अभय दीजिये।”

बंधुओं ! शरण का बड़ा महत्त्व है। जो समझते हैं उनके लिए तो शरण और मरण में कोई अन्तर नहीं। शरण माँगना अर्थात् मरना और शरण की रक्षा न करना अर्थात् मरना। शरण यदि धर्म की ली जाये तो मृत्यु पर विजय की प्राप्ति हो सकती है। संत आपको चार शरण देते हैं अतः वे शरणभूत हैं। ये चार शरण ही मोक्ष पहुँचाते हैं।

जिसने धर्म की शरण ग्रहण कर ली फिर उसे किसी अन्य शरण की आवश्यकता नहीं है। निश्चित रूप से उसकी सर्वत्र, सभी प्रकार से रक्षा होगी। तीर्थकर-चरित्र में भगवान महावीर के जीवन-चरित्र के प्रसंगों में इस तरह का एक प्रसंग मिलता है—

एक बार चमरेन्द्र ऊँचे देवलोक में जाकर उत्पात मचाने लगा। उसने वहाँ मार-पीट, लूट-पाट प्रारम्भ कर दी। वैक्रियलब्धिधारी था अतः अपने अनेक रूप बनाकर वहाँ के देवों को बड़ी परेशानी में डाल दिया। इस पर वहाँ के शक्रेन्द्र ने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। मालूम पड़ा कि यह तो चमरेन्द्र अपने अहंकार के वश यहाँ उत्पात करने के लिए आया है तो शक्रेन्द्र ने अपने वज्र को चमरेन्द्र की ओर फेंका। वह घबराया। वस्तु-स्थिति उसका सर्वनाश कर सकती थी। वह डरकर भागा। आगे चमरेन्द्र, पीछे वज्र। चमरेन्द्र भागता जा रहा था और सोच रहा था—‘अब मुझे बचाने वाला कोई नहीं है, मेरी मृत्यु निश्चित है।’

दोनों की दौड़ की होड़ में चमरेन्द्र धीरे-धीरे पिछड़ रहा था। अचानक उसे प्रभु महावीर ध्यान में लीन, साधना में तल्लीन नजर आये। उसने एक तीव्र दौड़ लगाई, अपना आकार बहुत ही लघु बनाया और प्रभु के दोनों पावों के मध्य छुप गया। शक्रेन्द्र अवधिज्ञान से यह सब देख रहे थे। स्थिति की यथार्थता को समझते हुए शक्रेन्द्र ने अपने वज्र-आयुध को पुनः पकड़ने के लिये तत्वरित गति से शक्रेन्द्र दौड़ कि प्रभु की अशातना नहीं हो जाये। जिस समय शक्रेन्द्र ने वज्र को झपटकर पकड़ा, उस समय वज्र प्रभु से केवल चार अंगुल की दूरी पर था।

शक्रेन्द्र ने कहा—“रे दुष्ट ! प्रभु की शरण चला गया है तू, अतः तुझे छोड़ता हूँ, अन्यथा आज तेरे टुकड़े-टुकड़े कर देता।”

आपको भी चार शरण प्राप्त हैं, अतः किसी प्रकार से भयभीत होने की आपको आवश्यकता ही नहीं है। अंतःकरण से धर्म-शरण स्वीकार कर लें तो कल्याण निश्चित है।

महाराज मेघरथ की गोद में क्षत-विक्षत शरणागत कबूतर एक देव था और उसका पीछा कर रहा था बाजरूप धारण किए एक अन्य देव। बात यह थी कि इन्द्र ने देव-सभा में मेघरथ राजा की दयालुता की प्रशंसा करते हुए कह दिया कि उसके समान करुणावंत संसार में अन्य कोई नहीं है। दो देव यह स्वीकार नहीं कर पाये। वैसे देवता चाहते तो मनुष्य-भव हैं पर मनुष्यों की प्रशंसा वे नहीं सुन सकते। दोनों देवों ने महाराज मेघरथ की परीक्षा लेने का निश्चय किया।

एक देव कबूतर रूप में महाराज की गोद में पड़ा तड़पता अभय माँग रहा था कि दूसरा देव बाज पक्षी के रूप में वहाँ आ पहुँचा। उसने कहा—“यह मेरा भोजन है। मैं भूख से मरा जा रहा हूँ। मेरा भोजन मुझे दीजिए।”

राजा ने शरणागत को लौटाने में अपनी असमर्थता बतलाई। भूख मिटाने हेतु अन्य-अन्य खाद्य-पदार्थ देने की कामना प्रकट की पर बाज ने कहा—“अन्य पदार्थ मेरी भूख नहीं मिटा सकते। सड़ा-गला पुराना माँस भी मेरी भूख को तृप्त नहीं कर सकता। मुझे तो ताजा माँस ही चाहिए। आप मेरे शिकार, इस कबूतर को मुझे सौंप दीजिए। इसे बचाकर, इसके प्राणों की रक्षा के लिए आप क्या मेरे प्राण निकलते देखना चाहते हैं। यह कैसा न्याय है आपका, यह कैसी शरणागत-रक्षा है आपकी?”

#### □ शरणागत-रक्षार्थ अपना बलिदान

राजा मेघरथ असमंजस में पड़ गये कि क्या किया जाये? अन्त में उन्होंने कबूतर के वजन के बराबर अपने शरीर का ताजा माँस काटकर देने का प्रस्ताव रखा। बाज ने इसे स्वीकार कर लिया।

अब तराजू मँगाया गया। एक पलड़े में कबूतर को रखा गया और दूसरे में राजा अपनी जाँघ का माँस काट-काटकर रखने लगे। ज्यों-ज्यों वे माँस काटकर पलड़े में रखते गये त्यों-त्यों कबूतर का पलड़ा भारी होता गया। दोनों जाँघों का माँस भी जब पूरा नहीं पड़ा तो महाराज स्वयं उचककर पलड़े में बैठ गये।

दोनों देव महाराज की अनुपम दयालुता व शरणागत की रक्षा हेतु इस प्रकार के बलिदान की भावना से अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना देवरूप प्रकट कर राजा मेघरथ की स्तुति की और अपने अपराध की क्षमा माँगी।

### □ काम-परीक्षा : इन्द्राणियाँ हार गईं

यह तो साधारण देवों द्वारा ली गई परीक्षा थी पर इससे भी कठोर, मन विचलित कर देने वाली परीक्षा अतिरूपा और सुरूपा इन्द्राणियों ने ली। रूपगर्विता इन इन्द्राणियों ने परीक्षा का समय भी कैसा चुना, जब राजा मेघरथ तेले के तप में पौषधशाला में पौषधव्रत में थे।

इन्द्राणियों का माया-जाल उस पौषधशाला के रूप-स्वरूप को बदलने लगा। कामोत्तेजक वातावरण, हरियाली, फूल, सुगंध, जलाशय, शीतल-मंद समीरण, प्रफुल्लित कमल, चहचहाते कर्णप्रिय आवाज करते पक्षी।

इन्द्राणियों ने विश्व-सुन्दरियों को मात करने वाला रूप बनाया। उनकी पायलें खनक उठीं। नृत्य-गीत की महफिल जमी। कामोत्तेजक नृत्य-गीत हुआ पर सब व्यर्थ रहे। राजा मेघरथ अविचल रहे। हारकर इन्द्राणियाँ निर्वस्त्र हो बेल की तरह मेघरथ से लिपट तन-मन-वचन से कामयाचना करने लगीं पर धन्य मेघरथ का संयम। इन्द्राणियाँ हार गईं, प्रभात के सूरज के साथ ही उन्होंने अपनी माया समेट क्षमायाचना की।

### □ तीर्थकर-नामकर्म उपार्जन

इन घटनाओं के पश्चात् राजा मेघरथ का हृदय संसार से उदासीन हो गया। अपने पुत्र मेघसेन को राज्य सौंप उन्होंने अपने लघु-भ्राता दृढरथ, सात सौ पुत्रों और चार हजार अन्य राजाओं के साथ महामुनि घनरथ से दीक्षा ग्रहण की। प्राणीदया से अनुत्तर-पुण्य का संचय किया ही था फिर उग्र तपश्चरण एवं निर्दोष संयमाचार-पालन से महती कर्मनिर्जरा करते हुए उन्होंने तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्तिम समय में अनशन की आराधना कर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

## तीर्थकर-चक्रवर्ती शांतिनाथ

### □ जन्म एवं नामकरण

देवलोक से च्यवकर मेघरथ का जीव हस्तिनापुर नगर के विश्वसेन राजा की रानी अचिरादेवी के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह उत्तम स्वप्न देखे। इस समय हस्तिनापुर



में फैले हुए 'मृगी' महामारी आदि उपद्रव शान्त हो गये। गर्भ का समय पूर्ण होने पर महारानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। गर्भ में आने पर महामारी शान्त हुई थी, अतः जन्मोत्सव पर उसका नाम 'शान्तिकुमार' रखा गया।

#### □ चक्रवर्ती-पद प्राप्ति

युवा होने पर यशोमति प्रमुख अनेक राजकन्याओं के साथ उनका विवाह किया गया। जब उनकी उम्र पच्चीस हजार वर्ष की हुई तब राजा विश्वसेन ने इन्हें राज्य सौंप दिया और स्वयं आत्म-कल्याणार्थ निकल गये। शान्तिनाथ महाराज के पच्चीस हजार वर्षों तक राज्य करने के पश्चात् एक बार उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। इस पर शान्तिनाथ महाराज ने भरत क्षेत्र के छह खण्ड के राजा-महाराजाओं को अपने अधीन बना चक्रवर्ती-पद को प्राप्त किया।

#### □ दीक्षा और केवलज्ञान

चक्रवर्ती-पद भोगते हुए पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर नौ लोकान्तिक देव आपकी सेवा में उपस्थित हुए और 'तीर्थप्रवर्तन' करने का विनम्र निवेदन किया। तब प्रभु ने वर्षीदान दिया, अपने पुत्र को राज्य सौंपा एवं एक हजार राजाओं के साथ सहस्राम्र वन में दीक्षा अंगीकार की। दीक्षा के पश्चात् एक वर्ष की साधना सम्पन्न होने पर आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

#### □ महानिर्वाण : मोक्ष

केवलज्ञान होने के पश्चात् पैंतालीस राजाओं ने प्रभु से दीक्षा अंगीकार की, ये सभी बाद में प्रभु के गणधर हुए। प्रभु २४,९९९ वर्ष तक केवली पर्याय में रहे। इन वर्षों में आपने लक्ष-लक्ष जन को प्रतिबोध दिया।

निर्वाणकाल समीप आया जान आप सम्मैद शिखर पर संलेखना-संधारा धारण कर आत्म-रमण में लीन हो गये। आपके साथ नौ सौ अन्य मुनियों ने भी अनशन किया। एक माह तक अनशनकाल रहा। ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को प्रभु श्री शान्तिनाथ ने देह का त्यागकर सिद्धगति को प्राप्त किया।

बंधुओं ! तीर्थकर भगवंत प्रभु शांति जिन के नाम-स्मरण का बड़ा चमत्कारी महत्त्व माना गया है। संसार के समस्त जड़-चेतन पदार्थों से ध्यान हटाकर, एकाग्रता और मन की

समग्र तल्लीनता के साथ किया गया शांति जाप निश्चय ही सुख-शांति प्रदान कर जीव के लिए साताकारी बन जाता है। शांतिनाम-स्मरण के महात्म्य का वर्णन कवि ने कितने सुन्दर ढंग से किया है—

श्री शांतिनाथ को कीजे जाप, कोड़ भवांरा काटे पाप ।  
शांतिनाथ जी मोटा देव, सुर-नर सारे जेहनी सेव ॥  
दुखदारिद्र सब जावे दूर, सुख संपत्ति पावे भरपूर ।  
ठग-फाँसी-गर जावे भाग, जलती होवे शीतल आग ॥  
राजलोक माँ कीरति घणी, शांति जिनेश्वर माथे धनी ।  
नित का सुमरे साधु-सती, फेरे माला जोगी जती ॥  
कांटे संकट, राखे मान, अविचल पद नो आपे स्थान ॥

क्षत्रिय राज-ऋषीश्वर चक्रवर्ती-तीर्थकर श्री शान्तिनाथ प्रभु का जीवन सुनाकर मुनि संयति को चक्रवर्ती तीर्थकर श्री कुंथुनाथ एवं अरनाथ का जीवन सुनाते हैं जिन्होंने जिनशासन की प्रभावना की, तीर्थ स्थापित किया व 'स्व-पर' कल्याण कर मोक्ष को प्राप्त किया ।

**चक्रवर्ती-तीर्थकर कुंथुनाथ—पूर्वभव**

इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नराहिवो ।  
विक्खायकित्ती धिइमं पत्तो गइमणुत्तरं ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ३९

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में खडिग नामक नगर था। वहाँ के राजा का नाम सिंहावह था। वह अत्यन्त धर्मपरायण राजा था। एक बार संकर नामक ज्ञानी आचार्य का आगमन हुआ। राजा सिंहावह उनके दर्शन के लिए गया। आचार्य ने उसे धर्मोपदेश दिया। राजा धर्मपरायण तो था ही, प्रवचन-पीयूष का पान कर वह विरक्त हो गया। अपने पुत्र को राज्य-भार सौंपकर उसने दीक्षाव्रत अंगीकार कर लिया और कठोर संयम का पालन करने लगा। उच्च कोटि की तपःसाधना करते हुए उसने तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देह का त्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की आयु वाला देव बना।

### □ जन्म एवं माता-पिता

सर्वार्थसिद्ध विमान से निकलकर सिंहावह का जीव हस्तिनापुर के महाराज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी के गर्भ में आया। उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने महान् मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को महारानी ने सर्वलक्षण-सम्पन्न एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। महाराज वसुसेन ने उस बालक का नाम रखा—कुन्थु।

युवराज कुन्थु अतिभव्य व्यक्तित्व के स्वामी थे। वे सौन्दर्य की साकार प्रतिमा थे। उपयुक्त आयु-प्राप्ति पर पिता ने अनेक अनिन्द्य सुन्दरियों के साथ आपका विवाह सम्पन्न करवाया। पौने चौबीस हजार वर्ष की आयु होने पर पिता ने इन्हें राज्य-भार सौंप दिया। शासक के रूप में उन्होंने स्वयं को सुयोग्य एवं पराक्रमी सिद्ध किया। पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त वैभव एवं राज्य को और अधिक अभिवर्धित एवं विकसित कर वे 'अतिजातपुत्र' की पात्रता के अधिकारी बने। लगभग पौने चौबीस हजार वर्ष का उनका शासनकाल व्यतीत हुआ था कि उनके शस्त्रागार में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। यह शुभ संकेत पाकर महाराज कुन्थु ने विजय अभियान की तैयारी की और इसके लिए प्रस्थान किया। अपनी शक्ति और साहस के बल पर आपने छह खण्डों को साधा और अनेक सीमा-रक्षक देवों पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन किया। छह सौ वर्ष तक निरन्तर युद्धों में विजय प्राप्त करते हुए वे चक्रवर्ती सम्राट् के गौरव से सम्पन्न होकर अपनी राजधानी हस्तिनापुर लौटे। आपका चक्रवर्ती महोत्सव बारह वर्षों तक मनाया जाता रहा। इस अवधि में प्रजा कर-मुक्त जीवन व्यतीत करती रही थी। सम्राट् चौदह रत्नों और नवनिधान के स्वामी हो गये थे। तीर्थकरों को चक्रवर्ती की गरिमा ऐश्वर्य के लिए प्राप्त नहीं होती—भोगावली कर्म के कारण होती है। अतः इस गौरव के साथ भी वे विरक्त बने रहते हैं। सम्राट् कुन्थु भी इसके अपवाद नहीं थे। विजय-यात्रा-काल सहित पौने चौबीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती-पद भोगा।

तीर्थ प्रवर्तने का समय आने पर लोकान्तिक देवों ने महाराज कुन्थु से प्रार्थना की—“भगवन्! धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें।”

चक्रवर्ती-पद पर रहते हुए एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्णा पंचमी को एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्र

वन में पहुँचकर छट्ट भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।

#### □ केवलज्ञान

भगवान सोलह वर्ष तक छद्मस्थ काल में विचरते रहे। विहार करते हुए आप पुनः हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन में पधारे और तिलक वृक्ष के नीचे बेले का तप कर ध्यानावस्थित हो गये। चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन आपको केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त हुआ। इन्द्रादि देवों ने भगवान का केवलज्ञान उत्सव मनाया। समवशरण की रचना हुई और भगवान ने धर्मोपदेश दिया। चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप तीर्थकर कहलाये।

#### □ परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के उपरांत २३,७३४ वर्ष तक प्रभु तीर्थकर के रूप में विचर कर भव्य जीवों का उपकार करते रहे। निर्वाण का समय निकट जानकर प्रभु सम्मेद शिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरों के साथ वैशाख कृष्णा प्रतिपदा के दिन एक मास के अनशन से मोक्ष पधारे। भगवान का कुल आयुष्य ९५,००० वर्ष का था।

#### चक्रवर्ती-तीर्थकर प्रभु अरनाथ

सागरन्तं जहि त्राणं भरहं नरवरीसरो।

अरोय अस्यं पत्तो पत्तो गड़मणुत्तरं ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ४०

अठारहवें तीर्थकर श्री अरनाथ भगवंत भी चक्रवर्ती-पद पर प्रतिष्ठित होने के पश्चात् दीक्षित हुए, केवलज्ञान प्राप्त किया, देशना दी, तीर्थों की स्थापना की तथा मोक्ष के अधिकारी बने।

#### □ पूर्वभव

जम्बूद्वीप के पूर्वविदेह में सुसीमा नामक रमणीय नगरी थी। वहाँ के धनपति नामक राजा थे। उन्होंने संवर नामक आचार्य के उपदेश को सुनकर दीक्षा ग्रहण कर ली। चारित्र ग्रहण कर तपःसाधना के द्वारा तीर्थकर-नामकर्म का उपार्जन किया। अन्त में अनशनपूर्वक देह का त्यागकर नौवें ग्रैवेयक विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

### □ जन्म एवं माता-पिता

ग्रैवेयक विमान से निकलकर धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी के गर्भ में आया। उसी रात को महारानी ने चौदह शुभ स्वप्नों को देखा। उसमें प्रथम स्वप्न में 'अर' अर्थात् चक्र को देखा था। गर्भकाल पूर्ण होने पर मिगसर शुक्ला दशमी को महादेवी ने एक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। महाराज सुदर्शन ने बालक का नाम स्वप्नों में प्रथम स्वप्न-दर्शन के आधार पर 'अर' रखा।

### □ गृहस्थावस्था एवं चक्रवर्ती-पद

कुमार 'अर' सुखी, आनन्दपूर्वक बाल-जीवन व्यतीत कर जब युवक हुए तो अनेक लावण्यवती नृप-कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ। इक्कीस हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उनका राज्याभिषेक हुआ। महाराज सुदर्शन समस्त राजकीय दायित्व 'अर' को सौंपकर विरक्त हो गये। महाराज 'अर' वंश-परम्परा के अनुकूल ही अतिपराक्रमी, शूरवीर और साहसी थे। अपने राजत्वकाल के इक्कीस हजार वर्ष व्यतीत हो जाने पर आपकी आयुधशाला में चक्ररत्न का उदय हुआ। नरेश ने चक्ररत्न का पूजन किया। विजय अभियान के लिए सेना को सुसज्जित कर प्रयाण किया। इस अभियान में महाराज 'अर' सेना सहित एक योजन की यात्रा प्रतिदिन किया करते थे और इस बीच में स्थित राज्यों के राजाओं से अपनी अधीनता स्वीकार कराते चलते थे। इस प्रकार समस्त भरतखण्ड में विजय-पताका फहराकर महाराज 'अर' चार सौ वर्षों के इस अभियान की उपलब्धि 'चक्रवर्ती गौरव' के साथ राजधानी हस्तिनापुर लौटे। देव-मानवों के विशाल समुदाय ने आपका चक्रवर्ती नरेश के रूप में अभिषेक किया। इसके साथ जो समारोह प्रारम्भ हुए वे बारह वर्षों तक चलते रहे। इक्कीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती का पद भोगा।

### □ दीक्षा एवं पारणा

भोगकाल के उपरान्त जब उदय-कर्म का जोर कम हुआ तब प्रभु ने राज्य-वैभव त्यागकर संयम ग्रहण करने की अभिलाषा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्दकुमार को राज्य सौंपकर आप वर्षीदान में प्रवृत्त हुए तथा याचकों को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओं के साथ बड़े समारोह के साथ दीक्षार्थ निकल पड़े।

सहस्राम्र वन में आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में छट्ट भक्त बेले की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

### □ केवलज्ञान

तीन वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहने के बाद भगवान हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन में पधारे। यहाँ कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन प्रभु को केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हुई। इन्द्रादि देवों ने भगवान का केवलज्ञान उत्सव मनाया। समवशरण की रचना हुई और उसमें विराजकर प्रभु ने धर्मोपदेश देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की।

भगवान 'अर' २०,९९७ वर्ष तक केवलज्ञानी तीर्थंकर रूप में विचरते रहे। निर्वाणकाल के निकट आने पर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेद शिखर पर्वत पर पधारे और एक मास के अनशन के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में मोक्ष पधारे। भगवान इक्कीस हजार वर्ष तक कुमारावस्था, इतने ही वर्ष मांडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती और इतने ही वर्ष व्रतपर्याय में रहे। प्रभु का कुल आयुष्य ८४,००० वर्ष का था।

बंधुओं! महापुरुषों का जीवन-चरित्र का श्रवण यदि श्रोताओं के जीवन में परिवर्तन की शृंखला स्थापित कर पाये तो ही श्रुत की, श्रवण की सफलता है। प्रतिदिन उन दिव्य-मोक्ष-प्राप्त आत्माओं के उज्ज्वल प्रसंग इसलिए सुनाये जा रहे हैं कि हमारी आत्मा भी उज्ज्वल बने। यदि आप अपनी आत्मा को उज्ज्वल बना सको तो निश्चय ही शाश्वत आनन्द की प्राप्ति होगी।

आनन्द ही आनन्द!



## धर्मो रक्षति रक्षितः

आत्म-बन्धुओं !

“धर्मो रक्षति रक्षितः।” संसार में केवल धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जो जीव की सभी तरह से रक्षा कर उसे सुरक्षा और अभय प्रदान करता है। चक्रवर्ती महापद्म के प्रसंग में आप ऐसा प्रसंग भी सुनेंगे, जिन्होंने धर्म-संघ पर आई विपत्ति से बचाने, धर्म की प्रभावना करने और साधु-संतों की रक्षा करने के लिए अपनी तपःप्राप्त लब्धि का प्रयोग किया। धर्मीजन ही धर्म और धर्मों की रक्षा कर सकते हैं। नीति भी यही कहती है कि धर्मो नहीं तो फिर धर्म कहाँ रहेगा? चक्रवर्ती महापद्म के साथ जुड़े इसी प्रसंग के कारण जैन-मान्यता के अनुसार आज के दिन अर्थात् श्रावणी पूर्णिमा को रक्षाबंधन पर्व प्रारम्भ हुआ था।

### □ चक्रवर्ती महापद्म

चइत्ता भारहवासं चक्कवट्टी नराहिओ।

चइत्ता उत्तमे भोए महापडमे तवं चरे ॥

—उत्तरा., अ. १८, गा. ४१

श्रीनगर का राजा प्रजापाल एक सुयोग्य शासक था। वर्षा ऋतु में घन-गर्जन के मध्य विद्युत्-चमक देखते एक बार राजा ने गगन-मंडल से बिजली को धरती पर गिरते देखा। इस दृश्य को देख राजा की चित्तवृत्ति ही बदल गई, जैसे स्वयं उसी पर बिजली गिरी हो। गिरती हुई उस बिजली ने उसे संसार की क्षणभंगुरता का चिन्तन दिया। संसार से विमुख बन राजा प्रजापाल ने समाधिगुप्त मुनि से अणगारधर्म स्वीकार किया। निर्दोषसंयम का पालन करते हुए ये मुनि कालधर्म को प्राप्त कर अच्युतेन्द्र देव बने। वहाँ से च्यवकर प्रजापाल का जीव हस्तिनापुर नगर में महारानी ज्वाला के गर्भ में अवतरित हुआ।

भरत क्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में राजा पद्मोत्तर का राज्य था। पद्मोत्तर की पट्टमहिषी महारानी ज्वाला सद्धर्मानुयायिनी थी और दूसरी रानी लक्ष्मी मिथ्याधर्म को मानने वाली थी।

रानी ज्वाला ने एक रात्रि में सुषुप्तावस्था में केशरीसिंह को अपने मुख में प्रवेश करते देखा जो इस बात का सूचक था कि कोई पुण्यशाली जीव माता के गर्भ में आया है। रानी ने गर्भकाल पूरा होने पर एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम विष्णुकुमार रखा गया।

कुछ समय पश्चात् महारानी ज्वाला ने चौदह महास्वप्न देखे, जो चक्रवर्ती की माताएँ देखती हैं। इस बार उसके गर्भ में प्रजापाल राजा का जीव अर्थात् अच्युतेन्द्र देवता का जीव आया था। गर्भकाल पूरा होने पर महारानी ने एक सर्वलक्षण-सम्पन्न, महातेजस्वी, अतिस्वरूपवान पुत्र को जन्म दिया। इसका नाम महापद्म रखा गया।

दोनों बड़े होने लगे। दोनों ने समस्त विद्याओं एवं कलाओं में दक्षता प्राप्त की। महाराज पद्मोत्तर ने युवावस्था आने पर महापद्म को युवराज-पद पर प्रतिष्ठित कर दिया।

युवराज महापद्म ने उज्जयिनी राज्य के पूर्व मंत्री नमुचि को अपनी सेवा में बिना विशेष जानकारी प्राप्त किए रख लिया। उन दिनों सीमा पर सिंहबल नाम का राजा लूटपाट मचाने लगा था। अनेक प्रयास करने पर भी वह पकड़ा नहीं गया था। महापद्म नमुचि से यह कार्य करवाना चाहता था। नमुचि भी तैयार हो गया। वह सेना लेकर गया और अपनी दाम-नीति, दंड-नीति, भेद-नीति व कूट-नीति अपनाकर युद्ध जीतने में सफल रहा। सिंहबल को उसने बन्दी बनाकर महापद्म के चरणों में लाकर डाल दिया।

महापद्म इस घटना से बहुत प्रभावित हुआ। उसने नमुचि से कहा—“मंत्रीवर! मैं आपसे बहुत खुश हूँ। माँगिए, क्या चाहते हैं आप, जो चाहते हैं सो माँग लीजिए, इन्कार नहीं करूँगा।”

इस पर नमुचि ने कह दिया कि आप इसे धरोहर समझ लीजिए। जब जरूरत होगी, मैं माँग लूँगा।

एक दिन नगर के बाहर जैन-संत भी पधारे और अन्यमति तापस संन्यासी भी। सद्धर्मानुयायी महारानी ज्वालादेवी ने गुरु-वन्दन की तैयारी की, धर्मरथ सजवाया और राजसी ठाट से दर्शनार्थ जाने को तैयार हुई। उधर लखमावती (लक्ष्मी) रानी भी अपने गुरु तापस संन्यासी की उपासना हेतु पालकी सजाकर तैयार हुई। दोनों ने नृपति से जाने की आज्ञा चाही। नगर से बाहर जहाँ मुनि एवं संन्यासी ठहरे थे, वहाँ तक पहुँचने का मार्ग एक ही था। लखमावती पहले जाना चाहती थी, ज्वालादेवी ने भी कह दिया—“गुरु-भगवंत के



दर्शनार्थ वे पहले पहुँचना चाहती हैं।” राजा कोई निर्णय नहीं कर सका। तभी लखमावती ने कुपित होकर कहा—“हे राजन्! यदि मैं महारानी से पूर्व नहीं जा सकती तो मुझे अन्न-जल के त्याग हैं।”

इस पर महाराज पद्मोत्तर ने दोनों ही रानियों को गुरु-दर्शनार्थ जाने से रोक दिया और क्लेश से बचने-बचाने हेतु दोनों को अपने-अपने महलों में जाने की आज्ञा दी।

महापद्म को जब यह ज्ञात हुआ कि मेरी मातुश्री को गुरु-दर्शनार्थ नहीं जाने दिया गया है तो सोचने लगा—‘मेरा इस राज्य में रहना, महलों में निवास करना, राजकुमार होना और युवराज-पद धारण करना, सभी व्यर्थ है। यदि मैं माँ की इस छोटी-सी अभिलाषा की भी पूर्ति नहीं कर सकूँ।’ चिन्तन करते हुए उसने चुपचाप राज्य त्यागने का निर्णय ले लिया। उसी दिन अर्द्ध-रात्रि में महापद्म राजकुमार अकेला ही अपने शस्त्र साथ लेकर महलों से निकल गया।

कई दिनों तक चलते रहने के पश्चात् महापद्म को एक जंगल में किसी ऋषि का सुन्दर उपवन व आश्रम दिखाई दिया। उसने सोचा—‘यहाँ मेरे कुछ दिन रुककर विश्राम लेने का उपयुक्त स्थान है।’ ऋषि से पूछने पर ऋषि ने भी उसे सहर्ष वहाँ रुकने की स्वीकृति दे दी। यह आश्रम था महाराज जनमेजय का, जो युद्ध में पराभव को प्राप्त हो जाने पर अपनी पत्नी महारानी नागवती एवं पुत्री राजकन्या मदनावलि के साथ तापस के वेश में यहाँ रहने लगे थे जिससे वे शत्रुओं की दृष्टि से बचे रह सकें। महापद्म की युवा-सुन्दरता पर मदनावलि की दृष्टि गयी तो वह मन ही मन उस पर समर्पित हो जाती है और एकटक उसे देखने लगती है। भूल गयी वह कि माता-पिता साथ हैं, ऋषि का आश्रम है। उसे तो बस केवल एक राजकुमार ही दिखाई दे रहा था।

महारानी अपनी पुत्री को इस प्रकार एक युवक को ताकते देख कहती है—“पुत्री! निमित्तज्ञ की बात याद कर। तू महापद्म चक्रवर्ती की पत्नी और हस्तिनापुर राज्य की महारानी बनेगी। अतः ऐसे-वैसे सामान्य पथिक की तरफ आकर्षित मत हो।”

महापद्म ने भी सुना और सोचा कि यदि यही बात है तो मुझे समय का उपयोग और अपने पुरुषार्थ का प्रयोग चक्रवर्ती बनने की दिशा में करना चाहिए। इसके लिए अब यहाँ से चल देना ही उचित रहेगा।

महापद्म वहाँ से चलकर सिद्धपुर आया। पुण्यवान पुरुष जहाँ भी जाते हैं, उनके पुण्य उनके आगे चलकर उनके मार्ग को प्रशस्त करते हैं। सिद्धपुर के नरेश महासेन उन दिनों

‘वसंतोत्सव’ मनाने नगर से बाहर राजोद्यान में आए हुए थे। राज-परिवार था, श्रेष्ठि-परिवार भी थे, सभ्य और इभ्यकुल के भी अनेक परिवार थे। उस दिन राजकुमारी अपनी सखियों के साथ सरोवर में जल-क्रीड़ा कर रही थी। अचानक राजा की गजशाला का एक हस्ति मदोन्मत्त हो पागल बना वहाँ चला आया। उसने राजकुमारी को सूँड़ में उठा लिया।

राजकुमारी का क्रन्दन, चीखना, रक्षा के लिए पुकारना और रोना सभी सुन रहे थे पर मदचढ़े हाथी के समक्ष कौन जाए? उधर संयोग से महापद्म निकला। उसने नारी-क्रन्दन और रक्षा की गुहार सुनी। वह त्वरित वेग से उद्यान में आया, देखा हाथी को और उसे अनेक तरह की आवाजों से अपनी ओर आकर्षित कर उससे भिड़ गया। हाथी ने उसे सम्मुख आकर निडरता से ललकारते देखा तो राजकुमारी को छोड़, महापद्म की ओर बढ़ा। दोनों के संघर्ष में गजयुद्ध की विद्या और उपयुक्त दाव-पेंच में महारथी होने से महापद्म ने हाथी को वश में कर उसका मद उतार दिया। महासेन ने उसे उच्च कुल का शूरवीर एवं लक्षण-सम्पन्न देख अपनी सौ राजकुमारियों का विवाह उससे कर दिया।

सिद्धपुर (सिंधुसदन) के राजमहलों में महापद्म के दिन अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत हो रहे थे कि एक दिन अर्द्ध-रात्रि के समय एक विद्याधरी राजमहलों में सोते हुए महापद्म का अपहरण कर वैताढ्यगिरि पर सुरोदय नगर के अधिपति विद्याधर इन्द्रधनु के यहाँ ले आई।

विद्याधर इन्द्रधनु के एक जयचन्द्रा नामक पुत्री थी। वह जयचन्द्रा स्वभाव से ही पुरुषों से विद्वेष रखने वाली थी अतः राजा इन्द्रधनु व रानी श्रीकान्ता, दोनों उसकी शादी के विषय में अत्यन्त चिन्तित थे।

विद्याधरी जो महापद्म को हरण करके लाई थी, जयचन्द्रा की बाल-सखी थी। उसका जब विवाह हो गया तो एक बार जयचन्द्रा अपनी उस सखी से मिलने उसके पति के घर गई। वहाँ सखी को सुखी, प्रफुल्ल, संतुष्ट देखा तो उसका पुरुष-वर्ग से द्वेषभाव मिट गया। माता-पिता ने तब विवाह के लिए अनेक राजकुमारों के चित्र उसे दिखाये। जयचन्द्रा ने महापद्म के चित्र को पसन्द किया। खोजबीन करने पर ज्ञात हुआ कि राजकुमार तो हस्तिनापुर को छोड़ चुपचाप कहीं प्रस्थान कर गए हैं और उनका कहीं पता नहीं है।

जयचन्द्रा ने यह सुना तो वह अत्यन्त उदास रहने लगी। सखी विद्याधरी को भी खबर मिली। वह राजकुमारी के पास आई, वचन दिया कि राजकुमार जहाँ भी हो, वह ले आएगी। विद्याधरी ने अनेक स्थानों पर उसे खोजा और मिलने पर हरण कर लिया।

महापद्म जब जगे तो नया स्थान, नए लोग। पूछने पर उसी विद्याधरी ने क्षमा माँगते हुए सारा घटनाचक्र सुना दिया। महापद्म शान्त रहे। इन्द्रधनु ने प्रसन्नता से जयचन्द्रा का विवाह महापद्म से कर दिया।

इस विवाह की बात सुनकर जयचन्द्रा से विवाह के इच्छुक दो विद्याधर—गंगाधर और महीधर सेना लेकर सुरोदयनगर पर चढ़ आए। कुमार महापद्म ने अत्यन्त वीरता एवं कुशलतापूर्वक उनका सामना किया। अंत में दोनों को जान बचाकर भागना पड़ा।

तभी दिव्य चक्ररत्न आयुधशाला में आकर उत्पन्न हुआ और महापद्म के निकट आकाश में स्थित हो गया। महापद्म ने हर्ष से उसकी पूजा की और उसे ले वे दिग्विजय के लिए निकल गए। सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को उन्होंने अपने अधीन बनाया। चक्रवर्ती की समृद्धि प्राप्त हो गई पर मदनावलि की याद उसे अभी भूली नहीं थी। वे तापस के आश्रम में आए। नागमती व मदनावलि उसे वहीं मिल गए। जनमेजय एवं नागमती ने मदनावलि का विवाह चक्रवर्ती महापद्म से कर दिया।

यह चक्रवर्ती महापद्म का चौदहवाँ रत्न था—स्त्रीरत्न। अब महापद्म चक्री थे। सोलह हजार देव उनकी सेवा में रहते थे। बत्तीस हजार मुकुटबंध राजा उनकी आज्ञापालन को अपना कर्तव्य मानते थे।

समस्त ऋद्धि-सिद्धियों एवं चक्रवर्ती की गरिमा से शोभित महापद्म अपने पिता के चरणों में हस्तिनापुर आए। पुत्र को राज्य-सिंहासन पर बिठा पिता पद्मोत्तर एवं अग्रज विष्णुकुमार ने सुव्रताचार्य मुनि से दीक्षा ग्रहण की। मुनि पद्मोत्तर कालान्तर में घोर तपस्या एवं निर्दोष संयम के प्रभाव से अष्टकर्म क्षय कर मोक्ष में गए।

मुनि विष्णुकुमार ने भी उग्र तपस्या की। वे अनेक ऋद्धियों, सिद्धियों एवं लब्धियों के स्वामी बन गए। आत्म-कल्याण में रमण करते हुए वे उग्र तपश्चरण करते, शुद्ध संयम पालते ग्राम-नगरपुर विचरण करते रहे।

बड़े भ्राता मुनि विष्णुकुमार एवं उनके गुरु सुव्रताचार्य की सेवा का लाभ प्राप्त करने के विचार से चक्रवर्ती महापद्म ने सुव्रताचार्य मुनि से हस्तिनापुर चातुर्मास की प्रार्थना की। चातुर्मास की प्रार्थना स्वीकृत हो गई तो मुनि विष्णुकुमार गुरु के पास आए और बोले—“भगवन्! मैं चातुर्मास में मंदराचल (सुमेरु) पर्वत पर ध्यानावस्थित रहने की आज्ञा चाहता हूँ। यहाँ से दूर रहकर ध्यानावस्थित होने का कारण है—‘यहाँ मेरे परिजनों का होना।’

सुव्रताचार्य संकेत समझ गए। साधना उत्कृष्ट प्रकार से हो, यह हर साधक चाहता है, उन्होंने आज्ञा दे दी। सुव्रताचार्य ने हस्तिनापुर में चातुर्मास स्थापित किया।

महापद्म के युवराज-काल में प्रधानमंत्री था नमुचि। अब जब महापद्म चक्रवर्ती हो गए तब भी महामंत्री नमुचि ही रहे। महापद्म को नमुचि पर पूर्ण विश्वास था। समस्त राज्य-प्रबन्ध नमुचि ही देखता था। महाराज तो महलों में आनन्द कर रहे थे।

विश्वास में ही विश्वासघात होता है। नमुचि में भले ही अनेक अन्य गुण थे पर एक बहुत बड़ा दुर्गुण था कि वह जैन साधुओं से विद्वेषभाव रखता था। चतुर इतना कि कभी इस बात को उसने प्रकट नहीं होने दिया। वैसे उज्जयिनी से महामंत्री-पद छोड़कर उसके यहाँ आने का कारण भी जैन-मुनियों से विद्वेष प्रसंग ही था। क्या था वह प्रसंग, आप भी सुन लीजिए—

“एक बार मुनि सुव्रताचार्य उज्जयिनी पधारे। राजा श्रीवर्म भी मुनिश्री के दर्शन, वन्दन, देशना-श्रवण करने हेतु गया। जहाँ राजा, वहाँ महामंत्री। उज्जयिनी का महामंत्री नमुचि भी महाराज के साथ था। देशना हुई। जैन-मुनि को नीचा दिखाने की भावना से नमुचि ने वैदिक कर्मकांड की प्रशंसा तथा वीतराग जिनेन्द्र भगवंत के धर्म की निन्दा प्रारम्भ कर दी। सुव्रताचार्य क्षमासागर थे, वे नमुचि के दुष्ट स्वभाव से भी परिचित थे अतः शांत विराजे रहे पर सुव्रताचार्य का एक लघुवयस्क मुनि-शिष्य इस अनर्गल प्रलाप और वितण्डावाद को सहन नहीं कर सका। उसने नमुचि से शास्त्रार्थ कर भरी सभा में, राजा व राज-परिवार के समक्ष उसे निरुत्तर कर दिया, पराजित कर दिया।

अपने इस अपमान का बदला लेने की भावना से वह उसी दिन अर्द्ध-रात्रि में हाथ में नंगी तलवार लिए उस लघु मुनि के प्राणहरण हेतु उद्यान में आया। समस्त मुनिगण निद्राधीन थे। लघु मुनि भी सोए थे। नमुचि ने तलवार उठाई, वार करने को तत्पर ही था कि एक अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से या फिर यूँ कह दीजिए कि तत्र विराजित मुनि-मंडल के तपोनिष्ठ श्रमण-जीवन के प्रताप से वह वहीं स्तंभित रह गया। पूरी शक्ति लगाकर भी वह न तो हाथ नीचे ला सका, न पाँव आगे-पीछे कर सका, वह तो गर्दन तक हिलाने में असमर्थ था। ऐसा बन गया जैसे पत्थर की मूर्ति हो।

प्रातः होते ही दर्शनार्थ आए नगर जनों ने उसे इस रूप में देखा। वायु-वेग की भाँति पूरे नगर में सबको ज्ञात हो गया। सारा नगर उसे देखने उमड़ पड़ा। सभी नमुचि पर

कटु-वचनों के प्रहार कर रहे थे। भयंकर बदनामी हुई। बहुत देर बाद जब स्तंभन का प्रभाव समाप्त हुआ तो पहले तो वह अपने घर में जाकर छुप गया फिर एक अँधेरी रात में चुपचाप उज्जयिनी को सदा-सदा के लिए त्याग कर चल दिया और हस्तिनापुर पहुँच गया।”

हस्तिनापुर पहुँचने के बाद जो कुछ हुआ, आप सुन चुके हैं। यहाँ सुव्रताचार्य मुनि-मंडल के चातुर्मास को देख, जनता को उनके दर्शन-वंदन करने हेतु जाते देख, राज-परिवार व सभासदों की उनके प्रति भक्ति देख नमुचि द्वेष से भभकने लगा, अन्दर ही अन्दर सुलगने लगा। इन्हीं सुव्रताचार्य के एक शिष्य ने मेरा उज्जयिनी में घोर अपमान किया था। कैसे उसका बदला लूँ? किस तरह उन्हें हानि पहुँचाई जाय?—नमुचि मन ही मन अनेक योजनाएँ बनाता रहा व बिगाड़ता रहा।

श्रावण का महीना आ गया। गगनमंडल मेघाच्छन्न रहने लगा। रिमझिम फुहारों से धरती की तपन बुझने की जगह, उमस निकलकर गर्मी को और अधिक बढ़ाने लगी। धर्मध्यान का हस्तिनापुर में ठाट-बाट बढ़ता रहा और नमुचि के दिल पर साँप लोटता रहा। शत्रु अपनी शत्रुता कभी भुला नहीं पाता, जिस पर दुष्ट-स्वभावी तो उसे रह-रहकर याद करता रहता है। वह तो यही समझता है कि गलती मेरी नहीं है। नमुचि भी यही सोचता-ये संत है तो क्या, साधु-संन्यासी है तो क्या पर इन्होंने अपराध किया है। बस! उसकी दृष्टि ही मिथ्यादृष्टि थी अतः उन्हें दूसरों में ही दोष, गुणियों में भी अवगुण ही नजर आते थे।’

एक दिन पूरी राजसभा जुड़ी हुई थी। आसपास के अनेक राजा-महाराजा, ठाकुर, उमराव, पंडित, विद्वान् आए हुए सभा की शोभा बढ़ा रहे थे। तभी महामंत्री नमुचि अपने आसन से उठा, हाथ जोड़कर बोला—

“राजन! मेरी एक धरोहर आपके पास रखी है, आपको स्मरण तो होगा ही।”

राजा ने पूछा—“आप क्या कहना चाहते हैं, मंत्रीवर?”

मंत्री—“आपने कभी मुझे वर देने का वचन दिया था।”

महापद्म—“हाँ, अवश्य दिया था। जब चाहो तब माँग लो।”

नमुचि—“मुझे अपने कार्य की सिद्धि के लिए आपका यह राज्य सात दिन के लिए चाहिये। सात दिन पश्चात् मैं आपका राज्य पुनः आपश्री को लौटा दूँगा।”

चक्रवर्ती महापद्म तुरन्त सिंहासन से नीचे उतर गया और बोला—“उपस्थित समस्त सभासदों! आज से सात दिन पर्यन्त मंत्री नमुचि इस सिंहासन के अधिकारी और राज्य के

राजा हैं। आप सभी इनकी आज्ञा का उसी तरह पालन करें, जैसे मेरी आज्ञा का पालन करते थे।”

भावी क्या है? परिणाम से अनभिज्ञ चक्री अंतःपुर में चले गए। नमुचि सिंहासन पर बैठा तो सही पर राजा-महाराजाओं का डीलडौल, रुतबा, तेज कहाँ से आए? चक्री के सिंहासन पर बैठा नमुचि ऐसा लग रहा था मानो कोई बंदर वहाँ आकर बैठ गया है।

साधारणजन सत्ता को सिर झुकाते हैं। इस नवीन घटना-चक्र में सिंहासनारूढ़ नवीन राजा को सभी ने बधाई दी। बधाई देने वालों में अमीर-उमराव, मंत्री, श्रेष्ठिगण, व्यापारी, पदाधिकारी, निकटवर्ती राजा आदि तो थे ही, जैन-मुनियों को छोड़कर अन्यलिंगी (वेशधारी) साधु एवं तापस भी गए।

‘राज्य-प्राप्ति पर बधाई देने नहीं आना’—यह एक कारण नमुचि के हाथ लग गया जैन-मुनियों से बदला लेने का। जैसे बंदर को बिच्छू तो खाया हुआ ही था, उसके हाथ में उस्तरा भी आ गया। कुपित नमुचि ने कहा—“ये जिनवाणी को मानने वाले, श्वेत वस्त्रधारी जैन-संत अत्यधिक गंदे, मैले-कुचैले रहते हैं। ये दूसरों की निन्दा करते फिरते हैं, बड़े निष्ठुर हैं, पाप-पुण्य की विवेचना कर लोगों को डराते हैं। ये दया-धर्म की दुहाई देते हैं पर महापापी हैं, हिंसक हैं। इन्हें सात दिन के भीतर मेरे इस छह खण्ड के भरत क्षेत्र के राज्य को छोड़ने का हुक्म दिया जाए। सात दिन में इन्होंने मेरे राज्य की सीमाओं को नहीं छोड़ा तो मैं इन सभी जैन साधुओं को घाणी में पिलवा दूँगा।”

आचार्यश्री तक नमुचि की आज्ञा पहुँचा दी गई। आचार्यश्री समझ गए कि आपत्ति सिर पर आकर खड़ी हो गई है। विकट-संकट था संघ पर, पूज्यश्री चिन्तामग्न हो गए—‘क्या करना चाहिए? विहार करें तो भी इस छह खण्ड के राज्य से बाहर कहाँ जाएँ।’

एक साधु ने विनयपूर्वक कहा—“गुरुदेव! एक उपाय हो सकता है। महामुनि विष्णुकुमार! अगर यहाँ आ जाये तो समस्या का समाधान हो सकता है।”

बात सटीक थी, वे ही नमुचि को शान्त बना सकते थे, संघ के हित में अपनी लब्धियों का उपयोग कर संकट को टाल सकते थे। लेकिन वे तो मंदराचल (सुमेरु) पर्वत की चूलिका पर थे। वहाँ जाए कौन?

एक अन्य साधु ने कहा—“प्रभु! सुमेरु की चूलिका तक आकाशमार्ग से जाने की शक्ति तो मुझमें है पर वापस नहीं लौट सकूँगा।”

गुरुदेव हर्षित हो गए। आशा की किरण उनके हृदय में उदित हुई।

गुरु ने आज्ञा दी, कहा—“पुनः तुम्हें यहाँ विष्णु मुनि लाएँगे।” साधु प्राप्त विद्या-बल से गगन में उड़कर सुमेरु पहुँचे। “निसीहि-निसीहि, मत्थएण वंदामि” कहा तो ध्यानस्थ मुनि ने आँखें खोलीं। देखा वहाँ एक अन्य लघु मुनि को। गुरुदेव एवं संघ की कुशलता की पृच्छा की। वे बोले—“गुरुदेव एवं संघ कुशल होते तो मैं आपकी साधना के इस समय बीच में ही आकर बाधा उपस्थित नहीं करता।” साधु ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। संघ के संकट को टालने हेतु मुनि विष्णुकुमार गुरु आदेशानुसार उन मुनि जी के साथ हस्तिनापुर आए। लघु मुनि को उनके चातुर्मास-स्थल उद्यान के निकट छोड़कर वे सीधे राजमहलों में पधार गए। मुनिश्री के पधारने का सन्देश अन्तःपुर में भिजवा दिया गया। भ्राता-मुनि के पधारने का सन्देश मिलते ही स्वयं चक्रवर्ती महापद्म उनके स्वागत में पधारे एवं उन्हें वन्दन, नमन किया।

मुनिश्री ने नमन का कोई प्रत्युत्तर न देते हुए चक्रवर्ती सम्राट् महापद्म से पूछा—“क्यों देवानुप्रिय! यह सब क्या हो रहा है? समस्त राज्य-संचालन ही नहीं अपितु सिंहासन तक महामंत्री नमुचि को देकर आप यहाँ अन्तःपुर में छुपकर क्यों बैठ गए हैं?”

इस पर चक्री महापद्म ने समस्त पूर्व वृत्तान्त बताते हुए कहा कि इस तरह वचनबद्ध दशा में मुझे अपने वचन का पालन करना पड़ रहा है।

मुनिश्री बोले—“चक्री! वचन-पालन तो ठीक है पर सिंहासनासीन अयोग्य व्यक्ति ने जिस द्वेषभावना के वशीभूत होकर जिनानुयायी-संतों को छह खंड छोड़ने का आदेश प्रसारित किया है, वह क्या उचित है? क्या तुम्हारा यह कर्तव्य नहीं है कि तुम उसे समझा-बुझाकर उससे यह आदेश निरस्त कराओ?”

चक्री महापद्म ने कहा—“मुनिवर! जो कुछ हुआ, वह अन्याय है, मुझे उस पर गहरा दुःख है पर मैं विवश हूँ, वचनों में बँधा हूँ, सात दिन तक कुछ भी नहीं कर सकता?”

मुनि विष्णुकुमार बोले—“ठीक है! तब मुझे ही इसका उपाय करना होगा।”

इतना कहकर मुनिवर वहाँ से राजसभा में पधारे। यहाँ मुनिश्री ने नमुचि को विविध भाँति से समझाने के अनेक प्रयत्न किए पर दुराग्रही नमुचि ने कोई बात नहीं मानी। वह तो एक ही हठ पर अड़ा रहा कि इन साधुओं को मैं अपने राज्य में नहीं रहने दूँगा। सातवें दिन महायज्ञ करूँगा जिसमें मलीन गंदे, मैले-कुचेले इन साधु के रहते यज्ञ सफल नहीं हो

सकता है। सात दिन में ये यहाँ से नहीं गए तो इन्हें मौत के मुँह में जाना ही होगा, यह मेरा अटल निश्चय है।

मुनि विष्णुकुमार ने तब नमुचि से कहा—“मैंने तो अपना चातुर्मास-स्थल छोड़ दिया है, अब मैं भी यहीं संयम-साधना करूँगा। मुझे अपने राज्य के बाहर उद्यान में ठहरने की आज्ञा दें।”

नमुचि ने गर्व से फूलते हुए कहा—“मुझे ध्यान है कि आप चक्रवर्ती महाराज के भ्राता हैं। इसी नाते मैं आपके छह दिवस-रैन के लिए ‘तीन पैर’ माप के बराबर भूमि पर ठहरने की आज्ञा देता हूँ पर सातवें दिन आपको भी मेरा राज्य छोड़कर कहीं अन्यत्र गमन करना होगा अन्यथा आपकी भी वही दशा की जायेगी जो शेष अन्य मुनियों की होगी।

इस तरह नमुचि के “तीन कदम जितनी भूमि देने के लिए” वचनबद्ध हो जाने पर मुनि विष्णुकुमार ने प्राप्त वैक्रियलब्धि का प्रयोग करते हुए अपने शरीर का विस्तार प्रारम्भ किया। मेरु पर्वत जितना विशाल विस्तार किया उन्होंने अपनी देह का। उनके देह-फैलाव से सूर्य का विमान विचलित हुआ, पृथ्वी उनके देहमान के भार से डगमगाने लगी। चक्रवर्ती के महल हिलने, कम्पित होने लगे मानो भूकम्प आ रहा हो। चक्री पद्म अन्तःपुर से बाहर आए। बाहर दृश्य अत्यन्त भयानक था। प्रलय जैसी स्थिति बनती जा रही थी। वे तीव्र गति से राजसभा में आए तो वहाँ का दृश्य ही निराला था।

राजसभा के सभी सभासद भय से प्रकम्पित सिर झुकाए जमीन पर डोल रहे थे। नमुचि पृथ्वी पर गिरा हुआ था। सिंहासन तथा अन्य आसन लुढ़के हुए पड़े धूल-धूसरित हो रहे थे। एक महान् विशाल काया गगन तक आकार बढ़ाए सभास्थल के मध्य खड़ी थी, जिसका केवल एक विशाल पाँव वहाँ दिखाई दे रहा था।

महामुनि विष्णुकुमार ने अपना एक पैर चुल्लहिमवंत पर्वत पर रखा, दूसरा चरण जम्बूद्वीप की जगती पर रखा और तब गम्भीर मेघ-गर्जन करते हुए कहा-कहो दुष्ट नमुचि! अब यह तीसरा चरण कहाँ रखा जाए?

तीसरा चरण तो कहीं रखना ही था अतः दुष्ट नमुचि की ओर देखते हुए बोले—“अरे ओ दुष्टाधिराज! तू ही तो इस राज्य का राजा है, तूने ही तीन पैर भूमि का वचन मुझे दिया है, ला अब तीसरा पैर रखने का स्थान बता?”



इतना कह मुनि ने पुनः उस दुष्ट पर तिरस्कारपूर्ण दृष्टि डाली और कहा—“तू मुनियों को घाणी में पीलना चाहता था। संयम के अनुचर, प्राणीमात्र पर दयाभाव रखने वाले करुणानिधि साधकों को मरवाना चाहता था। तेरे पाप का घड़ा भर चुका है। ले, अब चख अपने पाप का फल।”

मुनि विष्णुकुमार ने नमुचि के सिर पर अपना एक पाँव रखा, जोर लगाया, नमुचि धरती के भीतर धँसने लगा। कहाँ तक गया यह पता नहीं पर मुनि ने अपना पाँव धरती से पुनः बाहर निकालकर अपनी वैक्रियलब्धि को समेटा। जिस रूप, आकार-प्रकार के वे थे, पुनः उसी में स्थित हुए।

परिस्थिति की गम्भीरता और सर्वनाशक स्थिति को भाँपते हुए चक्री दौड़े और अपनी सुघोषा वीणा उठाकर अत्यधिक शान्त, मधुर, सुस्थिर, कर्णप्रिय संगीत की ध्वनियों से महामुनि को प्रसन्न करने लगे।

चक्री की पट्टमहिषी श्रीदेवी ने शान्त स्वर में मुनिश्री के प्रशस्ति गान प्रारम्भ किए।

नमुचि का समस्त परिवार काँपते हुए स्वरोँ में गिड़गिड़ाकर प्राणों की भीख माँगने लगा।

समस्त सभासद मुनि के क्रोध को शान्त करने हेतु उनकी प्रशस्ति करने लगे।

देवगण, इन्द्र और देवेन्द्र सभी मुनिवर को शान्त बनाने के उपाय करने में जुट गए।

सम्पूर्ण राज-परिवार भयभीत, क्षुब्ध बना मुनिश्री के क्रोध को शान्त करने हेतु उनकी चरण वंदना करने लगा।

चतुर्विध-संघ द्वारा भी शान्ति के लिए विनय, प्रार्थना, स्तुति करने पर संघ को आदर देकर तथा लोक के समस्त जीवों को दया का अधिकारी मान मुनिश्री शान्त हुए।

नमुचि के समस्त पारिवारिक जनों ने विष्णु मुनि को नमन-वंदन किया और संकल्प लिया कि हम प्रति वर्ष आज के दिन आपके नाम का रक्षा-सूत्र बाँधेंगे। जैन मान्यता के अनुसार तभी से रक्षा-सूत्र बाँधने-बाँधवाने की यह प्रथा ‘रक्षा-बंधन’ त्यौहार के रूप में प्रचलित हुई जो आज तक चल रही है।

मुनि का कोप पूर्णतः शांत हुआ। संघ का विकट संकट मिटा। विष्णु मुनि अब राजसभा से अपने गुरु सुव्रताचार्य की सेवा में उद्यान में आए। वन्दन, नमन कर संघहित

के लिए हुई हिंसा का प्रायश्चित्त लिया एवं उत्कृष्ट साधना करते हुए अन्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर सिद्धगति को प्राप्त हुए।

चक्रवर्ती महापद्म भी संसार से विरक्त हो अणगारधर्म में प्रव्रजित हुए, निर्दोष एवं उत्कृष्ट संयमाचरण कर, उग्र तपश्चरण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त बने।

### चक्रवर्ती हरिषेण

एगच्छत्तं पसाहित्ता महिं माणनिसूरणो ।  
हरिसेणो मुणुस्सिन्दो पत्तो गइमणुत्तरं ।।

—उत्तरा., अ. १८, गा. ४२

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के समय में, उनकी विद्यमानता में ही इस भरत क्षेत्र के दसवें चक्रवर्ती सम्राट् हरिषेण हुए।

इसी जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र के पांचाल प्रदेश के काम्पिल्य नगर में महाहरि नामक एक इक्ष्वाकुवंशीय राजा न्याय-नीतिपूर्वक प्रजा का पालन करते थे। उनकी पट्टमहिषी का नाम महिषी था। अनेक वर्षों तक ऐहिक ऐश्वर्य एवं विविध भोगों का उपभोग करते हुए महारानी महिषी ने एक रात्रि में चौदह शुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी ने चक्रवर्ती के सभी लक्षणों से युक्त एक ओजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता ने अपने उस पुत्र का नाम हरिषेण रखा। राजकुमार हरिषेण का ऐश्वर्यपूर्ण राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन किया गया। समय पर उसे उच्च कोटि के कलाचार्यों से सभी प्रकार की विद्याओं एवं कलाओं का शिक्षण दिलाया गया। भोगसमर्थ वय में युवराज हरिषेण का अनेक कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण करवाया गया।

३२५ वर्ष तक राजकुमार हरिषेण कुमारावस्था में रहे। तदनन्तर महाराज महाहरि ने अपने पुत्र हरिषेण का काम्पिल्य राज्य के राज-सिंहासन पर महोत्सवपूर्वक राज्याभिषेक किया। ३२५ वर्ष तक महाराज हरिषेण ने जब राज्य-सुख भोग लिया उस समय एक दिन महाराज हरिषेण की आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। चक्ररत्न के मार्गदर्शन में महाराज हरिषेण ने दिग्विजय का अभियान किया। १५० वर्षों तक दिग्विजय करते-करते महाराज हरिषेण ने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के छहों खण्डों की साधना की और वे चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर अधिष्ठित एवं चौदह रत्नों तथा नौ निधियों के स्वामी हुए। ८,८५० वर्ष तक

चक्रवर्ती-पद पर रहते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर शासन किया। तदनन्तर उन्होंने षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य और चक्रवर्ती की सभी ऋद्धियों को तृणवत् टुकुराकर सभी प्रकार के सावद्य कार्यों का परित्याग करते हुए श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। मुनि हरिषेण ने ३५० वर्ष तक घोर तपश्चरण करते हुए विशुद्ध संयम की परिपालना की और आठों कर्मों का अन्त कर १० हजार वर्ष की आयु पूर्ण होने पर वे अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष में पधारे।

### चक्रवर्ती जयसेन

अग्निओ रायसहस्सेहिं सुपरिच्चाई दमं चरे ।

जयनामो जिणक्खायं पत्तो गइमणुत्तरं ।।

—उत्तरा., अ. १८, गा. ४३

इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के परिनिर्वाण के दीर्घकाल पश्चात् उन्हीं के शासनकाल अर्थात् धर्मतीर्थ काल में इस भरत क्षेत्र के ग्यारहवें चक्रवर्ती सम्राट् जयसेन हुए।

आज से सुदीर्घ काल पूर्व मगध राज्य की राजधानी राजगृही नगरी में विजय नामक राजा राज्य करते थे। उनकी पट्टरानी का नाम वप्रा था। एक रात्रि में सुखप्रसुप्ता महारानी वप्रा ने १४ शुभ स्वप्न देखे। स्वप्नों को देखते ही महारानी जागृत हुई एवं हर्ष-विभोर हो उसी समय अपने पति महाराज विजय के शयन-कक्ष में गई और उन्हें अपने चौदह स्वप्नों का पूरा विवरण सुनाया। महाराज विजय ने प्रातःकाल स्वप्न-पाठकों को बुलवाया और उन्हें महारानी द्वारा देखे गये स्वप्नों का वृत्तान्त सुनाते हुए स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नशास्त्र में उल्लिखित तथ्यों पर चिन्तन-मनन के पश्चात् स्वप्न-पाठकों ने महाराज विजय से निवेदन किया—“राजराजेश्वर! राजेश्वरी महारानी ने जो चौदह स्वप्न देखे हैं, उनकी स्वप्नशास्त्र में सर्वश्रेष्ठ स्वप्नों में गणना की गई है। ये स्वप्न महाशुभ फलप्रदायी हैं। ये स्वप्न यही पूर्व सूचना देते हैं कि महारानी महापराक्रमी चक्रवर्ती पुत्ररत्न को जन्म देंगी।”

स्वप्न-फल सुनकर राजदम्पति, उनके परिजनों एवं पौरजनों के हर्ष का पारावार नहीं रहा। गर्भकाल पूर्ण होने पर महारानी वप्रा ने एक महातेजस्वी एवं नयनानन्दकारी पुत्ररत्न को जन्म दिया। महाराज विजय ने परिजनों, पौरजनों और अभ्यर्थियों को मुक्तहस्त हो सम्मान-दानादि से सन्तुष्ट किया। राजदम्पति ने अपने पुत्र का नाम जयसेन रखा।

राजकुमार जयसेन का शैशवकाल में राजसी ठाट-बाट से लालन-पालन, किशोर वय में राजकुमारोचित शिक्षण-दीक्षण और भोगसमर्थ युवावस्था में अनेक अनिन्द्य-सुन्दरी कुलीन राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया। शास्त्र-शस्त्रास्त्रादि विद्याओं तथा कलाओं में निष्णात राजकुमार जयसेन ३०० वर्षों तक कुमारावस्था में रहे। तदनन्तर महाराज विजय अपने पुत्र जयसेन को राज्य-सिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रव्रजित हो गये। महाराज बनने के पश्चात् जयसेन ने ३०० वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में शासन किया। अपनी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने के पश्चात् महाराजा जयसेन ने १०० वर्ष तक दिग्विजय करते हुए सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के छहों खण्डों पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहराई और वे चक्रवर्ती सम्राट् बने। चौदह रत्नों और नौ निधियों के स्वामी जयसेन ने १,९०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट् के पद पर रहते हुए सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर शासन किया। चक्रवर्ती जयसेन ने २,६०० वर्ष की अवस्था में षट्खण्ड के विशाल साम्राज्य, नौ निधियाँ और सम्पूर्ण ऐहिक प्रपंचों का परित्याग कर श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। ४०० वर्ष के अपने संयमी साधु-जीवन में विशुद्ध श्रमणाचार का पालन और घोर तपश्चरण करते हुए उन्होंने आठों कर्मों को मूलतः विनष्ट कर ३,००० वर्ष की आयु पूर्ण होने पर, जहाँ जाने के पश्चात् संसार में कभी लौटना नहीं पड़ता, उस अनन्त शाश्वत सुखधाम मोक्ष में गमन किया।

मुक्त-जीवों की यशोगाथा का पठन, पाठन, श्रवण महान् कर्मनिर्जरा का कारण है। उत्कृष्टभाव आने पर, गुणग्राही हो जाने पर जीव स्वयं मुक्ति के पथ पर अग्रसर हो शाश्वत आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। आप और हम उसी पथ पर अग्रसर हों, यही अभिलाषा है।

आनन्द ही आनन्द !



## जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा-१

(बलदेव कथा) पहले से सातवें तक

सेवो सिद्ध सदा जयकार, जां से होवे मंगलाचार.....  
अज अविनाशी, अगम अगोचर, अमल अचल अविकार  
अन्तर्यामी त्रिभुवन स्वामी, अमित शक्ति भण्डार.....

गीतकार ने इस स्तुति में सिद्ध भगवान का गुणगान किया है। सिद्ध प्रभु के गुणों का गान करने का उद्देश्य है, संसार से निवृत्ति की कामना। अब तक प्रवृत्ति में भी बने रहे और निवृत्ति में भी पर अब पूर्णतः निवृत्ति में ही बने रहने की कामना हो आई है, तभी सिद्ध प्रभु की स्तुति की है।

### □ संसार एक रंगशाला

बंधुओं! अनन्त-अनन्त काल से ये कर्म जीव को नचा रहे हैं। कभी ये हँसाते हैं तो कभी रुलाते हैं, कभी ताताथैया कराते हैं तो कभी निष्क्रिय उदासीन, स्तंभित बनाते हैं। संसार एक रंगशाला ही तो है और जीव चाहता है कि सदा-सदा के लिए इस रंगशाला से छुट्टी मिल जाये।

### □ आस्था नहीं तो मुक्ति नहीं

कब मिल सकती है ऐसी छुट्टी? कब होगा संसार के भव-भ्रमण से छुटकारा? कब होगी जन्म-मरण के जंजाल से मुक्ति? यह सब तभी संभव है जब जिनेन्द्र भगवान की वाणी पर दृढ़ आस्था हो। जब तक आस्था, श्रद्धा, विश्वास, प्रतीति नहीं तब तक इस जाल से बाहर निकलना असंभव है।

आस्था और रागभाव में अन्तर है। संत-प्रवचन हो रहे हैं। कहा किसी ने चलो, अमुक संत का प्रवचन है, आज हम प्रवचन ही सुनें।

सुनने वाला बोला—“अरे क्या संत-प्रवचन सुनें! कई बार सुन लिए हैं प्रवचन। सभी संत वही की वही बातें तो कहते हैं हमेशा। एक बार सुनो या दस बार। छोड़ो प्रवचन में जाना, आज तो यहीं घर पर गप्प-गोष्ठी जमाते हैं।”

आपने देखा, संतों के प्रवचन के प्रति कैसी विरक्ति है? क्या यह विरक्ति अच्छी है?

जबकि एक व्यक्ति नित्य व्याख्यान सुनता है। प्रतिवर्ष पर्युषण में अंतगडसूत्र का वाचन होता है। वही सूत्र, वे ही अध्याय, वे ही मोक्ष गये जीव... अनेकानेक बार सुन लिया फिर भी आता है पर्युषण तो सुनने जाता है और सुनता भी ऐसी एकाग्रता से कि जरा-सा भी कोई अन्य श्रोता आवाज करे, बात करे कि बीच में ही रोक देता है—“भाई, बोलो मत, सुनने दो, तुम भी सुनो।” क्या यह रागभाव है?

बंधुओं! यह भव-भ्रमण बढ़ाने वाला रागभाव नहीं है अपितु प्रशस्त रागभाव है, जो मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर करता है। वीतरागी वह होता है जिसका अप्रशस्त व प्रशस्त रागभाव बीत गया हो, समाप्त हो गया हो। धर्म, धर्मात्मा, गुण एवं गुणियों के प्रति रागभाव बुरा नहीं है। वीतरागी बनने पर यह भी छूट जाता है। वीतरागी बनने के लिए जीव का भावरहित होना आवश्यक है।

आप भवि जीव हैं या नहीं, यह आप जानें पर जो भवि जीव हैं उनके हृदय के किसी कोने में एक कामना निश्चित रूप से रहती है कि मेरा वह दिन धन्य होगा जिस दिन में संसार के आरम्भ-परिग्रह का त्याग करूँगा और संसार से उदासीन बन वैराग्य भाव की तरफ बढ़ूँगा। इसके लिए आवश्यकता है जिन वचनों पर अटूट आस्था, प्रतीति, विश्वास की।

### चार प्रकार के बल

बंधुओं! जिनवाणी में प्रतीति, आस्था, विश्वास के लिए उत्कृष्ट मनोबल चाहिए। नीतिकारों ने बल चार प्रकार के बताये हैं—प्रतीतिबल, क्रियाबल, बुद्धिबल और स्मृतिबल। शास्त्रकार कहते हैं कि इन चार ‘बलों’ के साथ यदि एक ‘बल’ और मिल जाये तो व्यक्ति उन्मार्ग से सन्मार्ग में आ सकता है और राग से विराग की ओर बढ़ सकता है। क्या है वह पाँचवाँ ‘बल’? वह है आत्मबल या विवेकबल या धर्मबल। धर्मबल यदि मिल जाता है तो दण्ड (चौबीस दण्डक), दुर्गति (चार गति-चौरासी लाख जीव योनि) आदि की सजा से बचा जा सकता है।

(१) **प्रतीतिबल**—प्रथम चार बल में प्रतीतिबल विश्वास जगाता है। किसी भी कार्य में लाभ की, सुन्दर फल की, अनुकूल परिणाम की प्रतीति न हो तो वह कार्य सम्पादित नहीं किया जा सकता। व्यापारी को व्यापार-धंधे में लगता है कि सौदे में अच्छा लाभ होने वाला है तो वह सौदे की क्रियान्विति करता है। प्रतीति करवाती है क्रियान्विति।

(२) **क्रियाबल**—जब किसी बात, सिद्धान्त, प्ररूपणा पर प्रतीति हो जाय तो उसे परिणति में बदलना ही क्रियाबल है। श्रद्धा आते ही उसके अनुरूप साधना, व्रत-प्रत्याख्यान आदि में जुट जाना ही क्रियान्विति है।

(३) **बुद्धिबल**—व्यक्ति जब किसी कार्य को प्रारम्भ करने का निर्णय ले लेता है तो अपनी बुद्धि द्वारा कार्य के हिताहित का चिन्तन करता है। धंधा यदि है तो वह बुद्धि द्वारा चिन्तन करता है कि किस समय किस वस्तु की कहाँ से खरीद करे जिससे वस्तु सस्ती मिले और बेचने पर अच्छा लाभ हो। किसे खरीदना, किसे बेचना, किसे रोके रखना आदि सारे निर्णय इसी बुद्धिबल द्वारा होते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में देव, गुरु, धर्म आदि का सम्यक् निर्णय करना यही बुद्धिबल का काम है।

(४) **स्मृतिबल**—बुद्धि द्वारा निर्णय लेकर माल तो खरीद लिया पर खरीदकर, गोदाम में भरवाकर भूल गये तो हानि ही होगी। व्रतादि की स्मृति न रखना भी ऐसा ही है, भूले तो हानि और चूके तो चौरासी।

#### □ सभी बल धर्म के साथ जुड़ें

इन चारों ही बल के साथ एक बल और जोड़ने की बात कही थी, वह है धर्मबल। वह यदि जुड़ जाता है—प्रतीति, कार्य आदि में तो लाभ ही लाभ। जो चार बल संसार की प्रवृत्ति में ले जा रहे थे, वे ही अब निवृत्ति की ओर ले जाने वाले बन जाते हैं। निवृत्ति में आने पर दिशा परिवर्तन और मोक्ष निश्चित/आरक्षित हो जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम विपरीत दिशा से सम्यक् दिशा में आएँ। सम्यग्दृष्टि आते ही मंजिलें जो दूर थीं, नजदीक आनी शुरू हो जाती हैं। इन चार बलों व इनके साथ धर्मबल की युति को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।

#### धर्मबल का प्रतीक राजा भोज (दृष्टांत)

राजा भोज पण्डित था, ज्ञानी था, विद्वान् था। उसका नियम था—वेश बदलकर राज्य में घूमना व दीन-दुःखी, जरूरतमंद लोगों का पता लगा उनके दुःख को मिटाना। राजा

यथार्थ में वही है जो प्रजा के सुख-दुःख का राई-रत्ती ध्यान रखकर, उनके दुःखों को मिटाये।

एक रात्रि के दूसरे प्रहर में राजा भोज वेश-परिवर्तन कर नगर में चक्कर लगा रहा था। अर्ध-रात्रि का समय होने वाला था। इतने में राजा भोज को नगर के राजमार्ग पर चार व्यक्ति गुप-चुप चलते नजर आये। राजा को वे संदिग्ध लगे अतः राजा उनके पीछे-पीछे चलने लगा, टोह लेने कि वे कौन हैं, कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं?

एक स्थान पर आगे चल रहे चारों व्यक्ति ठहर जाते हैं। भोज ठहरता नहीं, वह तो अपनी चाल से चलता हुआ इनके निकट पहुँच जाता है। इन चारों को खड़ा देख अचानक रुक जाता है, जैसे अभी-अभी इन्हें देखा हो। पूछता है भोज—“कौन हो तुम?” वेश तो बदला हुआ था अतः उन चारों ने समझा यह भी कोई हमारी तरह ही है। उनमें से एक ने उलटकर प्रश्न किया—“तुम कौन हो?”

भोज बोले—“जो तुम हो, वही मैं हूँ।”

चारों में से एक—“हम कौन हैं?”

भोज—“क्यों छुपाते हो? जाति भाई से कभी कोई छुपा रह सकता है? जो तुम्हारा कार्य, वही मेरा कार्य। यह छुपना-छुपाना किसलिए? धर्मी-धर्मी सारे बंधु वैसे ही पापी-पापी सारे बंधु।”

चारों में से एक—“कहाँ जा रहे हो?”

भोज—“जहाँ तुम जा रहे हो, वहीं मैं भी जा रहा हूँ।”

चारों अज्ञातजन—“साफ-साफ क्यों नहीं बताते। गोल-मोल जवाब क्यों देते हो? स्पष्ट कहो।”

भोज—“स्पष्ट बता दूँ। सच्ची बात तो यह है कि तुम हो चोर और मैं भी हूँ चोर। तुम भी चोरी करने जा रहे हो और मैं भी चोरी करने जा रहा हूँ।”

इतनी सब वार्ता हो जाने पर उन चारों को, जो वस्तुतः चोर ही थे, राजा भोज पर प्रतीति हो गई कि यह भी कोई चोर ही है और चोरी करने जा रहा है।

प्रतीतिबल हो गया, विश्वास जम गया। सोचा—‘चलो, चार से पाँच हो जायेंगे तो हमारा बल बढ़ जायेगा।’



एक ने भोज से पूछा—“तुम चोर हो। चेहरे-मोहरे से प्रतिभाशाली लगते हो। उम्र से अनुभवी भी लगते हो। क्या तुम्हें कोई विशेष कला भी आती है या साधारण चोर ही हो?”

भोज ने कहा—“मेरी कला तो मैं बाद में बता दूँगा पर तुम लोग बताओ, तुम सब कौन-कौन-सी कलाएँ जानते हो?”

इस पर एक बोला—“मैं ऐसी कला का ज्ञाता हूँ जिसके प्रयोग करने पर जहाँ भी चौर्यकर्म हेतु कदम रखता हूँ। उस घर के सारे लोग गहरी निद्रा में सो जाते हैं और हमारा चोरी करने का कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाता है।”

दूसरे ने कहा—“मैं जब अपनी कला का प्रयोग करता हूँ तो सारे ताले अपने आप खुल जाते हैं।”

तीसरे ने कहा—“मैं जब इन सबके साथ चोरी करने जाता हूँ तो अपनी कला से ध्यान लगाकर जमीन में गड़े धन-माल खजाने का पता बता देता हूँ।”

चौथा बोला—“मुझमें कोई विशेष कला तो नहीं है पर मैं जिस व्यक्ति को एक बार देख लेता हूँ उसकी बोली सुन लेता हूँ फिर जीवनभर उसे नहीं भूलता। वर्षों बाद, समुद्रों पार भी मिले तो भी मैं उसे पहचानने में भूल नहीं करता। यदि वह जागता सो रहा है तो भी मुझे पता लग जाता है कि अमुक व्यक्ति सोने का बहाना कर रहा है।”

अब राजा भोज से उसका नाम पूछा गया तो राजा भोज ने कहा—“मेरा नाम है भोजिया।”

पूछा गया—“तुम कौन-सी कला जानते हो?” तो भोज ने बताया कि “मैं एक ऐसी कला जानता हूँ कि गर्दन हिला दूँ तो फाँसी के फंदे पर चढ़ा व्यक्ति साफ-साफ बचकर निकल जाये।”

सुना चारों ने तो सभी खुश हो गये। आदमी है तो काम का। कभी यदि पकड़े भी गये तो यह हमें फाँसी से तो बचा ही लेगा। मौत का भय सबसे बड़ा भय होता है। बाकी सारी सजाएँ भोगने का उतना डर नहीं क्योंकि जान यदि बच गई तो सब कुछ बच गया। जीवन है तो घर-परिवार-स्वजन-परिजन-धन-सम्पत्ति सब काम आयेंगे पर जान ही चली गई तो पीछे जो रहा, उससे जाने वाले का क्या स्वार्थ-सिद्ध होगा?

तभी भोज ने कहा—“बंधुओं! आज की रात बीत रही है। क्या विचार है? किधर चला जाये?”

उन्होंने कहा—“आज नगरसेठ के यहाँ चलते हैं। वहीं चोरी करेंगे। अच्छा माल हाथ लगने की आशा है।”

भोज—“अरे! क्या पड़ा है नगरसेठ के यहाँ! मिलकर भी वहाँ कितना मिलेगा? किसी ऐसे स्थान पर चलो, जहाँ इतना धन मिले कि जीवनभर का दारिद्र्य मिट जाये, फिर कभी चोरी के लिए न जाना पड़े।”

बंधुओं! कैसी बात कही राजा भोज ने! जरा इसे गहरे उतरकर लक्षणार्थ में घटित करिये। संसार की चार गतियों में आपको भी अनादिकाल से निरन्तर, बार-बार आना-जाना पड़ रहा है। अनन्त पुण्यायी से जीव बादर प्रत्येक एकेन्द्रिय जाति में आता है। उससे अनन्त गुना पुण्यायी हो तो बेइन्द्रिय जाति में। इसी तरह पंचेन्द्रिय जाति, वह भी संज्ञी पंचेन्द्रिय जाति मिली है अनन्त पुण्यायी से। सन्नी पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य जन्म, संत समागम आदि की प्राप्ति हुई। जिसके द्वारा समस्त कर्मबंधन तोड़ संसार-चक्र को मिटाया जा सकता है। नारकी, भवनपतिदेव, स्थावर, विकलेन्द्रिय आदि चौबीस दण्डकों का दण्ड अनन्तकाल से यह जीव भोग रहा है। आपको चिन्तन यह करना है कि इस बार ऐसी गति में जाऊँ कि दुबारा कहीं, किसी भी अन्य गति में गमनागमन न करना पड़े। कोई दण्ड न भोगना पड़े।

भोज ने कहा—“चलो, आज राजमहलों में चलते हैं। राजा के खजाने में चोरी करेंगे।”

फाँसी का भय जो समाप्त कर दे उसकी बात से क्या इन्कार करना। पाँचों चल दिये, राजमहलों की तरफ। राजा भोज साथ था। वह सारे गुप्त रास्ते जानता था। उन्हें भी गुप्त रास्ते से ले गया। आगे पहरेदार पहरा दे रहे थे। उनके मुँह से शब्द निकल रहे थे—“सावधान! जागते रहो!!”

प्रथम चोर की तरफ सभी ने देखा। उसने मुँह खोला, मुँह ही मुँह से कुछ बुदबुदाया जैसे कोई मंत्र-पाठ कर रहा हो। तभी सबने देखा कि एक-एक कर सारे पहरेदार चुपचाप जमीन पर ही लेटकर निद्रामग्न हो गये हैं।

इस पर द्वितीय चोर ने भी मंत्र-पाठ पढ़ा। उसके मंत्र-पाठ से खजाने के सारे ताले एक साथ खुल गये।

सभी खजाने में पहुँचे। स्वर्ण और रजत-मुद्राओं के वहाँ अनेक ढेर लगे थे। सभी ने अपने वस्त्र बिछा उनकी गाँठें बनाना, बाँधना प्रारम्भ किया।

तीसरे चोर ने कहा—“अरे! तुम लोग यह करते क्या हो? इतना अधिक बोझ ढोना पड़ेगा और हाथ क्या लगेगा?”

अब लगाया उसने ध्यान फिर चलकर एक स्थान पर आया और बोला—“चुपचाप इस स्थान को खोदो। यहाँ अनेक बहुमूल्य हीरे, पत्रे, माणक, मुक्ता मिलेंगे। इन्हें ले जायेंगे तो जन्म-जन्म का दारिद्र्य मिट जायेगा। वजन कम, कीमत अधिक।”

सभी ने उस जगह को खोदा। थोड़ा-सा खोदते ही मुक्ता, मणि, हीरे, पत्रे, माणक आदि निकल आये।

सबने उनकी गाँठें बनाई, सिर पर रखा और जंगल में चले आये। सोचा—‘इसके पाँच हिस्से कर लें।’ भोज ने कहा—“मैंने किया ही क्या है? कुछ भी तो नहीं किया अतः आप चारों बाँट लो।”

चार हिस्से बने। चारों चोरों ने एक-एक हिस्सा लिया और रवाना हुए वहाँ से। भोज से बोले—“मिलते रहना।” भोज ने पूछा—“कहाँ रहते हो?” सभी ने अपने-अपने रहने की जगह का पता दे दिया।

प्रातःकाल होते ही हो-हल्ला मच गया। आग की तरह खबर नगर में फैल गई कि रात्रि में कुछ चोरों ने राज-खजाने में से गड़े हुए रत्नादि चुरा लिए हैं। राजा को भी खबर पहुँचाई गई। राजा तो सब-कुछ जानते थे पर आश्चर्य प्रकट करते हुए प्रधानमंत्री से मामले की खोजबीन करने को कहा।

राजकोष के पहरेदारों को बुलाया गया। उन्हें पूछा तो उन्होंने बताया कि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। वे लोग पहरा दे रहे थे कि अचानक स्वतः आँखें बोझिल हुईं। वे जहाँ थे, वहीं लेट गये और निद्रालीन हो गये।

उनके इस कथन पर उन्हें डाँटा गया, भविष्य में सावधान रहने के लिए कहा गया। प्रधान-अमात्य ने कहा—“सभी पहरेदार एक साथ निद्रा-मग्न हुए अतः अवश्य ही चोर मंत्र-विद्या के जानकार रहे होंगे अन्यथा राजकोष के पहरेदार ऐसे नहीं जो नींद ले लें।”

प्रधान-अमात्य इससे आगे कुछ भी पता नहीं लगा सके। इस पर राजा भोज ने उनको पता बताते हुए कहा कि यहीं मिलेंगे आपको चोर और साथ ही मिलेगा चोरी का माल भी।

प्रधानमंत्री सैनिकों को साथ लेकर दूँढ़ते हुए राजा के बताए पते पर पहुँचे। वहाँ की तलाशी ली तो चारों ही चोर पकड़े गये, माल भी बरामद कर लिया गया।

प्रधानमंत्री उन्हें लेकर राजसभा में उपस्थित हुए। तीन चोर तो राजा को पहचान नहीं पाये पर चौथे ने जान लिया कि यह राजा ही रात वाला पाँचवाँ चोर भोजिया है पर राजसभा, राजा सर्वेसर्वा, कहे तो क्या और कैसे कहे? सोचा—‘यह कुछ बोले तो निश्चय हो कि वही था या नहीं।’

मंत्री ने सारी बात सभा में कही, पूछने पर चारों चोरों ने स्वीकार किया तब मंत्री ने राजा से निवेदन किया—“महाराज! यही हैं वे चोर! आप अब इन्हें जो चाहें सजा दे दीजिये।”

राजा ने कहा—“फाँसी।”

चौथे चोर को निश्चय हो गया कि “यही भोज, हमारा साथी भोजिया है।” वह बोला—“महाराज, न्याय करें, हम पाँच थे।” पर महाराज ने सुनकर भी उसकी बात को अनसुना कर दिया।

सजा के लिए सभी को उस स्थान पर ले जाया गया, जहाँ फाँसी का फंदा बना हुआ था। राजा, मंत्रीगण, सभासद सभी वहाँ आये। जब देखा कि अब तो मौत निश्चित है, निकट है, नहीं बोला कुछ मैं इस समय तो बचने के कोई चांस नहीं। तब चौथे चोर ने जोर से कहा—“अरे भोजिया! अब तो कुछ बोल। अब तो तेरी कला दिखा दे।”

अब राजा भोज ने अपनी कला बताई। जहाँ बैठे थे, गर्दन इस प्रकार हिलाई कि उनको सजा नहीं दी गई। चारों फाँसी से बच गये।

बंधुओं! पहले चोर में प्रतीतिबल था, दूसरे में क्रियाबल, तीसरे में ज्ञानबल और चौथे में स्मृतिबल था। पाँचवाँ बल राजा भोज की तरह फाँसी से बचाने वाला धर्मबल था। धर्म और विवेक का यही बल मानव को उन्मार्ग से बचाकर सन्मार्ग पर ले जाता है।

राजा भोज ने उन चारों को बुलाया, समझाया कि तुम कलाकार हो, अपनी कला का दुरुपयोग करने की जगह सदुपयोग करो। उनके लिए उनकी विद्या और कला के उपयुक्त कार्य बताये। चारों ने चौर्यकर्म तजकर अपनी-अपनी कला से उद्यम कर जीविकोपार्जन का पथ अपना लिया।

कालान्तर में जैन-मुनि के सम्पर्क में आने पर उपदेश से प्रभावित हुए वे चारों। प्रतीति हुई कि ये निर्ग्रन्थ मुनिवर ही तारण-तिरण के जहाज हैं, वैराग्यभाव से वे मुनि के चरणों में आये और बोले—“गुरुदेव! हमें अब संसार असार लगता है। हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना चाहते हैं। हमें आपके चरणों की शरण देकर दीक्षित करिये।” इस तरह प्रतीतिबल से क्रियाबल में आकर, दीक्षित होकर वे चारों ज्ञान-साधना के द्वारा अपनी-अपनी आत्मा के बल को, आत्मा की ज्ञानादि शक्तियों को उजागर करने में लग जाते हैं। ज्ञानादि शक्तियों को उजागर करते हुए स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग द्वारा उनकी स्मृति करते हुए अन्तिम समय में संलेखना-संधारा कर सुगति के अधिकारी बनते हैं।

बंधुओं ! जब तक मिथ्यात्व था तब तक प्रतीति आदि बल का कर्मबंधन के कार्यों में उपयोग होता था, सम्यक्त्व आते ही वही बल अब कर्म काटने के हेतु बन गये।

‘बड़ी साधु वंदना’ में ऐसे ही महापुरुषों का वर्णन यहाँ चल रहा है जिन्होंने संसार-कार्यों में लगे अपने प्रतीति आदि बल को अध्यात्म की ओर मोड़ा। आज चलेगा त्रेसठ श्लाघ्य पुरुषों में जिनका नाम आता है ऐसे नौ बलदेवों का वर्णन।

#### □ बलदेव

पद का नाम ही है बलदेव। बल कितना उनका? एक अष्टापद पक्षी में दो हजार केशरी सिंहों जितना बल होता है। ऐसे दस लाख अष्टापद पक्षियों जितना बल होता है एक बलदेव में।

बलदेव और वासुदेव दोनों एक पिता की संतान होते हैं। सगे भ्राता होकर भी बलदेव का बल आगे जाकर धर्मबल से संयुक्त बन जाता है, जबकि वासुदेव जो बलदेव की अपेक्षा दुगुनी शक्ति का धारक होता है—नियम से धर्मबल न होने के कारण और पूर्वभव के निदान के कारण नरक का अधिकारी बनता है। एक पिता की सन्तान; पर एक ठेठ ऊपर और दूसरा ठेठ नीचे।

इस अवसर्पिणी काल में नौ बलदेव हुए। इनमें से आठ तो मोक्ष गये और बलभद्र जी पंचम देवलोक के अधिकारी बने। ‘बड़ी साधु वंदना’ की अगली कड़ी में इसी प्रसंग का उल्लेख है—

इण अवसर्पिणी काल मां, आठ राम गया मोक्ष।

बलभद्र मुनीश्वर, गया पंचमें देवलोक॥२०॥

यद्यपि इस गाथा में केवल बलदेवों का ही उल्लेख है लेकिन बलदेव और वासुदेव चूँकि दो शरीर पर एक प्राण होते हैं, प्रत्येक बलदेव का अपने अनुज वासुदेव के प्रति प्रगाढ़ स्नेह, ऐसा स्नेह कि एक-दूसरे के बिना ये अत्यंत व्यथित, बेचैन हो जाते हैं, अलग रह नहीं पाते, अतः बलदेवों के साथ वासुदेवों का वर्णन भी किया जायेगा।

#### □ प्रथम बलदेव—अचल

पोतनपुर नगर में रिपुप्रतिशत्रु<sup>१</sup> जिसे प्रजापति भी कहा जाता था, का राज्य था। उनकी पट्टमहिषी भद्रा रानी ने किसी रात्रि में अर्द्ध-निद्रित अवस्था में चार महास्वप्न देखे— (१) श्वेत हस्ति, (२) उच्च स्कंध वाला वृषभ, (३) पूर्णचन्द्र, और (४) कमलों से सुशोभित स्वच्छ नीर भरा सरोवर। जितने भी बलदेव होते हैं उनकी माताएँ चार तथा वासुदेव की माताएँ सात महाशुभ स्वप्न देखती हैं।

महाराज ने बताया कि ये स्वप्न उस माता को दिखाई देते हैं जिसके गर्भ में 'बलदेव' आकर जन्म लेता है। महारानी भद्रा ने गर्भकाल पूर्ण होने पर एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म, जिसका नाम रखा गया—अचल।

बहुत समय पश्चात् महारानी भद्रा पुनः गर्भवती हुई और उसने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। मृगी के समान चंचल नेत्रों वाली, इस बेजोड़ सुन्दर कन्या का नाम रखा गया—मृगावती।

पिता तो राजकाज में भूल ही गये कि उनकी भी कोई कन्या है। मृगावती युवा हुई तो माता को उसके विवाह की चिन्ता लगी पर पिता निश्चिन्त थे। आखिर एक दिन महारानी भद्रा ने एक कंचुकी के साथ मृगावती को उसके पिता के पास भेजा, यह सोचकर कि इसे देखेंगे तो विवाह योग्य जानकर इसके विवाह करने के लिए तत्पर हो जायेंगे।

गई मृगावती अपने पिता के पास पर जो कुछ हुआ वह अत्यन्त ही लज्जाजनक हुआ। पिता भूल गया कि वह उसकी ही अपनी पुत्री है। मृगावती के अनुपम रूप-लावण्य को

१. अप्रतिशत्रु भी मिलता है।

देख उसका मन काम-विचलित हो गया। लोक-निन्दा की चिन्ता कामातुर नहीं करते। वासना के कीड़े किसी सामाजिक नियम, मर्यादा को नहीं मानते।

महाराज अप्रतिशत्रु ने अनेक तरह से प्रश्न करके अपने विद्वानों, परिजनों, नगर के विशिष्ट व्यक्तियों के मुँह से कहलवा लिया कि महाराज के अधिकार में जितनी भी सजीव, निर्जीव तथा उनसे उत्पन्न वस्तुएँ हैं, उन पर उन्हीं का अधिकार है। राजा प्रजा का स्वामी होता है। राज्य-सीमा में जो कुछ है, सब उसी का है। वह प्रजापति है।

सभी से उपर्युक्त कथन सुनकर महाराज ने अपनी पुत्री मृगावती को बुलवाया और उन सभी की ओर उन्मुख होकर कहा—“आप लोगों के निर्णय के अनुसार मैं इसका स्वामी, पति हूँ और यह मेरी पत्नी है।” इतना कह उस निर्लज्ज राजा ने अपनी ही पुत्री के साथ पाणिग्रहण किया और उसे अपने शयन-कक्ष की ओर ले चला। तभी से वह ‘प्रजापति’ कहलाने लगा। कामांध राजा अपने काम-सुख में लीन हो गया।

कालांतर में मृगावती गर्भवती हुई। सात महास्वप्न देखे उसने। गर्भकाल पूरा होने पर अर्द्ध-चक्री अर्थात् वासुदेव-पुत्र को जन्म दिया। इसका नाम त्रिपृष्ठ रखा गया।

युवावस्था प्राप्त होने पर त्रिपृष्ठ ने अपने प्रतिशत्रु अश्वग्रीव-प्रतिवासुदेव को मारकर उसके तीन खण्ड के राज्य पर स्वयं ने अधिकार कर लिया। त्रिपृष्ठ वासुदेव भगवान महावीर का अठारहवाँ पूर्वभव था और इसी भव में महावीर के इस जीव ने उस अशुभ कर्म का बंध किया था, जिसके कारण उन्हें तीर्थकर भव में कानों में कीले टुकवाने पड़े। घटना इस प्रकार घटित हुई—

वासुदेव त्रिपृष्ठ की राज्यसभा में एक दिन उत्तम गायकों की एक मण्डली आई। उनके अद्भुत, कर्णप्रिय संगीत को सुना तो श्रवणेन्द्रिय-सुख-प्राप्ति की अभिलाषा से वासुदेव त्रिपृष्ठ ने उन्हें अपनी सेवा में रख लिया।

एक रात वासुदेव ने उन्हें अपने महल में बुलाकर संगीत सुनाने को कहा। उधर शय्यापालक को आदेश दिया—“मुझे नींद आते ही संगीत बंद करा देना।”

हुआ यह कि राजा निद्राधीन हो गया, सेवक संगीत में तल्लीन हो राजाज्ञा विस्मृत कर बैठा। चतुर्थ प्रहर में नींद पूरी होने पर राजा उठा तो संगीत अभी भी चल रहा था।

राजा ने आकाश में देखा तो नक्षत्र बता रहे थे कि रात्रि का अन्तिम प्रहर है। शय्यापालक को बुलाकर डाँटा कि संगीत बंद क्यों नहीं करवाया? उसने बताया कि वह तो उस संगीत में ऐसा डूबा कि राजाज्ञा विस्मृत कर बैठा। कुपित हो राजा ने सेवक के लिए दण्ड निर्धारित किया कि इसने राग-लुब्ध होकर मेरी आज्ञा का उल्लंघन किया है अतः इसके कानों में पिघला हुआ गर्म राँगा डाल दिया जाये।

सेवक क्षमायाचना करता रहा, प्राण-भिक्षा माँगता रहा पर उसके कान में राजाज्ञा से उबलता राँगा डाल दिया गया। शय्यापालक की असह्य दर्द से मृत्यु हो गई।

बंधुओं! इन्द्रियों के विषयों में लोलुपता भयंकर कर्मबंधन का कारण बनती है। इनका फल कभी तुरन्त, कभी देर से मिलता ही है और जो फल मिलता है वह अत्यन्त कष्टकारी होता है। विभाव-दशा में भटक रहा जीव अनन्त-अनन्त काल से इनमें लुब्ध बना है अतः संसार-भ्रमण कर रहा है। संसार घटाने के लिए पहला चरण है—पाँच इन्द्रियों तथा मन पर नियंत्रण। जब तक इन पर नियन्त्रण नहीं तब तक कर्म-रज आने के द्वार खुले रहेंगे।

इन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु-इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय। एकेन्द्रिय जीवों में स्पर्शनेन्द्रिय होती है, इसी भाँति द्वीन्द्रिय आदि जीवों की बात है। आप और हम पंचेन्द्रिय जीव हैं और वह भी संज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् विवेकशीलता, अच्छे-बुरे का निर्णय करने वाली बुद्धि, धर्म और अधर्म को समझने वाले मन सहित।

श्रोत्रेन्द्रिय से जीव, अजीव और मिश्र शब्द सुने जाते हैं। इन तीनों के शुभ और अशुभ भेद से छह प्रकार होते हैं। इन छह पर राग और द्वेष रखना—ऐसे ये बारह विकार श्रोत्रेन्द्रिय के हैं। शुभ या अशुभ शब्द चाहे कैसे भी हों उन पर राग-द्वेष के विचार ही कर्मवर्गणा को आत्म-प्रदेशों से सम्बद्ध करते हैं।

मृग बहुत तेज दौड़ता है पर वह वीणा से निकली राग-रागनियों की ध्वनि पर मुग्ध, आसक्त बन अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। इसी तरह गारुड़ी या सर्प पकड़ने वाले जोगी आदि जब बीन बजाते हैं तो सर्प उसकी ध्वनि में आसक्त बन खिंचे चले आते हैं और बंधन में बँध जाते हैं। शब्दों पर राग-द्वेष करने से भविष्य में बहरा बनना पड़ता है या कान के अनेक रोगों को भोगना पड़ता है। हो सकता है उसे भविष्य में पाँच के स्थान पर चार इन्द्रियाँ ही मिलें अर्थात् चक्षु-इन्द्रिय जीव बनना पड़े। अतः हम सभी को चाहिए कि हम



श्रोत्रेन्द्रिय को वश में रखें। मधुर स्वर-लहरी, वाद्यों पर नृत्य, कर्णप्रिय संगीत में डूबना आदि से भविष्य में बड़े भयंकर कष्ट भोगने पड़ते हैं, जैसा कि अभी आपने वासुदेव त्रिपृष्ठ के सेवक की बात सुनी।

चक्षु-इन्द्रिय के पाँच विषय होते हैं—कृष्ण वर्ण, नील वर्ण, रक्त वर्ण अर्थात् लाल रंग, पीत वर्ण और श्वेत वर्ण। ये पाँच सजीव, अजीव और मिश्र इस प्रकार प्रत्येक के तीन-तीन भेद से पन्द्रह हुए। पन्द्रह ही शुभ व पन्द्रह ही अशुभ, ये हुए तीस। इन तीस पर राग और तीस पर द्वेष से कुल साठ विकार चक्षु-इन्द्रिय के होते हैं।

चक्षु-इन्द्रिय की आसक्ति के विषय में दीपक की लौ और पतंगे का उदाहरण विशेष प्रसिद्ध है। पतंगा चमचमाती उज्वल लौ पर आकर्षित हो अपने प्राणों का होम कर देता है। इन साठ विकारों के परिणामस्वरूप व्यक्ति अंधा होता है, एक आँख वाला बनता है, कम नजर वाला बनता है या फिर तेइन्द्रिय जाति का जीव होता है।

घ्राणेन्द्रिय का कार्य है गंध ग्रहण करना। गंध दो प्रकार की होती है—सुरभिगंध और दुरभिगंध। इन दोनों के सचित्त, अचित्त व मिश्र इन तीन-तीन भेद से छह भेद हुए। इन छह पर राग व छह पर द्वेष—ये हैं घ्राणेन्द्रिय के बारह विकार।

भ्रमर पुष्पों की सुगंधि से आकृष्ट होकर उन पर मँडराता है, उन पर बैठता है और उनमें फँसकर मृत्यु को प्राप्त होता है। हमें चाहिए कि हम अच्छी गंध के प्रति आकृष्ट हो प्रसन्न न बनें और बुरी गंध आने पर नाक बंद कर, मुँह फेरकर घृणा के भावों को न आने दें। अन्यथा भावी भवों में या इसी जन्म में नाक कट सकता है, नाक के अनेक रोग हो सकते हैं और द्वीन्द्रिय जाति में भी उत्पन्न हो सकते हैं।

रसनेन्द्रिय के पाँच विषय हैं—कटु, मिष्ट, तीखा, खारा, कसैला।

इन पाँचों के सचित्त, अचित्त व मिश्र—इन तीन-तीन भेदों से कुल पन्द्रह भेद हुए। पन्द्रह के शुभ व अशुभ, अब हुए तीस। तीस पर राग और तीस पर द्वेष इस तरह कुल साठ विकार होते हैं रसनेन्द्रिय के।

अनेक लोग मछली को गीले आँटे की गोलियाँ आदि डालने हेतु सरोवरों पर जाते हैं, पुण्योपार्जन की दृष्टि से पर अनेक नासमझ व्यक्ति मछली पकड़ने का काँटा लेकर तालाबों में मछली फाँसते हैं। काँटे में मछली के खाने योग्य खाद्य-पदार्थ लगा दिया जाता है। मछली

आकृष्ट हो उस पर मुँह मारती है और काँटे में फँसकर अकाल मृत्यु को प्राप्त करती है। रसों के आस्वादन में राग-द्वेष के फल भी अति कटु होते हैं अतः अच्छे या बुरे, सरस या नीरस सभी प्रकार के आहार को समभाव से ग्रहण करना चाहिए। रस-जन्य जितने भी सुख हैं क्षणिक हैं। 'उतरा घाटी, हुआ माटी', उत्तम से उत्तम खाद्य पदार्थ गले के नीचे उतरने के पश्चात् मिट्टी, मल, मूत्र बन जाता है। यदि रसादि के आस्वादन में आसक्ति रखी, राग-द्वेषभाव रखा तो व्यक्ति को गूँगा बनना पड़ेगा, कुबड़ा बनना पड़ेगा, अनेक रोगों से पीड़ित होकर तड़फना पड़ेगा। इससे एकेन्द्रिय जीव-योनि भी प्राप्त हो सकती है।

कई लोगों के मुँह से कई बार सुना है कि "एक धापी तो चार भूखी और एक भूखो तो चार धापी।" तात्पर्य यह है कि यदि एक रसनेन्द्रिय तृप्त रहती है तो कान सुनने के लिए, आँखें देखने के लिए, नाक सूँघने के लिए और शरीर स्पर्श-सुख भोगने के लिए तत्पर रहेगा, तृषातुर रहेगा, भूखा रहेगा। इसके विपरीत यदि रसनेन्द्रिय अतृप्त है, भूखी है तो शेष चारों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को भोगने के लिए आतुर (भूखी) नहीं होंगी। मारवाड़ में भी कहावत प्रचलित है—“अन्न जी नाचे, अन्न जी कूदे, अन्न जी करे मटरका।” पेट भरा है तो सारी शैतानियाँ सूझती हैं, दिमाग में अनेक खुराफातें आती हैं। इसीलिए ज्ञानी कहते हैं—कम खाओ, गम खाओ और नम जाओ। सभी इन्द्रियों को यदि वश में रखना है तो उसका एक सरल उपाय है—रसनेन्द्रिय को वश में कर लो। रसलोलुपता के त्याग तथा सीमित, भूख से कम भोजन करना शारीरिक व आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से महान् लाभदायक है।

स्पर्शनेन्द्रिय के आठ विषय बताये गये हैं—गुरु, लघु, शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, कोमल और कठोर। इन आठों के सचित्त, अचित्त व मिश्र अतः कुल चौबीस। चौबीस ही शुभ और अशुभ, कुल अड़तालीस। अड़तालीस पर राग और अड़तालीस पर द्वेष, ये स्पर्शनेन्द्रिय के कुल छियानवे विकार हुए। इसके लिए हाथी का उदाहरण शास्त्रों में आता है। वह स्पर्श-सुख के वशीभूत हो अपने लिए खोदे गये गड्ढे में गिरकर बंधन में बँध जाता है और जीवनभर गुलामी में रहता है। स्पर्श-सुख में आसक्ति के परिणामस्वरूप शरीर में कुष्ठ, गूमड़, मेद आदि अनेक रोग होते हैं, अपंगता प्राप्त होती है, शरीर अशक्त व निर्बल, श्रीहीन होता है।

बंधुओं! हमारे जैनदर्शन की मान्यतानुसार जीव को प्राप्त इन्द्रियाँ अपने आप में न तो बुरी हैं, न अच्छी। इन्द्रियों की प्राप्ति तो नामकर्म की प्रकृति के कारण है। इस उपलब्धि का कार्य सिर्फ इतना है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर मन के संवेदन सूत्र तक पहुँचा दे। आगम में आया है—

चक्खुस्स रूवं गहणं वयन्ति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।

तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु व वीयरागो ॥

—उत्तरा., अ. ३२, गा. २२

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि चक्षु का ग्राह्य विषय है रूप। जो रूप राग का हेतु होता है वह मनोज्ञ रूप है और जो रूप द्वेष का हेतु हो वह अमनोज्ञ। इन दोनों-मनोज्ञ या अमनोज्ञ-रूपों में जो न राग रखे, न द्वेष अर्थात् समभावी रहे वही वीतराग है।

इस गाथा से स्पष्ट है कि प्राणी को मन से भी इन्द्रिय-विषयों के प्रति विचार नहीं करना चाहिए। जब मन से विचार करने का भी निषेध है तो इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति से तो दूर रहना ही चाहिए। मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या पदार्थ के रूप पर मोहित होता है, आसक्त बनता है, रागी बनता है तो वह उस वस्तु की प्राप्ति के लिए बुरे से बुरा कार्य करने को तत्पर हो जायेगा। वह अपने कार्य की सिद्धि के लिए जीवों की हिंसा कर सकता है, उन्हें पीड़ा पहुँचा सकता है, झूठ बोल सकता है, छल-कपट कर सकता है, चोरी और हरण कर सकता है, अब्रह्म-सेवन कर सकता है। वह ममत्वपूर्वक उसका संग्रह कर सकता है किन्तु फिर भी तृप्त हो जाये, वह निश्चित नहीं है। इसी तरह किसी कुरूप, अमनोज्ञ वस्तु के प्रति द्वेषभाव की स्थिति में होता है। इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने वाला कोई भी पदार्थ या प्राणी प्रतिपल दुःख और कष्ट का कारण है। उसके उपार्जन, संरक्षण, उपभोग, व्यय, वियोग आदि किसी भी क्रिया-कलाप में न सुख है, न चैन। इनके प्रति राग-द्वेष द्वारा वह अनेक अशुभ कर्मों का उपार्जन कर फलभोग के समय नाना दुःख उठाता है और अपने जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाता है। अतः श्रावक-श्राविकाओं और सन्त-सतियों को साधना के जीवन में सर्वप्रथम इन्द्रियों के नियंत्रण पर ध्यान देना चाहिए।

शय्यापालक ने श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में अत्यधिक लोलुपता का कितना भयंकर फल भोगा, यह आपने सुना, उधर ..... वासुदेव त्रिपृष्ठ ने अपने क्रूर परिणामों, विषयों में

आसक्ति, घोर हिंसा एवं गर्व के कारण सम्यक्त्व रूप रत्न नष्ट कर दिया। चौरासी लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर वे कालधर्म को प्राप्त हुए और सातवीं नरक में उत्पन्न हुए।

अनुज की मृत्यु से बड़े भ्राता बलदेव अचल विक्षिप्त से हो गये। मोहावेश में उन्होंने अपने उस लघु-भ्राता के शव का दाह-संस्कार भी नहीं करने दिया। वे गोदी में शव को रख मोह-प्रलाप करने लगे। छह मास के पश्चात् जब शव सड़ गया, रक्त-माँस पीप बन गया, दुर्गंध से सिर फटने जैसा अनुभव हुआ तो वे सचेत हुए। शरीर की अनित्यता का चिन्तन प्रारम्भ हुआ। भाई के शव को अग्नि समर्पित किया, मोह को हटाया, विरक्तिभाव हृदय में जग गया।

वासुदेव की मृत्यु के छह माह पश्चात् बलदेव अचल आचार्य धर्मघोष के पास दीक्षित हुए और अति शीघ्र उग्र तपश्चरण द्वारा केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर कर्मों की कारा को काटकर मुक्ति में जा विराजे।

सत्वशाली पुरुष जिस तीव्रता से कर्मबंध करते हैं, उससे भी अधिक तीव्रता से उनकी निर्जरा भी कर लेते हैं। अधिक आसक्ति में जब किसी क्षण परिवर्तन आता है तो उत्पन्न होने वाली अनासक्ति और फिर विरक्ति उतनी ही तीव्र, बल्कि उससे कई गुना अधिक तीव्र होती है। महापुरुषों के जीवन में सदैव यही घटित होता देखा गया है। मोक्ष में जाने वाले आठों ही बलदेव दृढ़ संयमी बन व उग्र तपश्चरण कर त्वरित ही कर्म-निर्जरा कर मोक्षगामी हुए। अचल प्रथम बलदेव थे तो विजय दूसरे बलदेव।

#### □ दूसरे बलदेव—विजय

द्वारिका नगरी के राजा ब्रह्म की पटरानी सुभद्रा के पुत्र थे बलदेव विजय एवं उनकी द्वितीय रानी उमा के पुत्र थे वासुदेव द्विपृष्ठ। दोनों कुमारों ने बड़े होने पर अनेक प्रकार की विद्याएँ सीखीं और वे सभी विद्याओं व कलाओं में पारंगत बन गये। दोनों भाई महाबली थे। उनका पारस्परिक प्रेम अद्वितीय था।

उस समय विजयपुर नगर का प्रतिवासुदेव महाराजा तारक त्रिखण्डाधिपति था। वह प्रतिवासुदेव अत्यन्त अभिमानी, क्रूर एवं निर्दयी था। एक बार उसने अपना एक दूत द्वारिका भेजा और द्वारिका के सर्वश्रेष्ठ अश्व एवं रत्नों की माँग की।

द्वारिकाधीश ब्रह्म त्रिखण्डेश्वर प्रतिवासुदेव तारक के अधीनस्थ राजा थे, कैसे मना करते? वे कुछ कह पाते इससे पूर्व ही उनके कुमार द्विपृष्ठ ने कह दिया—“दूत! अपने

महाराज से कहना कि 'वीर भोग्या वसुंधरा' के अनुसार द्वारिकापति ने उनसे श्रेष्ठ रत्नों की माँग की है। यदि वे हमसे कुछ प्राप्त करने की आशा रखते हैं तो युद्धभूमि में मिलें, और कुछ नहीं तो उनकी मृत्यु तो उन्हें मिल ही जायेगी।”

महाराज ब्रह्म मौन ही रहे अतः दूत ने विजयपुर लौटकर अपने महाराज तारक को पूरा वृत्तान्त सुना दिया। कुपित होकर प्रतिवासुदेव त्रिखण्डाधिपति ने द्वारिका पर आक्रमण किया। भयंकर युद्ध हुआ। सहस्रों अश्व, गज, पैदल सैनिक मारे गये। त्रिखण्डी तारक के चक्र से ही वासुदेव द्विपृष्ठ ने उसका वध कर विजय प्राप्त की। वासुदेव द्विपृष्ठ अब तारक के सम्पूर्ण राज्य अर्थात् तीनों खण्ड के अधिकारी थे। अनेक राजाओं एवं विद्याधरों पर विजय प्राप्त कर वे अर्द्ध-चक्री बन द्वारिका पहुँचे।

नगरवासियों ने विजयी महाराज का शानदार स्वागत किया। धूमधाम से राज्याभिषेक हुआ। अपनी सफलता से द्विपृष्ठ फूले न समाए। उनका अभिमान चरम सीमा पर पहुँच गया। उनके चारों ओर चाटुकारों का झुण्ड रहने लगा। अभिमान से चूर द्विपृष्ठ अब अत्यन्त निर्दयतापूर्वक कठोर एवं हिंसक आचरण करने लगे।

अपने चौहत्तर लाख वर्ष के आयुष्य में से उन्होंने पिचहत्तर हजार वर्ष कुमारवस्था में, पिचहत्तर हजार वर्ष माण्डलिक राजा के रूप में, सौ वर्ष तीन खण्ड विजय करने में और बहत्तर लाख उनपचास हजार नौ सौ वर्ष वासुदेव पदवी में रहकर व्यतीत किये।

महारंभ व महापरिग्रह के साथ अपनी क्रूरता व निर्दयता के कारण कालधर्म प्राप्त करने पर वे छठी नरक में उत्पन्न हुए।

अनुज की मृत्यु देख बलदेव विजय चेतनाहीन हो भूमि पर गिर गये। चेतना आने पर वे अपने भ्राता को निद्रालीन समझ उनके शव को लिए बैठे रहे। अनेक लोगों के समझाने पर भी वे यह मानने को तैयार नहीं थे कि उनके अनुज की मृत्यु हो चुकी है। जब देह सड़ गई, दुर्गंध आने लगी तब उनका विवेक जगा। अनुज की पार्थिव देह को उन्होंने अग्नि समर्पित किया और स्वयं संसार से विरक्त वन-वन भटकने लगे।

पुण्ययोग से उन्हें आचार्य विजय घोष के दर्शन हुए। उनसे देशना सुनी, धर्म का स्वरूप समझा और श्रमण दीक्षा अंगीकार की। उन्होंने द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त किया, उग्र तप किया, केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर वे कालधर्म को प्राप्त हुए और मोक्ष में जा विराजे।

### □ तीसरे बलदेव—भद्र

तीसरे बलदेव हुए भद्र। द्वारिका नगरी थी। राजा रुद्र का शासन था। उनके दो रानियाँ थीं—सुप्रभा और पृथ्वी।

सुप्रभा ने बलदेव के गर्भ में आने पर चार महाशुभ स्वप्न देखे और गर्भकाल पूर्ण होने पर एक अति सुन्दर, सर्व शुभ लक्षण-सम्पन्न पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम रखा गया—‘भद्र’।

राजा रुद्र की दूसरी रानी पृथ्वी ने एक बार सात महाशुभ स्वप्न देखे जो बता रहे थे कि गर्भ में पुण्यवान अर्द्ध-चक्रेश्वर का जीव है। गर्भकाल पूर्ण करके उसने महान् वीर पुत्र को जन्म देकर अपना जननीपन सफल किया। उसका नाम रखा गया—‘स्वयंभू’।

स्वयंभू अपने बड़े भाई भद्र की आँखों का तारा बना हुआ था। वह भी बड़े भाई से अलग नहीं रह पाता था। बड़े होने पर दोनों भ्राताओं ने गुरु के पास रहकर अनेक क्षत्रियोचित विद्याएँ व मानवोचित कलाएँ सीखीं।

उस समय प्रतिवासुदेव राजा मेरक दक्षिण भरतार्द्ध का स्वामी था। आधे भरत क्षेत्र के सभी राजा उसके अधीनस्थ थे। कभी किसी कारणवश महाराज मेरक अपने अधीनस्थ शशिसौम्य नाम के राजा से रुष्ट हो गये। शशिसौम्य ने भयाक्रांत हो प्राण-भिक्षा माँग क्षमायाचना की। अत्यन्त जी हजूरी करने के बाद मेरक ने प्राणों की भीख तो दी पर साथ में दण्ड लगा दिया कि अमुक-अमुक रत्नादि दण्डस्वरूप मेरे राजकोष में जमा कराओ।

इधर शशिसौम्य ने दण्ड भरने हेतु माँगी गई रत्नराशि अनेक सैनिकों की सुरक्षा में राजा मेरक के पास नन्दनपुर भिजवाई और उधर राजा रुद्र के दोनों युवा-पुत्रों ने, जो उपवन-क्रीड़ा के लिए उधर आये हुए थे, उस रत्न-राशि पर जबरन अधिकार कर उसे द्वारिका के राजकोष में जमा करा दिया।

नन्दनपुर-नरेश तीन खण्ड का अधिपति तो था ही, बहुत बलशाली व अत्यधिक क्रोधी भी था। जैसे ही उसे यह घटना ज्ञात हुई, उसने द्वारिका नगरी को कुचलकर नष्ट करने की आज्ञा दे दी। मेरक के मंत्री ने तब समझाया कि द्वारिका के महाराज को तो शायद घटना का पता ही नहीं है, उनके कुमारों ने यह उद्दण्डतापूर्ण कार्य किया है अतः एक बार उनको अवगत करा दिया जाये, शायद वे समस्त लूटा धन व साथ में कुछ और धन देकर सुलह करना पसंद करें।

मेरक मान गया। मंत्री स्वयं द्वारिका गया पर महाराज रुद्र के स्थान पर उनके छोटे पुत्र स्वयंभू ने किसी भी सुलह से स्पष्ट इन्कार करते हुए युद्ध की चुनौती स्वीकार कर ली।

युद्ध हुआ। स्वयंभू के हाथों मेरक मारा गया। स्वयंभू ने तीनों खण्डों पर विजय प्राप्त कर भरतार्द्ध के चक्रेश्वर (अर्द्ध-चक्री) का पद प्राप्त किया। अत्यन्त उल्लास एवं समारोह के साथ स्वयंभू का राज्याभिषेक किया गया।

तेरहवें तीर्थंकर भगवंत विमलनाथ के दर्शन व देशना श्रवण करके बलदेव भद्र एवं वासुदेव स्वयंभू दोनों ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

कालांतर में वासुदेव स्वयंभू ने सत्ता के मद में, महापरिग्रही व महारंभी बन, भौतिक समृद्धि में आसक्ति बढ़ा अपने सम्यक्त्व रूप उस महारत्न को गँवा दिया। नरकायु का बंध किया और साठ लाख वर्ष की सुदीर्घ आयु पर्यन्त वासुदेव-पद का सुख भोगकर कालधर्म को प्राप्त किया। मरकर स्वयंभू का जीव छठी नकर में गया।

स्वयंभू की मृत्यु पर उनके बड़े भ्राता बलदेव भद्र उसके शव के प्रति, प्रथम दो बलदेवों का मैंने आपको जैसा वर्णन सुनाया था, उसी प्रकार मोहांध हुए। अग्नि-संस्कार होने पर उद्विग्न हो स्वयं चिता में कूदने दौड़े पर उपस्थित जनों ने उन्हें पकड़ लिया। कई दिनों तक वे विलाप करते रहे।

अब संसार में उनका मन नहीं लगता था अतः वे अनेक बार चुपचाप अज्ञात दिशा में निकल जाते। एक दिन पुण्ययोग से उन्हें मुनिचन्द्र के दर्शनों का सौभाग्य मिला। धर्मोपदेश श्रवण कर बलदेव भद्र ने उनके पास दीक्षा अंगीकार की। घोर तपश्चरण कर कर्म-जंजीर काट वे मोक्ष में जा विराजे।

#### □ चौथे बलदेव—सुप्रभ

चतुर्थ बलदेव हुए सुप्रभ। ये द्वारिका के महाराज सोम व महारानी सुदर्शना के पुत्र थे। महाराज सोम की द्वितीय रानी सीता के पुत्र थे पुरुषोत्तम। पुरुषोत्तम आगे जाकर वासुदेव बने।

दोनों भाइयों में अतिविशिष्ट प्रेम था, जैसा कि बलदेव-वासुदेव में होता है। दोनों का प्रतिपल साथ-साथ बीतता। दोनों कुमारों ने युवा होते-होते युद्ध-विद्या, शस्त्र-अस्त्र संचालन, राजनीति, कूटनीति आदि अनेक विद्याएँ व कलाएँ सीख लीं। वासुदेव पुरुषोत्तम

कुछ अधिक तेजस्वी एवं क्रोधी स्वभाव के थे। जबकि सुप्रभ बलिष्ठ होते हुए भी शीतल स्वभाव के थे। युवा होने पर दोनों कुमार पिता के राज्यकार्य में सहयोगी बन गये। सिंहासन पर बैठते राजा सोम, पर सारा राज्यकार्य दोनों कुमार ही देखते थे।

दक्षिण भरतार्द्ध में उस समय पृथ्वीपुर-नरेश मधु का त्रिखण्ड के सभी राज्यों पर एकछत्र अधिकार था। सभी राजा उनके अधीन थे। वे ही सबसे बलवान, पराक्रमी और शूरवीर माने जाते थे।

एक दिन नारद घूमते-घामते पृथ्वीपुर की राजसभा में पहुँच गये और महाराज मधु को बता गये कि इसी भरतार्द्ध में उसी के अधीनस्थ द्वारिका के राजकुमार-सुप्रभ और पुरुषोत्तम-दक्षिण भरतार्द्ध के श्रेष्ठ वीर हैं, वे उससे भी बढ़कर शक्तिशाली योद्धा हैं।

महाराज मधु ने उत्तेजित हो द्वारिका के महाराज सोम के यहाँ अपना विशेष दूत भेजा, जिसने महाराज सोम को बताया कि महाराज मधु आपकी स्वामिभक्ति के प्रति संदिग्ध हैं अतः आप अपने राज्य की सारभूत एवं मूल्यवान वस्तुएँ उनकी सेवा में भेंटकर अपनी स्वामिभक्ति का परिचय दें अन्यथा द्वारिका की ईंट से ईंट बजा दी जायेगी और आपके सारे परिवार को जान से हाथ धोना पड़ेगा।

इस पर महाराज सोम के लघु-पुत्र पुरुषोत्तम क्रोध से भर उठे और 'दूत को नीति द्वारा अबध्य' कहकर उसे लौटने तथा महाराज मधु को एक सन्देश देने का कह दिया। सन्देश था—'माँगना है तो यहाँ आकर भिखारी बन भीख माँगो। छीनना है तो रणक्षेत्र में मिलो।'

युद्ध अवश्यंभावी था। युद्ध हुआ। पूर्वभव के वैर व निदान के कारण वासुदेव ही प्रतिवासुदेव का वध करते हैं। युद्ध में प्रतिवासुदेव त्रिखण्डेश मधु व उनके अनुज भी मारे गये। वासुदेव पुरुषोत्तम कालान्तर में दिग्विजय के अभियान पर निकल गये। दक्षिण भरतार्द्ध के समस्त राजाओं को अपने अधीन बनाकर वे द्वारिका लौटे। पिता सोम ने उन्हें सिंहासन पर बिठाया। राज्याभिषेक महोत्सव हुआ। सभी वासुदेवों की प्रकृति की ही भाँति पुरुषोत्तम भी अपनी तीव्र कषायों की प्रकृति के कारण तीस लाख वर्ष की आयुष्य पूर्ण कर छठी नरक में गये।

बलदेव सुप्रभ अनुज की मृत्यु से अतिखेदित हुए। कितने ही समय तक भोजन-पानी को नहीं छुआ उन्होंने। मंत्रियों के अनेक प्रकार से समझाने पर बहुत समय बाद दुःख का वेग कम हुआ तो मन में वैराग्य समा गया।



आपने मृगांकुश मुनि के चरणों में श्रमण बन संयम-साधना की, तत्त्व-चिन्तन किया, उग्र तपश्चरण किया। उच्चतर भाव श्रेणी आरोहण करने पर उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ। अनेक वर्षों तक वे जन-जन के कल्याणार्थ जिनवाणी का उपदेश करते रहे। आयु के अन्तिम भाग में सर्वकर्म क्षय कर आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

### □ पाँचवें बलदेव-सुदर्शन

पाँचवें बलदेव सुदर्शन अश्वपुर के प्रतापी नरेश राजा शिव के पुत्र थे। इनके अनुज थे वासुदेव पुरुषसिंह, जिनकी माता का नाम रानी अभंका था।

एक बार कुमार सुदर्शन पिता की आज्ञा से सीमा पर किसी दुर्मद-नरेश से युद्ध करने गया। पीछे उसके पिता शिव दाह-ज्वर से पीड़ित हुए, कोई चिकित्सा कारगर नहीं हुई, मृत्यु-शय्या पर पहुँच गये तो रानी आत्म-दाह के लिए तैयार हुई। कुमार पुरुषसिंह ने रोकना चाहा। रानी नहीं मानी। वह मृत शरीर के साथ भी नहीं जलना चाहती थी। अपितु सधवा बनी रहकर, सोलह श्रृंगार कर जलना चाहती थी। वैसा ही किया भी उसने।

कुमार पुरुषसिंह की आँखों के सामने ही यह सब हुआ पर वे कुछ न कर पाये। अतीव दुःख से अभिभूत बने वे रुग्ण पिता की सेवा में जुटे। राजा शिव ने रानी के जलने व कुमार के अत्यन्त दुःखी होने की स्थिति को जाना तो स्वयं की पीड़ा को अन्तर् में दबाए कुमार को सांत्वना देने लगे और स्वयं सदा-सदा के लिए शान्त हो गये।

कुमार सुदर्शन ने सीमा पर दुर्मद-नरेश को पराजित कर वहाँ शान्ति स्थापित कर दी थी। उस विजय के बाद वे वहीं कुछ विश्राम करना चाहते थे कि अश्वपुर से विशेष दूत ने आकर बताया कि विश्राम का अवकाश नहीं है, अतिआवश्यक कार्य है, आप तुरन्त चलिए।

अश्वपुर में प्रवेश करने पर बलदेव सुदर्शन को हृदय-विदारक समाचार मिले। मातृ एवं पितृ-वियोग से वे व्याकुल हो गये पर कर्तव्य का भान होते ही सँभाला अपने आप को। अनुज को धैर्य बँधाया।

दोनों ने मिलकर शासन की बागडोर सँभाली। उधर हरिपुर राज्य के नरेश प्रतिवासुदेव त्रिखण्डाधिपति निशुंभ को अश्वपुर-नरेश की मृत्यु का संदेश मिला। सोचा—‘दोनों

कुमारों को शासन-व्यवस्था सिखाने के बहाने से अपने यहाँ बुलाकर मरवा दूँ।' पर उसकी चाल असफल रही। दोनों भाई चतुर थे अतः आज्ञा की अवहेलना कर वहाँ जाने से मना कर दिया। निशुंभ ने यही बहाना बनाकर अश्वपुर पर आक्रमण किया पर उन दोनों कुमारों ने प्रतिवासुदेव निशुंभ का गर्व चूर कर उसे काल की गोद में सुला दिया और आधे भरत क्षेत्र पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

वासुदेव पुरुषसिंह का राज्याभिषेक हुआ। दोनों भाइयों ने अर्द्ध-भरत क्षेत्र पर एकछत्र राज्य किया।

दस लाख वर्ष के लम्बे काल में पुरुषसिंह वासुदेव ने अनेक पापों का गुरुतर संचय किया और मरकर छठी नरक में उत्पन्न हुए।

भाई के वियोग से दुःखी होकर सुदर्शन बलदेव ने कीर्तिधर मुनि से संयम ग्रहण किया। निरतिचार संयम-पालन व उग्र तपश्चरण कर कैवल्य की प्राप्ति की। सत्रह लाख वर्ष का आयुष्य भोगकर बलदेव 'मुनि सुदर्शन' मुक्तिगामी बने।

#### □ छठे बलदेव—आनन्द

अठाहरवें तीर्थंकर अरनाथ के काल में चक्रपुर नाम के नगर में महाशिर नाम के राजा के दो रानियाँ थीं—वैजयन्ती और लक्ष्मीवती। वैजयन्ती के पुत्र का नाम आनन्द और लक्ष्मीवती के पुत्र का नाम पुरुष-पुण्डरीक रखा गया। दोनों में असाधारण स्नेह था।

कुमार पुण्डरीक का विवाह राजेन्द्रपुर राज्य के नरेश उपेन्द्रसेन की कन्या पद्मावती से हुआ। पद्मावती अनिन्द्य सुन्दरी थी। महाराज महाशिर एवं दोनों कुमारों के चढ़ते बल और फैलते यश के साथ विवाह की इस घटना से अनेक अन्य राज्यों के नरेश मन ही मन चक्रपुर से, उसके वैभव से ईर्ष्या करने लगे। मन की जलन जब बढ़ी तो कुछ राजाओं ने मिलकर अदिंजयनगर के नरेश त्रिखण्डाधिपति बलि के कान भरने शुरू किये।

महाराज बलि शक्तिशाली थे, त्रिखण्डेश होने से उनमें सत्ता का मद था, अधीनस्थ राजाओं की बातों में रस लेते थे। जब ज्ञात हुआ कि तीनों खण्डों में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी है पद्मावती और उसका विवाह अधीनस्थ राज्य के राजकुमार से हुआ है तो उनके मन में भी जलन हुई। कहने वाले कह बैठे कि समस्त उत्तम रत्नों के अधिकारी आप हैं और पद्मावती सर्वोत्तम नारीरत्न है। बस दूत भेजकर नरेश महाशिर से उनकी पुत्रवधू की याचना कर बैठे।

याचना पूरी होने का तो प्रश्न ही नहीं था। उत्तम अश्व, गज और निर्जीव कंकर-पत्थरों अर्थात् हीरे-पत्तों, माणिक-मोती के लिए भी युद्ध हो जाते हैं तो यह तो मान-सम्मान की बात थी, कुल के गौरव और वंश के मर्यादा की बात थी।

युद्ध हुआ। भयंकर नर-हानि के पश्चात् प्रतिवासुदेव बलि की वासुदेव पुरुष-पुण्डरीक कुमार के हाथों मृत्यु हुई। पुरुष-पुण्डरीक अब वासुदेव थे और आनन्द थे बलदेव। दोनों भ्राताओं ने भरत क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध पर एकछत्र राज्य किया।

पैंसठ हजार वर्ष का आयुष्य क्रोधादि कषायों, हिंसादि पापकार्यों में बिताकर, अनेक युद्ध कर, अनेक निरपराधों को मौत के घाट उतारकर वासुदेव पुरुष-पुण्डरीक घने पाप-पुँज के संचय स्वरूप मरकर छठी नरक में गये।

बलदेव आनन्द ने भ्राता की मृत्यु के पश्चात् संसार से उदासीन हो सुमित्र मुनि के पास दीक्षा ली। शुद्ध संयम व उग्र तप से केवलज्ञान व केवलदर्शन प्राप्त किया। पिच्यासी हजार वर्ष का आयुष्य भोग आयुष्य पूर्ण होने पर मोक्ष में जाकर विराजमान हो गये।

#### □ सातवें बलदेव—नन्दन

सातवें बलदेव थे 'नन्दन'। ये वाराणसी नगर के अग्निसिंह नामक राजा के पुत्र थे। इनकी माता महारानी जयन्ती थी।

बलदेव नन्दन के भ्राता वासुदेव दत्त भी अग्निसिंह के पुत्र थे जिनकी माता का नाम था—शेषवती।

तिलकपुर के विद्याधर राजा प्रह्लाद ने अपने बल और पराक्रम से सम्पूर्ण दक्षिण-भरतार्द्ध को अपने अधीन बना लिया था। उन्हें कुमार नन्दन और दत्त के पराक्रम और तेजस्विता के समाचार लगातार मिल रहे थे, अतः वे चिन्तित हो गये।

जलकर ज्वाला बनने से पूर्व ही चिनगारी को बुझा देने की नीति होती है प्रतिवासुदेवों की। साँप को फन उठाने से पहले कुचलना ही उनकी दृष्टि में बुद्धिमत्ता थी।

युद्ध का बहाना क्या बनाया जाये? प्रह्लाद थे त्रिखण्डेश और नरेश अग्निसिंह थे उनके अधीनस्थ। कुछ भी कारण नहीं सूझा तो दूत को भेजकर नरेश अग्निसिंह के विशालकाय हाथी की माँग कर ली। माँग पूरी कैसे होती? जिसके नन्दन और दत्त जैसे पुत्र हों वे भला ऐसी माँग की पूर्ति कब करने वाले थे?

परिणाम वही हुआ जो होना था। महाभयंकर रक्तपात, असंख्य बेकसूर सैनिकों की हत्या। युद्ध में दत्त ने प्रतिवासुदेव प्रह्लाद को मारकर वासुदेव का पद प्राप्त किया। उन्होंने इस विजय के पश्चात् अपने भ्राता बलदेव नन्दन के साथ दक्षिण-भरत क्षेत्र के सभी राज्यों का विजय-अभियान पूर्ण कर त्रिखण्ड के राज्य को अपने अधीन बनाया।

बलदेव नन्दन व वासुदेव दत्त ने सुदीर्घ काल तक तीनों खण्डों पर शासन किया।

छप्पन हजार वर्ष की आयु में विपुल पापकर्मों का बंध कर वासुदेव दत्त पाँचवीं नरक में गये।

बलदेव नन्दन दीर्घ समय तक भाई के वियोग में उन्मादित रहे। उन्माद समाप्त होने पर आपको संसार सूना-सूना लगा। शरीर को नश्वर जान वैराग्य का चिन्तन किया। दीक्षा लेकर शुद्ध संयमाचरण किया। रत्नावली, लघुसिंह-निष्क्रीडित, महासिंह-निष्क्रीडित आदि अनेक उग्र तप कर कर्मों की निर्जरा की। घनघाती-कर्म क्षय कर कैवल्य प्राप्त किया। पैसठ हजार वर्ष की आयुष्य पूर्ण होने पर अजर-अमर-अविनाशी सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

पुरुषार्थ प्रबल हो तो बद्धकर्म-समूह घास के पूले की तरह जलकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म यदि क्षय करने हैं तो व्यक्ति को, साधक को अहिंसा, संयम, तपरूप धर्म में निरन्तर पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। 'संजमम्मि य वीरियं।'—प्रभु महावीर के इस सन्देश पर चलते हुए 'समयं गोयम मा पमाइए।'—धर्मकार्य में विलम्ब न कर, क्षण मात्र भी प्रमाद में नहीं खोना चाहिए।

गुणी महापुरुषों के गुणानुवाद से गुण-प्राप्ति यदि हो सकेगी तो वह महाफल होगा, वही महाफल शाश्वत सुख और निराबाध आनन्द दे सकेगा।

आनन्द ही आनन्द!



## जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा-२

(आठवें बलदेव—राम)

आत्म-बंधुओं !

जिनेश्वर भगवान की वाणी प्राणी मात्र के लिए परमोपकारी है। अनादिकाल से संसार में भ्रमण करने वाली यह आत्मा चार प्रकार की संज्ञाओं से युक्त है, ऐसी संज्ञाओं से युक्त जो प्राणी को राग-द्वेष में उलझाती हैं, विषय-विकारों में धकेलती हैं, यह वाणी उन संज्ञाओं से मुक्त कराने वाली है।

□ भव-भ्रमण का कारण—संज्ञाएँ !

कौन-सी हैं वे चार संज्ञाएँ? वे हैं—

- (१) आहार-संज्ञा,
- (२) भय-संज्ञा,
- (३) मैथुन-संज्ञा, और
- (४) परिग्रह-संज्ञा।

क्या है संज्ञा? संज्ञा वह भाव है, वह रुचि है, जो आपको आहार के लिए विवश करे, बिना मतलब का भय मन में उत्पन्न करे, मैथुन के लिए व परिग्रह-संग्रह के लिए प्रेरित करे।

आपको भूख नहीं है अतः खाना नहीं चाहते। कोई आपके साथ जबरदस्ती भी नहीं है कि खाओ, खाना पड़ेगा। आपका मन भी नहीं है कुछ भी खाने का पर आहार-संज्ञा-भाव मन में उभर गया तो परिणाम बन गए कि कुछ न कुछ खा लूँ तो अच्छा रहे।

### □ किसे कहते हैं संज्ञा ?

आगम की भाषा में कहूँ तो वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से तथा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से आहार आदि प्राप्ति की अभिलाषा, रुचि, मनोवृत्ति रूप क्रिया को संज्ञा कहते हैं।

जिसे निमित्त से जीव सम्यक् प्रकार से जाना जाता है, उसे संज्ञा कहते हैं। जिस प्राणी में जिस संज्ञा का बाहुल्य हो, उससे उसे जाना-पहचाना जा सकता है। नारकी में नैरयिकों को भय की संज्ञा बहुलता से रहती है तो वे भय-संज्ञा की बहुलता के कारण पहचान लिये जाते हैं।

### □ चार गति और उनमें चार संज्ञाओं की न्यूनाधिक उपलब्धता

देवगति के देवों में सबसे कम आहार-संज्ञा वाले होते हैं क्योंकि देवों की आहारेच्छा का विरहकाल अर्थात् अंतराल बहुत लम्बा होता है। कहना चाहिए उन्हें आहार की लम्बे समय तक आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके आहार-संज्ञा के उपभोग का काल अत्यल्प होता है। भय-संज्ञा वाले आहार-संज्ञा से संख्यातगुणा अधिक होते हैं क्योंकि अनेक देवों में भय-संज्ञा लम्बे काल तक रहती है। भय-संज्ञा वाले देवों से मैथुन-संज्ञा वाले देवों की संख्या संख्यातगुणा अधिक होती है और उससे भी परिग्रह-संज्ञा वाले देव संख्यातगुणा अधिक होते हैं क्योंकि मणि, कनक, रत्न आदि में उनकी सदैव आसक्ति बनी रहती है।

मनुष्यगति में सर्वाधिक मैथुन-संज्ञा वाले मानव कहे गए हैं। शेष तीन का क्रम सबसे कम भय, उससे संख्यातगुणा अधिक आहार व उससे संख्यातगुणा अधिक परिग्रह-संज्ञा का समझना चाहिए।

तिर्यञ्चगति में परिग्रह सबसे कम, मैथुन-संज्ञा वाले उससे संख्यातगुणा अधिक, भय-संज्ञा वाले उससे संख्यातगुणा अधिक तथा आहार-संज्ञा वाले सर्वाधिक मानना चाहिए।

नरकगति में सबसे कम मैथुन-संज्ञा वाले, आहार-संज्ञा वाले उससे संख्यातगुणा ज्यादा, परिग्रह-संज्ञा वाले उससे संख्यातगुणा ज्यादा और भय-संज्ञा वाले उससे संख्यातगुणा ज्यादा होते हैं।

इस सबका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के अष्टम संज्ञापद में बतलाया गया है जिसमें आहारादि चार संज्ञाओं के अतिरिक्त छह और संज्ञाओं का वर्णन भी मिलता है जिन्हें मिलाकर कुल दस संज्ञाएँ हो जाती हैं। ये शेष छह संज्ञाएँ हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ एवं लोक-संज्ञा व ओघ-संज्ञा।

#### □ संज्ञाओं के कारण

आहार-संज्ञा के चार कारण बताये हैं—

- (१) पेट खाली होना,
- (२) क्षुधा-वेदनीय कर्म का उदय होना,
- (३) आहार-चिन्तन, और
- (४) आहार-वार्त्ता श्रवण।

भय-संज्ञा के भी चार कारण हैं—

- (१) धैर्य का अभाव,
- (२) भय-मोहनीय (नोकषाय मोहनीय का एक भेद) के उदय से,
- (३) भय-वार्त्ता-श्रवण, तथा
- (४) भय-चिन्तन।

मैथुन-संज्ञा के भी चार कारण हैं—

- (१) रक्त-माँस बढ़ने से,
- (२) वेद-मोहनीय कर्म के उदय से,
- (३) मैथुन संबंधी बातें सुनने से, तथा
- (४) भोग संबंधी चिन्तन से।

परिग्रह-संज्ञा के भी चार ही कारण हैं—

- (१) अत्यन्त वासना-इच्छा की आसक्ति,
- (२) लोभ-मोहनीय कर्म के उदय से,
- (३) परिग्रह संबंधी बातें सुनकर, और
- (४) परिग्रह संबंधी चिन्तन से।

नारकी से आकर जो जीव उत्पन्न होते हैं उनमें भय-संज्ञा की अधिकता होती है। इसी तरह तिर्यञ्चगति से आए जीव में आहार-संज्ञा, मनुष्यगति से आए जीव में मैथुन-संज्ञा व देवगति से आए जीव में परिग्रह-संज्ञा अधिक होती है।

जो जीव नरक से आता है उनमें क्रोध की अधिकता, तिर्यञ्च से आए जीव में माया, मनुष्यगति से आए जीव में माना व देवगति से आए जीव में लोभ की अधिकता रहती है।

#### □ किस कर्मोदय से कौन-सी संज्ञा ?

आहार-संज्ञा वेदनीय कर्म के उदय से, ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम से और शेष सात संज्ञाएँ मोहनीय कर्म के उदय से होती हैं।

#### □ जड़ है मोहनीय

भवभ्रमण को घटाने, कर्म-शत्रु को नष्ट करने, विषय और विकारों से मुक्ति पाने तथा राग-द्वेष को जीतने के लिए इन सभी संज्ञाओं को कम करना होगा, नष्ट करना होगा। इन्हें नष्ट करना है तो इनकी जो जड़ है, उसे पहचानना होगा। चार में से तीन संज्ञाएँ मोहनीय कर्म के प्रभाव से होती हैं और प्रकारांतर से दस में से सात संज्ञाएँ मोहनीय के प्रभाव से आती हैं अतः जड़ है मोहनीय कर्म।

#### □ मोहनीय को नष्ट करना है

मोह को हल्का करना है, घटाना है। अनंतानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधादि चतुष्क को हल्का बनाइए। नौ नोकषाय की मोहनीय प्रकृतियों को मिटाने के प्रयत्न में लग जाइए, स्वतः संज्ञाओं का भी निवारण हो जाएगा।

इसी अष्टकर्म-नरेश 'मोहनीय कर्म' को हटाने के लिए अनेक भव्यात्माओं ने चिन्तन, मननपूर्वक संसार व शरीर से आसक्ति को हटाया था। 'बड़ी साधु वन्दना' में चल रहा है उन्हीं भव्यात्माओं का वर्णन। सात बलदेवों का विवरण आप अब तक सुन चुके हैं, आज आप सुनेंगे आठवें बलदेव राम का आदर्श जीवन। यहाँ आप राम के जिस चरित्र का श्रवण करेंगे वह जैन-राम कथा के अनुसार है, जिसका आधार है—'पद्म-पुराण'।



### □ आठवें बलभद्र राम और वासुदेव लक्ष्मण

अयोध्या-नरेश राजा दशरथ की पटरानी अपराजिता जिन्हें कौशल्या के नाम से भी जाना जाता है, के गर्भ से बलदेव पद्मरथ का जन्म हुआ, जिसने आगे जाकर 'राम' के नाम से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति अर्जित की।

राजा दशरथ की द्वितीय पत्नी सुमित्रा ने भी वासुदेव के गर्भ में आने पर देखने योग्य सात स्वप्न देखे और गर्भकाल पूरा होने पर वासुदेव नारायण को जन्म दिया। यह बालक संसार में लक्ष्मण के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इन दोनों के दो अन्य भ्राताओं के नाम थे—भरत और शत्रुघ्न।

चारों राजकुमारों ने बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक सम्पूर्ण कलाओं एवं विद्याओं की शिक्षा प्राप्त की एवं उनमें पारंगत बने। युवा होने पर दशरथ को ऐसे वीर, धीर, गंभीर पुत्रों पर अत्यन्त गर्व का अनुभव होने लगा।

### □ राम के साथ सीता का वाग्दान

मिथिला-नरेश राजा जनक एवं महाराज दशरथ दोनों में परम मैत्री-सम्बन्ध थे। अर्द्ध-बर्बर देश के आतरंगतम आदि म्लेच्छ राजाओं ने मिथिला-नरेश के राज्य में जब उपद्रव करना प्रारंभ किया और जनक के उन्हें दबाने के सभी उपाय जब नाकाम रहे, भेजे गए सामन्त-योद्धा भी उनसे पार न पा सके तब जनक ने दशरथ को दूत भेजकर सहायता माँगी। दशरथ ने मित्र की विपत्ति से रक्षा के लिए अपने राम आदि चारों ही पुत्रों को सेना देकर वहाँ भेज दिया। राम ने सभी म्लेच्छ राजाओं को युद्ध में परास्त कर दिया।

### □ विद्याधर द्वारा सीता की माँग

युद्ध में जनक ने राम के शरलाघव को देखा तो मुग्ध रह गए और सीता का वाग्दान राम के साथ कर दिया। नारद जी के नारदपन के कारण रथनुपुर के पालित राजकुमार भामण्डल को जनक-पुत्री जानकी (सीता) का चित्र ऐसा भाया कि वे उसे पाने की चिन्ता में खाना-पीना ही भूल गए।

पिता महाराज चन्द्रगति ने पुत्र भामण्डल की जब यह दशा देखी तो कारण ज्ञात किया और चपलगति विद्याधर से कहा कि जनक राजा को माया से यहाँ ले आओ। विद्याधर ने अश्व का रूप धारण किया और मिथिला आया। जनक ने उत्तम और अजब इस अश्व को देखा तो अपनी अश्वशाला में भेज दिया। एक बार जनक ने उस अश्व की सवारी की। अश्व ने भी भूप की इच्छानुसार ही अपनी मति-गति दर्शाई। बहुत दिनों बाद अवसर पाकर वह मायावी विद्याधर अश्वरूप में जनक को लेकर आकाश में उड़ा और उन्हें चन्द्रगति के निकट ले आया। वहाँ जनक से कहा गया कि वे अपनी पुत्री सीता की शादी भामंडल से कर दें, इस पर जनक ने अपनी विवशता बताते हुए कह दिया कि मैं सीता का वाग्दान दशरथ-नंदन राम के साथ कर चुका हूँ।

#### □ सीता-स्वयंवर और विवाह

बहुत ही सोच-विचार के पश्चात् स्वयंवर रचाने का निर्णय लिया गया। स्वयंवर में महाराज चन्द्रगति द्वारा प्रदत्त धनुष रखा गया, जिसकी रक्षा में एक सहस्र यक्ष प्रतिपल लगे रहते थे। जब भी कोई धनुष के पास जाता, विषैले सर्पों तथा अग्नि-ज्वालाओं से धनुष आरक्षित हो जाता था। शर्त थी—“जो धनुष उठाकर शर-संधान कर ले, उसी के साथ सीता का विवाह किया जायेगा।”

स्वयंवर हुआ। महाराज चन्द्रगति और राजकुमार भामंडल भी आए। देश-विदेश के अनेक निमंत्रित राजा और राजकुमार भी आए। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न भी आए। धनुष कोई न उठा सका। राम ने उसे सहजभाव से उठा लिया। वे बलदेव थे और बलदेवों तथा वासुदेवों पर यक्षादि का वश नहीं चला करता।

प्रसन्न हो जनक ने सीता की शादी राम के साथ धूमधाम से सम्पन्न की।

#### □ दशरथ व भरत का दीक्षा का विचार

एक बार अवधिज्ञान के धारक महामुनि सत्यभूति अयोध्या में पधारे। महाराज दशरथ ने उनके दर्शन किये, उनका धर्मोपदेश सुना। किसी समय अपने अंतःपुर के अतिवृद्ध अधिकारी की अशक्तता देखकर वैराग्य का बीजांकुरण तो उनके मन में हो चुका था। सत्यभूति ने महाराज दशरथ को उनके पूर्वभव का वृत्तान्त सुनाया, जिसे सुनकर दशरथ की

वैराग्य-भावना प्रबल हो गई। राम का राज्याभिषेक कर दीक्षा लेने की भावना उन्होंने सभी के समक्ष रख दी। दशरथ-पुत्र भरत ने तब पिता के साथ ही दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। भावना दृढ़ थी अतः अंतःपुर में शीघ्र यह समाचार फैल गया कि महाराज दशरथ व राजकुमार भरत शीघ्र ही दीक्षा लेंगे।

#### □ कैकेयी ने वचन माँगा—भरत के लिए राज्य

भरत की माता कैकेयी को भरत-दीक्षा की बात सहन नहीं हुई। इधर पति-वियोग, उधर पुत्र-वियोग। संतति-मोह से ग्रसित कैकेयी ने भरत को अनेक तरह से समझाया पर वह तो दृढ़-संकल्पी था। उसे विचलित होता न देख कैकेयी ने अपने अंतिम अस्त्र का प्रयोग किया।

एक दिन कैकेयी महाराज दशरथ के पास गई और उन्हें उस वचन की याद दिलाई जो महाराज ने किसी युद्ध में सारथी बनकर कुशल रथ-संचालन के लिए कैकेयी से माँगने को कहा था और तब कैकेयी ने कहा था—“यह वचन आपके पास मेरी अमानत के रूप में रखें, समय आने पर माँग लूँगी।”

उसी वचन की याद दिलाकर कैकेयी ने राम के स्थान पर भरत के लिए राजतिलक की माँग कर दी। मन ही मन उसने सोचा कि राजा बनने के बाद भरत प्रव्रजित होने का विचार त्याग देगा। राजा वचनबद्ध थे अतः मना करने का तो प्रश्न ही नहीं था। भरत को जब ज्ञात हुआ तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक राज्यसिंहासनारूढ़ होने से मना कर दिया। उन्होंने स्पष्ट कहा—“अग्रज राम के रहते हुए मैं सिंहासन पर कदापि नहीं बैटूँगा।”

#### □ राम का वन-गमन : सीता व लक्ष्मण भी साथ

इधर दशरथ का वचन, उधर भरत का संकल्प। अब क्या हो? कौन बैठे सिंहासन पर? राम ने अपनी बुद्धि से समस्या का निदान करते हुए निर्णय लिया कि मैं यहाँ रहूँगा ही नहीं, जंगलों में चला जाऊँगा। मेरे न रहने पर भरत स्वतः राज्य-भार सँभालेगा।

#### □ भरत अयोध्या-नरेश या अयोध्या-सेवक

पर ऐसा हुआ नहीं। राम के साथ सीता एवं वासुदेव लक्ष्मण भी वन-गमन कर गए। भरत फिर भी सिंहासनारूढ़ नहीं हुए तो कैकेयी और भरत राम को मनाकर पुनः अयोध्या

लाने हेतु जंगलों में गये। भरत के अत्यन्त भावपूर्वक विनीत निवेदन और माता कैकेयी के पुनः-पुनः आग्रह पर भी राम ने पुनः अयोध्या जाने को पितृ-वचन टूटने की संज्ञा दी। उन्होंने वहीं वन में अपना राज्याभिषेक करवाया और फिर स्वयं अपने हाथों से भरत का जलाभिषेक कर अयोध्या के समस्त राजकार्य को एक राजा की तरह देखने का आदेश दिया। विवश भरत पुनः अयोध्या लौट आए। वे एक सेवक की भाँति अयोध्या का राजकार्य सँभालने लगे।

#### □ लक्ष्मण ने पाया, सूर्यहास खड्ग

जंगल-जंगल घूमते हुए बलदेव राम व वासुदेव लक्ष्मण ने सिंहोदर राजा का गर्व दूर किया, गोकर्ण यक्ष के आतिथ्य में वर्षावास बिताया, कपिल ब्राह्मण का द्रारिद्र्य दूर किया, वनमाला कर उद्धार किया, मुनि कुलभूषण व देशभूषण के देव-उपसर्ग को दूर किया, श्रावकव्रतधारी जटायु को संरक्षण प्रदान किया, इन सबके अतिरिक्त भी उन्होंने अनेक जन-हितकारी कार्य किए और देव प्रदत्त दिव्य-रथ के स्वामी बने।

घूमते-घूमते दोनों भ्राता सीता सहित दण्डकारण्य में पहुँच गए। अत्यन्त सघन, महाभयंकर था वह वन। यहाँ एक गुफा को निवास बनाकर रहने लगे। तभी किसी दिन वन में घूम रहे लक्ष्मण एक बाँस के सघन वन में पहुँच गए। बाँसों के झुरमुट में घुसे तो कुछ दूरी पर से आ रही एक अजब चमक से उनकी आँखें चुँधिया गईं। बढ़कर देखा तो सूर्य की भाँति चमचमाता एक दिव्य खड्ग अधर में लटक रहा था।

#### □ लक्ष्मण के हाथों शम्बूक अनायास ही मारा गया

लक्ष्मण वीर योद्धा थे, उस दिव्यास्त्र को देख उन्हें उत्सुकता हुई। हाथ बढ़ाया तो खड्ग उनके हाथ में आ गया। धार की परख के लिए सामने के बाँसों के एक झुण्ड पर प्रहार कर दिया। खच् की आवाज के साथ अनेक बाँस कटकर एक ओर गिर गये। लक्ष्मण के निकट आ गिरा एक मानव का कटा सिर। सामने दृष्टि गई तो बिना सिर का एक धड़ उल्टा लटक रहा था। वट-वृक्ष की डाली से। उस धड़ में से रक्त की धारा बह रही थी। लक्ष्मण का मन व्यर्थ के इस हत्याकाण्ड से पश्चात्ताप से भर गया। बाद में मालूम हुआ कि यह सूर्यहास खड्ग है।

बंधुओं ! कभी-कभी अनजान में किया गया एक साधारण कार्य अनर्थदंड का रूप लेकर कितना असाधारण अंजाम दे जाता है, यह हम इस प्रसंग से जान सकते हैं।

सूर्यहास खड्ग उत्तम साधना के परिणाम से ही हस्तगत होता है। यह निश्चित था कि जिसका सिर कटा वह उत्तम साधक था। साधना तो सिद्ध हुई पर खड्ग साधक की जगह लक्ष्मण ने पाया और साधक का सिर कट गया। यह सब पूर्वभव के कर्मों का फल था।

वह साधक था शम्बूक, पाताल लंका के शासक खर और उसकी रानी चन्द्रलेखा (जिसके नाखून उस्तरे की भाँति लम्बे व तीक्ष्ण थे अतः जो क्षुरपनखा के नाम से प्रसिद्ध हुई। यही नाम अपभ्रंश हो शूर्पणखा में बदल गया) का बेटा। बारह वर्ष सात दिन तक भयंकर दंडकारण्य में तप-सिद्धि हो गई, सूर्यहास खड्ग साधक के पास आ गया पर साधक तपलीन ही रहा। परिणाम जो हुआ, आपने अभी सुना।

### □ कामाविष्ट नारी, हो गई कोपाविष्ट !

विद्या-साधक शम्बूक की माता साधना की अवधि पूर्ण हुई जान दिव्य खड्ग व पुत्र की आरती हेतु वन में आई तो पुत्र का कटा सिर व धड़ देखा। विवेक आने पर आसपास मानवी चरण-चिह्न ढूँढ़ उन्हीं के सहारे वह गुफा के निकट पहुँची। राम व लक्ष्मण जैसे सजीले, रूपवान युवकों को देख उसका कामभाव अतिरेक में आ गया। उसने नागकन्या-सा सुन्दर रूप बनाया, अपने को असहाय बताया और उनसे स्वामी बनकर संरक्षण देने की याचना की।

राम ने अपने को विवाहित बताया तो लक्ष्मण ने कहा कि तुमने चूँकि पहले मेरे अग्रज भ्राता से काम-याचना की अतः तुम मेरे लिए पूज्य हो। मैं तुमसे विवाह कैसे कर सकता हूँ?

कामाविष्ट नारी कोपाविष्ट हो गई। पाताललोक पहुँचकर पति को बताया कि राम-लक्ष्मण नाम के दो युवक जंगलों में आए हैं। उन्होंने हमारे प्रिय पुत्र शंबूक का सिर काट दिया है। तुम उन दोनों को मारकर पुत्र-हत्या का बदला लो।

पति को राम-लक्ष्मण की हत्या करने भेजा और इस पर भी क्रोधाग्नि शांत नहीं हुई तो सोचने लगी—‘यह सब सीता के कारण हुआ है? वह अत्यन्त सुन्दर है, तभी मेरी याचना टुकरा दी गई है। सीता का भी अपमान होना चाहिए।’ चन्द्रलेखा (शूर्पणखा) पाताललंका से लंका पहुँची। उसका भ्राता था लंकापति रावण।

रावण ने बहन के मुँह से राम-लक्ष्मण द्वारा अपने भाणजे शम्बूक के निरपराध शिरच्छेद करने की और बहन को भी व्यर्थ ही अपमानित करने की बात सुनी तो उसका क्रोध भड़क उठा। त्रिखंडाधिपति था वह। शक्ति थी, सत्ता थी अतः मद भी था। चन्द्रलेखा ने भाई के क्रोध के साथ काम को भी जगाने की भावना से कहा—“न सेना, न राज्य, न अस्त्र-शस्त्र पर घमंड उनमें कितना! शायद उस सीता के कारण ही वे अपने आप को न जाने क्या समझते हैं?”

रावण ने पूछा—“कौन सीता?”

चन्द्रलेखा ने कहा—“एक स्त्री। अनुपम सुन्दरी। इतनी सुन्दर कि उसकी रूप-राशि के सम्मुख यह तीन खंड का तुम्हारा राज्य धूल का एक कण भी नहीं है। आश्चर्य है ऐसा स्त्री-रत्न उन भिखारियों के पास, वह तो तुम्हारे महलों में ही शोभित हो सकता है।”

#### □ रावण द्वारा सीता-हरण

बहन का प्रयास सफल हुआ। लंकापति का मन कामोद्दीप्त हो गया। लंकापति पुष्पक-विमान में बैठकर तुरंत दंडकवन में जाने को तैयार हुआ। सौन्दर्य की प्यास उसे मौत के मुँह में धकेल रही थी।

चन्द्रलेखा का पति राजा खर अपने भाई दूषण के साथ सेना लेकर राम-लक्ष्मण को मारने आया। राम की आज्ञा लेकर लक्ष्मण चले पाताल-लंका-नरेश, खर-दूषण व उनकी चौदह हजार योद्धाओं की सेना से अकेले ही लड़ने। राम को कह गए कि किसी भी प्रकार की आपदा आई तो वे सिंहनाद करेंगे। उधर लंकेश रावण वहाँ आ धमका, जहाँ राम व सीता थे। दूरी पर ही विमान उतार वह सीता का अपहरण करने चला पर जैसे ही देखा राम को, सहम गया वह उनके दिव्य-तेज को देखकर। साहस ही नहीं हुआ कि उनके होते हुए सीता

को उठा ले जाए। मायावी लंकेश ने अवलोकनी-विद्या का स्मरण किया और अपना कार्य बताकर मदद माँगी।

भय से काँपते हुए अवलोकनी विद्या ने असमर्थता बताते हुए कहा कि “मैं तो क्या, देवराज इन्द्र भी राम के होते सीता को आँख उठाकर देखने तक की हिम्मत नहीं कर सकते।” “कोई न कोई उपाय तो करना पड़ेगा।”—रावण ने कहा। अवलोकनी ने बताया कि “लक्ष्मण की आवाज में दूर से सिंहनाद किया जाए तो राम समझेंगे कि लक्ष्मण पर संकट आया है और वे सहायतार्थ चल देंगे। सीता तब अकेली रह जायेगी।”

ऐसा ही किया गया। अवलोकनी विद्या ने दूर से लक्ष्मण की आवाज में सिंहनाद किया। राम ने सुना पर विश्वास नहीं हुआ उन्हें कि लक्ष्मण जैसा वीर-योद्धा संकट में पड़ सकता है पर सीता ने आग्रहपूर्वक राम को लक्ष्मण की सहायता के लिए भेज दिया। सीता का लक्ष्मण के प्रति पुत्रवत् प्रेम था अतः वे उसे संकट में कैसे देख सकती थीं?

राम गए। सीता अकेली रह गई। रावण ने सुनहरा अवसर देख विचारमग्न जानकी को उठाया और चल दिया, पुष्पक-विमान में बैठ लंका की तरफ। सीता के होश उड़ गए, कमल-सा खिला मुख मुरझा गया। आँखों में आँसू भरकर रोती हुई सीता बार-बार राम को, लक्ष्मण को पुकारने लगी।

जटायु देख रहा था। अपने भारी-भरकम शरीर से, पंजों से व चोंच से उसने रावण पर आघात किए, उसका वक्षस्थल लुहूलुहान कर दिया। कुपित हो रावण ने जटायु पर तलवार से अनेक वार कर उसे मृत-सम बना उसके पर काट दिये।

### □ राम वियोग-विह्वल

इधर यह सब हो रहा था, उधर राम युद्ध के मैदान में लक्ष्मण की सहायतार्थ पहुँचे तो उसे सकुशल, संकटों से दूर देख विस्मित हुए। लक्ष्मण भी अग्रज को देख चकित थे। पूछने पर राम ने जो कुछ हुआ, बता दिया।

लक्ष्मण ने कहा—“आर्य ! मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया। अवश्य कोई राक्षसी माया होगी। सीताजी अकेली हैं, आप तुरंत जाकर उनकी रक्षा कीजिए।”

राम लौट पड़े। आकर देखा तो सीताजी का कहीं पता न था। जटायु अंतिम श्वासों गिन रहा था। परोपकारी राम ने परलोक के संबलस्वरूप नवकार महामंत्र उसे सुनाना प्रारंभ किया। जटायु ने सुख-समाधिपूर्वक प्राण त्याग दिये।

राम वियोग-विह्वल हो सीता को खोजने लगे पर सीता कहाँ थी वहाँ? वह तो लंकेश के देवरमण उद्यान में अशोक-वृक्ष के नीचे बैठी आँसू बहा रही थी।

उधर लक्ष्मण युद्ध के मैदान में राक्षस खर की सेना से युद्धरत थे। खर के भाई त्रिशिरा का लक्ष्मण ने कण्ठछेदन कर डाला और खर की शक्ति को देखते हुए क्षुप्र अस्त्र का प्रयोग किया, उस शक्ति ने महावेग से खर का मस्तक छेद दिया। खर का भाई दूषण भी लक्ष्मण के हाथों मारा गया।

विजयी बन जब वे राम के सम्मुख आए तो राम सीता-वियोग में भाव-शून्य से थे। लक्ष्मण ने उन्हें धैर्य बँधाया।

#### □ रावण द्वारा सीता को बहकाने के अनेक प्रयत्न

उधर लंका में कामांध रावण के शरीर को सीता का आकर्षण दावानल की भाँति जला रहा था। पटरानी मन्दोदरी पति की यह दशा देख चिन्तित हुई। रावण से उसने कुछ कहा तो रावण ने उल्टा उसे ही धर्म-संकट में डाल दिया। रावण बोला—“तुम मेरी पत्नी हो। पत्नी पति के दुःख-सुख की सहभागिनी होती है। मेरे दुःख को तुम चाहो तो दूर कर सकती हो। तुम किसी तरह सीता को मेरे अनुकूल कर दो।”

मन्दोदरी पर तो मानो वज्रपात हो गया। पर वह थी पति-भक्ता। मुख पर खेद की रेखा भी बिना लाए बोली—“स्वामी! अपने पति की जीवन-रक्षा के लिए यह भी करूँगी।”

मन्दोदरी ने सीता को अनेक तरह से अपने पति के अनुकूल बनाने के प्रयास किए पर उसके स्वर में कोई उत्साह नहीं था। उसके शब्द खोखले, निष्प्रभाव थे। मन में तो वह भी समझ रही थी कि मैं जो भी कर रही हूँ, अनुचित है, स्त्री-मर्यादा के प्रतिकूल है।

सीता ने मन्दोदरी के इस कार्य पर अनेक व्यंग्य कसे, कटु-वचन भी कहे, प्रतारणा दी और अंत में कह उठी—“आज आपने सतीधर्म को कलंकित कर दिया है। आप जैसी सती



जब पति के मोह में पड़कर धर्म का मर्म भुला बैठी तो अब लंका और लंकेश का विनाश अवश्यंभावी है।”

बंधुओं ! यह एक सती के वचन थे। सोलह सतियों में सीताजी भी एक सती हैं। सती के वचन कभी खाली नहीं जाते। सती के इन शब्दों को सुन मन्दोदरी का तन-मन काँप उठा। अपने व्यवहार पर पश्चात्ताप करते हुए वह वहाँ से उठी और राजमहलों की ओर चल दी।

मन्दोदरी के असफल होने पर लंकेश ने सीता के सम्मुख अपनी शक्ति और लंका की समृद्धि का बयान कर उसे लुभाना चाहा पर सीता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सब तरह से हारकर रावण ने अपने विद्याबल को आजमाया। विविध रूप धारण कर सीता को डराना चाहा। सिंह, सर्प, व्याघ्र, भूत-प्रेत-पिशाच आदि के अनेक भयावने रूप दिखाए पर सीता के पास तो महामंत्र-नवकार का जबरदस्त सम्बल था, वह क्यों डरती ?

#### □ विभीषण द्वारा सीता को धैर्य देना

विभीषण को पता लगा तो वह अपने सहोदर लंकेश की इस काली-करतूत पर खेदित हुआ। उसने भ्राता को विध-विध उपायों से समझाया और सीता को पुनः राम के पास भिजवाने का आग्रह किया पर कामांध रावण ने उसका सुना-अनसुना कर दिया।

विभीषण ने सीता से भी बात की और उसे धैर्य बँधाते हुए कहा कि रावण ने स्वर्णतुंग पर्वत पर केवली अनन्तवीर्य से यह प्रतिज्ञा ले रखी है कि “नहीं इच्छती परस्त्री के साथ कभी रमण नहीं करूँगा। अतः वह तुम्हें इन्द्रजाल भले ही दिखा ले, तुम्हारे शील को किसी प्रकार भी आँच नहीं पहुँचा सकता।”

#### □ राम-लक्ष्मण द्वारा सीता की खोज, संकेत मिले

इधर राम और लक्ष्मण ने वन-वन, पर्वत-पर्वत छान लिये पर सीता नहीं मिली। राम व लक्ष्मण ने जिन-जिन का हित साधा, उनमें से वानरराज सुग्रीव ने सीता को ढूँढ़ने का संकल्प लिया। अंत में अपने सुभटों की सहायता से उसी ने पता लगाया कि सीता को लंकेश लंका ले गया है।

### □ हनुमान बने दूत और जला आए लंका

लक्ष्मण तो चाहते थे कि तुरंत लंका पहुँचकर रावण को मार देना चाहिए पर नीति के अनुसार एक बार दुश्मन के पास दूत अवश्य भेजा जाना चाहिए। शत्रु समझाने पर भी न माने तो फिर युद्ध करना चाहिए। राम ने यही किया। उन्होंने हनुमान को दूत बनाकर लंका भेजा और सीताजी को देने के लिए अपने हाथ की अंगुली से मुद्रिका उतारकर हनुमान को दी।

हनुमान अनेक प्रकार की राक्षसी-मायावी बाधाओं से संघर्ष करते हुए समुद्र पार कर लंका नगरी के भीतर जा पहुँचे और विभीषण से मिलकर देवरमण उद्यान में उस अशोक-वृक्ष के निकट पहुँचे, जहाँ सीताजी प्रभु राम के ध्यान में मग्न बैठी थीं। विद्याबल से अदृश्य हो हनुमान ने राम की मुद्रिका सीता के अंक में डाल दी। मुद्रिका को देख लगा सीताजी को जैसे राम यहीं-कहीं छिपे हैं। उनका उदास चेहरा खिल उठा। पहरे पर नियुक्त रक्षिका-राक्षसी ने तुरंत रावण को सन्देश भिजवाया। उसने सोचा—‘अब सीता मुझ पर अनुरक्त हो गई है।’ पर यह उसकी भूल थी। बहुत शीघ्र उसे ज्ञात हो गया कि राम का दूत लंका में पहुँच चुका है और उसी ने सीता को राम का सन्देश दिया है जिसके परिणामस्वरूप ही उसके चेहरे पर प्रसन्नता के भाव दिखाई दिये।

हनुमान ने भी बाद में प्रकट होकर सीता को राम की विरह-व्यथा कथा सुनाई। लक्ष्मण की आतुरता, कातरता व क्रोधभाव का विवरण सुनाया। वानरपति सुग्रीव, पाताललंकापति विराध, विद्याधर भामण्डल, महेन्द्र, गन्धर्वराज आदि का श्री राम के प्रति सेवाभाव का वर्णन किया और कहा कि हे माता! प्रभु राम के हृदय में तो प्रतिपल केवल आपका ही ध्यान है।

सीता ने तब अपना चूड़ामणि-आभूषण उतारकर हनुमान को दिया और कहा कि प्रमाणस्वरूप यह अपने स्वामी को दे देना, कहना कि शीघ्र आकर सीता को मुक्त कराएँ। सीता ने तब हनुमान से शीघ्र लंका छोड़ देने की बात भी कही पर अपने कौतुकप्रिय स्वभाव के कारण हनुमान ने अपना कुछ कौतुक लंकावासियों को दिखा ही दिया।

हनुमान ने देवरमण उद्यान उजाड़ा, रक्षकों को भयभीत किया। वे डरे-सहमे रावण के निकट पहुँचे वानर द्वारा उद्यान उजाड़ने व रक्षकों को भी भयभीत बनाने की बात सुनाने

लगे। क्रोधित रावण ने अपने पुत्र अक्षयकुमार को भेजा तो हनुमान ने अपने शक्तिबल से उसे यमलोक पहुँचा दिया। इस पर इन्द्रजीत अपने सुभटों के साथ आया पर हनुमान ने उन सभी को युद्ध में परास्त कर दिया। कुपित इन्द्रजीत ने तब नागपाश का प्रयोग किया। यद्यपि हनुमान उसे तोड़ सकते थे पर रावण की राजसभा में जाकर कौतुक करने के भाव से वे स्वेच्छ से उससे बँध गए।

राजसभा में दर्पमंडित रावण के समक्ष पलक झपकते जितने समय में कच्चे धागे की भाँति नागपाश के बंधनों को तोड़, वीर हनुमान ने सीधे सिंहासन पर छलाँग लगाई, रावण का सिर से मणिमंडित रत्नजड़ित स्वर्ण-मुकुट को अपने हाथों में ले पृथ्वी पर गिरा दिया, तुरंत उस पर कूदे और एक ही पदाघात में उसे चकनाचूर कर दिया। इस धृष्टता से रावण अतीव कुपित हुआ। गरजते हुए बोला—“इस दुष्ट को प्राणान्त का दण्ड दिया जाये।” हनुमान ने अट्टहास करते हुए कहा—“मुझे तुम मारना चाहते हो पर मुझे मारने का उपाय कोई नहीं जानते। पर मैं तुम पर दया करके बताता हूँ कि सारी लंका की रूई मँगवाकर मेरी पूँछ पर लपेट कर तेल से भिगोओ, फिर उस पर दियासलाई लगाओ, तब मैं जलकर मर सकता हूँ।” रावण ने वैसा ही करने का आदेश दिया। आग लगते ही हनुमान ने घन-गर्जन करके छलाँग लगा-लगाकर पूरी लंका में आग लगा दी। केवल विभीषण के महल में आग नहीं लगी। उधर लंका का वैभव जल रहा था, इधर हनुमान ने समुद्र में छलाँग लगाकर अपनी पूँछ की आग बुझा ली।

### □ सीता का सन्देश

वीर हनुमान लंका से सीधे श्री राम के पास पहुँचे और उन्हें सीता का चूड़ामणि आभूषण दे उनका सन्देश सुनाया। हनुमान ने यह भी कहा कि उन्होंने रावण को एक दूत की तरह आपका शांति सन्देश दे सीता को ससम्मान लौटाने की बात कही, विभीषण ने भी रावण को समझाया पर वह तो हठ पर अड़ा ही रहा, टस से मस नहीं हुआ।

### □ राम का युद्ध हेतु प्रयाण

राम ने देखा-अब युद्ध अवश्यंभावी है। उन्होंने आकाश-पथ से लंका की ओर प्रयाण किया। आकाश-पथ में लंका की ओर जाते हुए राम को स्थान-स्थान पर सागर, सेतु,

सुवेलगिरि-नरेश व हंसरथ आदि अनेक राजाओं ने रोकने की कोशिश की पर राम ने उन्हें परास्त कर उनके राज्य उन्हीं को लौटा दिये। अब ये सभी राजा भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ राम के साथ लंकाधिपति से युद्ध करने चल दिये।

### □ विभीषण राम के साथ

इधर राम लंका पहुँचे, उधर विभीषण ने पुनः रावण को समझाया। दोनों की वार्ता में रावण का आवेश क्रोध में बदल गया तो उसने भ्राता पर ही खड्ग उठा लिया। विभीषण ने राजसभा का एक स्तम्भ ही उखाड़ डाला। दोनों भ्राता आपस में ही लड़ पड़ते जिसके पूर्व कुंभकर्ण व इन्द्रजीत ने दोनों को पकड़ लिया। रावण ने आदेश दिया—“इस गद्दार को लंका से बाहर निकाल दो।” विभीषण तब विद्याधरों व राक्षसों की तीस अक्षौहिणी सेना को लेकर लंका से बाहर निकल गया और उसने श्री राम के सैनिक-शिविर में शरण ली।

### □ राम-रावण युद्ध, राम की विजय

उधर था राक्षसराज लंकाधिपति, अनेक शक्तियों का धारक रावण प्रतिवासुदेव और इधर थे बलदेव राम तथा वासुदेव लक्ष्मण। दोनों के असंख्य सैनिक। युद्ध प्रारंभ हुआ, घमासान मचा, धरती मीलों तक लाल होती चली गई। अनेक धुरंधर योद्धा काल के गाल में समा गए। अंत में त्रिखंडाधिपति प्रतिवासुदेव रावण के ही ‘चक्ररत्न’ से वासुदेव लक्ष्मण ने उसका शिरोच्छेद किया। अब चक्ररत्न धारण कर लक्ष्मण वासुदेव-पद के धारक बने।

लंका का राज्य विभीषण को देकर सभी पुनः अयोध्या लौटे। राम के आदेश से लक्ष्मण को अयोध्या के सिंहासन पर बिठाया गया। भव्य राज्याभिषेक-महोत्सव आयोजित हुआ।

### □ लक्ष्मण ने शरीर त्यागा

राम और लक्ष्मण का स्नेहभाव अवर्णनीय था। वे दो प्राण एक शरीर की भाँति थे। एक बार इन्द्र ने दोनों के अति प्रेमभाव की प्रशंसा की तो दो देव उस प्रेम की परीक्षा लेने अयोध्या चले आए। लक्ष्मण के महलों में जाकर इस तरह माया रची कि लक्ष्मण को अपना सारा अन्तःपुर रोता हुआ दिखाई दिया। रानियाँ रोती-रोती कह रही थीं—

“हे राम! आपकी अकाल मृत्यु कैसे हो गई? आप हम सबको क्यों निराधार छोड़ गए? अब आपके अनुज कैसे रह सकेंगे?”

लक्ष्मण ने ये शब्द सुने। भाई के प्रति अनन्य स्नेह के कारण तत्काल ही यह कह कि “भाई मरे और मैं जीवित?” वे यमलोक सिधार गए और आर्तध्यान के कारण चौथी नरक में गए।

### □ राम भ्राता के शोक में बेसुध

अब प्रारंभ हुआ असली रुदन। आक्रन्दन सुन राम दौड़े आए। लक्ष्मण को मूर्च्छित समझ वैद्य बुलवाए, ज्योतिष बुलवाए, तान्त्रिक-मान्त्रिक भी बुलवाए और लक्ष्मण को दिखा, उपचार करने का कहा। सभी जानते थे, लक्ष्मण की यह निर्जीव देहमात्र है, पर राजा राम के आगे कौन कुछ कहे? उपचार का ढोंग किया गया।

लक्ष्मण में जब जीवन नहीं लौटा तो राम विलाप करने लगे, रोने लगे, बार-बार मूर्च्छित होने लगे। कोई यदि कहता कि अब धैर्य धरिए और लक्ष्मण जी का अग्नि-संस्कार करिए तो राम अत्यन्त कुपित हो जाते।

राम अपने लघु-भ्राता के उस निर्जीव शरीर को एक अन्य कक्ष में ले गए। वहाँ वे उस शव को नहलाते, उस पर सुगन्धित चन्दन लगाते, बहुमूल्य वस्त्र पहनाते, अंक में सुलाकर बार-बार चूमते, भोजन मँगाकर खिलाने का प्रयास करते।

बंधुओं! इस मोहनीय कर्म की माया बड़ी विचित्र है। कितनी जबरदस्त इसकी ताकत कि राम जैसे बलदेव, चरमशरीरी जीव, तद्भव मोक्षगामी, परम पराक्रमी और उत्कृष्ट विवेकी को भी इसने झकझोरकर इस दशा में पहुँचा दिया।

### □ राम को प्रतिबोध, दीक्षा

स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि राम उस शव को कंधे पर उठाकर जगह-जगह नगर-ग्राम, जंगल-पर्वत घूमने लगे तब देवलोक में गए जटायु और कृतान्तवदन सारथी के जीवों ने उन्हें बोध देने के लिए वैक्रिय रूप धारण किये। एक ने सूखे हुए टूँट के वृक्ष का बार-बार सिंचन करके और दूसरे ने एक स्त्री के शव को कंधे पर उठाकर, वैसी ही विक्षिप्त दशा बनाकर उन्हें बोध दिया तब राम के दिल व दिमाग पर छया मोह का पर्दा हटा। वे संसार से विरक्त बन चुके थे। लक्ष्मण का दाह-संस्कार कर उन्होंने लव (राम के दो पुत्र हुए—लव, कुश) के पुत्र अनंगदेव को अयोध्या का राज्य सौंपा और स्वयं महामुनि सुव्रत

के चरणों में दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ शत्रुघ्न, सुग्रीव, विभीषण, विराध आदि अनेक राजा एवं तीस हजार पाँच सौ रानियाँ भी दीक्षित हुईं।

मुनि राम ने द्वादशांग रूप तीर्थकर-वाणी का अध्ययन किया। अनेक तप किए। निर्दोष श्रमणाचार का पालन करते हुए मुनि राम साठ वर्ष तक गुरुवर के साथ विचरण कर फिर गुरु-आज्ञा से एकलविहारी प्रतिमा के धारक बन विचरने लगे।

एकलविहारी बनने के पश्चात् उन्हें चौदह राजू पर्यन्त सम्पूर्ण लोक को देखने-जानने वाला उत्कृष्ट परम अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। एक मास, दो मास, चार-चार मास का उग्र तप वे करने लगे। जंगल में ही एषणीय-आहार मिलता तो ही लेते।

माघ मास की शुक्ला द्वादशी की रात्रि के तृतीय प्रहर में मुनि राम ने कोटिशिला पर कैवल्य को प्राप्त किया। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् रामर्षि केवली पच्चीस वर्ष तक धर्मदेशना करते रहे। पन्द्रह हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर उन्होंने अष्ट-कर्मों की शृंखला को तोड़ मुक्तावस्था प्राप्त की।

आनन्द ही आनन्द!



## जे कम्मे सूरा, ते धम्मे सूरा-३

नवम बलदेव श्री बलराम और वासुदेव श्रीकृष्ण

आत्म-बंधुओं !

जैनधर्म का सिद्धान्त है कि आत्मा ही परमात्मा है। न वह (परमात्मा) सृष्टि का सृजक या नियामक है, न वह इसका विध्वंसक और संहारक। न वह सृष्टि कर्ता है, न उसके इंगित से सृष्टि के समस्त कार्य होते हैं। वस्तुतः जीवात्मा ही कर्मों का कर्ता है, वही भोक्ता है, वही शुद्ध, बुद्ध बन परमात्म-पद प्राप्त करता है। प्रभु महावीर के इस उद्घोष ने संसार के उन दिलों में हलचल मचा दी जो भौतिकवादी थे और जिनका सिद्धान्त था कि जो कुछ होता है परम पिता परमेश्वर की कृपा से होता है। लेकिन भगवान महावीर ने कहा कि यह सही नहीं है। यदि प्रत्येक कार्य का कर्ता उस कथित अदृश्य शक्ति परम पिता परमेश्वर को मानें तो वह स्वयं राग और द्वेष से युक्त होगा या फिर उसकी जितनी भी क्रियाएँ होंगी, वे सभी प्राणियों में एक समान होंगी जबकि ऐसा होता नहीं है, अतः यह सिद्ध हुआ कि न वह कर्ता है और न ही भोक्ता। वस्तुतः आत्मा ही अपने कर्मों का कर्ता है और आत्मा ही स्वयं के कर्तृत्व का फलभोक्ता है। यही आत्मा जब शुभाशुभ सभी तरह के कर्म से रहित बन निर्लिप्त, विशुद्ध, 'स्व' स्वरूप में आ जाता है तो परमात्मा बन जाता है। अतः 'अप्पा सो परमप्पा' का सिद्धान्त ही सत्य है।

□ कर्मबन्धन क्या है ?

जीव अपने प्रत्येक भव की यात्रा को प्राप्त गति-जाति के आधार पर शुभाशुभ परिणामों एवं कार्यों द्वारा शुभाशुभ कर्मार्जन करता हुआ संसार-परिभ्रमण करता है। कर्मार्जन या कर्मबन्धन के रूप-स्वरूप को जो समझ लेता है, वह फिर बँधे हुए कर्मों को निर्जरित करने और नये कर्मों के आगमन की आवक को अवरुद्ध करने के लिए सन्नद्ध हो

जाता है पर यह मैंने आपसे जो कर्मबन्धन के रूप-स्वरूप को समझने की बात कही है, वह संसार की प्रवृत्तियों में आसक्त जीव के लिए बहुत मुश्किल है।

कैसे होता है कर्मबन्ध ? समस्त लोक में कर्मण-वर्गणा के अनन्त पुद्गल' अवस्थित हैं। यदि जीव के मन, वचन और कायरूप त्रियोग में राग-द्वेषात्मक विकार, कषायोद्भव एवं अन्य अशुभपन आता है तो इन कर्मण-वर्गणा के पुद्गलों में से अशुभरूप कर्मवर्गणा पुद्गल जीव-प्रदेशों के साथ स्वतः एकमेक हो जाते हैं, यही बात शुभ योगों के साथ है।

### □ जीवादि नौ तत्त्व

विचार और आचार के अनुसार आप और हम जितने भी संसारी जीव हैं, प्राणीमात्र के ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का संयोग आत्म-प्रदेशों के साथ अनन्तानन्त काल से है और तब तक रहेगा जब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो जाती।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए कर्मबन्धन के स्वरूप को समझना चाहिए और कर्मबन्धन के स्वरूप को समझने के लिए नवतत्त्वों की जानकारी होनी चाहिए। आगमों में नौ तत्त्वों के नाम आये हैं—

**जीवाजीवा पुण्ण-पावासव-संवरो य निज्जरणा ।**

**बंधो मुख्खो य तहा, नव तत्ता हुंति जाणियव्वा ॥**

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये हैं नवतत्त्व। ये नवतत्त्व और इनका यथार्थ रूप-स्वरूप जानने योग्य है अर्थात् सभी को जानना, समझना चाहिए।

यह सारा संसार जीव और अजीव, जड़ और चेतन रूप है। इन दो भेदों, दो शब्दों में सारा संसार आ जाता है।

**“जदत्थि णं लोगे, तं सव्वं दुअओआरं ।”**

—स्थानांग २/१

जीव चेतना लक्षण सहित होता है, उसमें दर्शन और ज्ञानरूप सामान्य व विशेषात्मक बोध की शक्ति होती है।

अजीव का लक्षण जड़ता है। इसमें जीव की भाँति चेतना-शक्ति नहीं होती अपितु इसका पूर्णतः अभाव होता है।



शुभ कर्म को पुण्य कहते हैं। शुभ कर्म जन्य या शुभ कर्मों की जनक जीव की शुभ वृत्तियों-प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा जाता है और अशुभ कर्म पाप हैं। अशुभ कर्म जन्य या अशुभ कर्मों की जनक जीव की अशुभ वृत्तियों-प्रवृत्तियों को भी पाप कहते हैं।

जिन कारणों से शुभ एवं अशुभ कर्मपुद्गल आत्म-प्रदेशों के साथ आकर संलग्न होते हैं वे आस्रव हैं।

#### □ आस्रव तत्त्व ही कर्मबन्ध का कारण

बंधुओं! यह आस्रव तत्त्व ही कर्मबन्ध का मुख्य हेतुक है अतः बीस प्रकार के इन आस्रव द्वारों को जिससे कर्मों का आत्मा में प्रवेश होता है, उन्हें बन्द करना जीव का प्रथम कर्तव्य है।

मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, अशुभ योग, प्रमाद, हिंसा, झूठ, चौर्यकर्म, मैथुन-सेवन, परिग्रह-ममत्व, पाँच इन्द्रियों व तीन योगों पर अनियन्त्रण तथा विवेकरहित होकर वस्तुओं को उठाना-रखना, ये सभी कार्य आस्रवरूप हैं।

#### □ संवर द्वारा रुकता है कर्मबन्ध

आस्रव-वृत्तियों का प्रत्याख्यान कर आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों के चिपकने को रोकना संवर तत्त्व का कार्य है। सम्यक्त्व ग्रहण कर मिथ्यात्व का त्याग करना, व्रत-प्रत्याख्यान करना, क्रोधादि कषायों का उपशमन करना, प्रमाद का त्याग करना, त्रियोग में शुभ को स्थान देना, अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य व अपरिग्रहरूप अणुव्रतों का पालन करना, पाँच इन्द्रियों तथा त्रियोग को वश में रखने का प्रयत्न करना, विवेक के साथ जीवन-साधनों को लेना, रखना—ये हैं संवर की प्रवृत्तियाँ, जो आस्रवों को रोककर नवीन कर्मों की आवक को अवरुद्ध करती हैं।

#### □ तप करते हैं कर्म निर्जरण

संवर तत्त्व को ग्रहण कर नवीन कर्मबन्धन से बचता हुआ जीव पूर्व में बन्ध किये कर्मों को बारह प्रकार के अनशनादि तपों द्वारा निर्जरित करता है और मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ जाता है। जो महापुरुष तत्त्वज्ञानी बन आस्रवों से बचकर संवर-धर्म द्वारा नव-कर्मबंध नहीं करते हुए आभ्यंतर एवं बाह्य तपश्चरण द्वारा मुक्त हो चुके हैं या होने वाले हैं,

उन्हीं महनीय, वन्दनीय पुरुषों का गुण-कीर्तन चल रहा है 'बड़ी साधु वन्दना' पर दिये गये चातुर्मासिक प्रवचनों में।

#### □ नवम बलदेव श्री बलभद्र (बलराम)

बलदेव बलभद्र एवं वासुदेव कृष्ण के पिता थे वसुदेव जी। कृष्ण की माता का नाम था देवकी और बलभद्र की माता थी—रोहिणी। बलभद्र का शस्त्र हल था अतः ये हलधर के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। बलभद्र नीले रंग का दुपट्टा धारण करते थे, अतः नीलाम्बर व कृष्ण पीत रंग का दुपट्टा धारण करते थे अतः पीताम्बर भी कहे जाते थे।

वासुदेव जी के साथ देवकी के विवाह की कथा बलदेव बलभद्र और वासुदेव कृष्ण के जीवन-विवरण में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है और उस महत्त्व का कारण है मुनि अतिमुक्तकुमार की कंस-पत्नी जीवयशा को कही गई भविष्य वाणी।

#### □ वसुदेव जी का कंस पर उपकार

कंस मथुरा-नरेश था। मथुरा का राज्य कंस ने त्रिखण्डाधिपति राजगृही नरेश जरासंध से पुरस्कार में प्राप्त किया था। इस पुरस्कार को प्राप्त करवाने एवं जरासंध की पुत्री जीवयशा से कंस की शादी करवाने का सम्पूर्ण श्रेय वसुदेव जी एवं उनके अग्रज समुद्रविजय जी को था।

#### □ कंस का विवाह, मथुरा पर अधिकार, पिता उग्रसेन को बन्दी बनाना

समुद्रविजय जी शौर्यपुर के राजा थे एवं जरासंध प्रतिवासुदेव के अधीनस्थ थे। एक बार जरासंध के दूत ने आकर अपने स्वामी का सन्देश देते हुए कहा कि सिंहपुर नगर के राजा सिंहरथ को बन्दी बनाकर महाराज जरासंध के सामने प्रस्तुत करना है। वह बड़ा दुर्मद एवं दुःसह हो गया है। दूत ने महाराज का सन्देश देते हुए यह भी कहा कि सिंहरथ को बन्दी बनाकर लाने वाले के साथ महाराज जरासंध अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करेंगे तथा पारितोषिक रूप में एक समृद्ध नगर प्रदान करेंगे।

समुद्रविजय जी को एक निमित्तज्ञानी का वह कथन स्मरण हो आया, जिसमें उसने बताया था कि जरासंध की पुत्री जीवयशा पति व पिता दोनों कुलों का नाश करने वाली निम्न लक्षणों वाली नारी है। जरासंध की इच्छा की अवहेलना करना भी उनके वश की बात

नहीं थी। सोच-विचारकर उन्होंने वसुदेव जी को भेजा सिंहरथ को बन्दी बनाने के लिए और साथ में भेज दिया वसुदेव-सेवक कंस को।

वसुदेव जी ने सिंहरथ को बन्दी तो बना लिया पर वहाँ कंस की क्षत्रियोचित वीरता देख चकित हुए और भ्राता समुद्रविजय जी से सारी बात कही, यह भी बताया कि वस्तुतः सिंहरथ को बन्दी बनाने का श्रेय इस वीर को है। सुनकर समुद्रविजय जी मन ही मन मुस्करा दिये।

जरासंध के सम्मुख बन्दी-नरेश सिंहरथ को प्रस्तुत किया गया। प्रसन्न होकर जरासंध ने जीवयशा के लगन की बात की तो दोनों भ्राताओं ने सिंहरथ को बन्दी बनाने में कंस के पराक्रम का उल्लेख करते हुए बताया कि राजकुमारी जीवयशा को प्राप्त करने का वास्तविक अधिकारी तो कंस ही है।

कंस ने अपने स्वामी की बात सुनी तो मन ही मन कृतज्ञता से भर गया। जब जरासंध ने कंस के वंश की बात जाननी चाही तो समुद्रविजय जी ने कहा—“महाराज! यह पराक्रमी राजकुमार यादव-वंशी मथुरा-नरेश उग्रसेन का पुत्र है।

कंस का यह परिचय सुन त्रिखण्डाधिपति व अन्य सभासद तो चौंके ही, वसुदेव भी चौंके। स्वयं कंस अपने स्वामी के अग्रज शौर्यपुर-नरेश के मुख से अपने वंश के सम्बन्ध में यह बात सुन स्तंभित रह गया। इधर समुद्रविजय जी ने जरासंध से कहना जारी रखा—यह बालक शौर्यपुर के सेठ सुभद्र को वर्षों पूर्व यमुना नदी में बह रही एक कांसी की पेट्टी में मिला था। कांसी की पेट्टी में मिलने के कारण सेठ ने इसका नाम रख दिया था—कंस। उस पेट्टी में मथुरापति महाराज उग्रसेन व उनकी महारानी धारिणी की नामांकित मुद्राएँ थीं, कुछ कीमती रत्न थे और था एक पत्र। उसी पत्र में इस वीर के सम्बन्ध में परिचय लिखा था। बड़े होने पर इसकी क्रूर एवं हिंसक प्रवृत्तियों को देख सेठ ने इसे वसुदेव की सेवा में पहुँचा दिया।

जीवयशा की शादी कंस से हो गई पर कंस अपने पिता उग्रसेन पर इतना क्रोधित हुआ कि मन ही मन जलकर खाक बन गया। जरासंध ने जब उससे कहा—“कंस! अब बोलो तुम मेरे राज्य की कौन-सी समृद्ध नगरी के राजा बनना चाहते हो तो वह कह उठा—मुझे चाहिए मथुरा का राज्य।”

बंधुओं! उसने राज्य माँगा तो भी वह, जिसका उग्रसेन के बाद वह स्वयं अधिकारी बनने वाला था। क्रोध व्यक्ति के विवेक को समाप्त कर उसकी बुद्धि को भ्रष्ट बना देता है। ईर्ष्या एवं द्वेषभावों में जलता हुआ व्यक्ति कभी स्व या पर, किसी के भी हित का चिन्तन नहीं कर सकता। जरासंध ने कहा भी कि वह तो तुम्हारा ही होने वाला राज्य है। पर कंस ने कहा—“मुझे मथुरा अपने पिता के राज्य के रूप में नहीं चाहिए। मुझे तो मथुरा चाहिए, अपने पराक्रम के प्रतिफल के रूप में।” वस्तुतः कंस का क्रूर हृदय पिता को अतिपीड़ित करने का, दारुण दुःख देने का निर्णय कर चुका था।

कितनी विचित्र है कर्मों की माया? कैसे-कैसे दृश्य दिखाती है यह सांसारिक जीवों को? कर्म-सिद्धान्त दण्ड देने में सम्बन्धों का भी तनिक लिहाज नहीं करते। मथुरा नगरी का राज्य जरासंध ने कंस को दे दिया और साथ ही एक बड़ी सेना भी।

कंस सेना लेकर पहुँचा मथुरा और अपने पिता महाराज उग्रसेन को बन्दी बनाकर डाल दिया एक पिंजरे में। अब कंस मथुराधीश था। एक दिन उसने बड़े आग्रहपूर्वक अपने उपकारी, किसी समय स्वामी रह चुके वसुदेव जी को मथुरा बुलाया और अपने चाचा मृतिकावती नगरी के राजा देवक की राजकुमारी कन्या देवकी का विवाह उससे करवा दिया। महर्षि नारद के अनुसार देवकी राजकुमारी उस समय समस्त लोक में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, सर्वोत्तम नारी-रत्न थी। राजा देवक ने पाणिग्रहण-संस्कार के समय विशाल सम्पत्ति के साथ दस गोकुलों के अधिपति नन्द को भी गोकुलों के साथ समर्पित कर दिया।

#### □ अतिमुक्तक मुनि की वाणी : कंस ने मौत पहचानी

शादी के पूर्व किसी अवसर पर आमोद-प्रमोद में दिन व्यतीत हो रहे थे। राजमहलों में और सम्पूर्ण नगर में स्थान-स्थान पर नाच-गान, राग-रंग, हँसी-खुशी बिखरी पड़ी थी। इन्हीं आमोद-प्रमोद, राग-रंग के दिनों में एक दिन महामुनि अतिमुक्तक कुमार मासक्षमण का तपश्चरण पूर्ण होने पर पारणक के दिन गोचरी हेतु राजमहलों में पधारे। ये मुनि कंस के सांसारिक भ्राता, उग्रसेन के पुत्र थे। कंस ने जब बलपूर्वक मथुरा को अधिगृहीत कर पिता उग्रसेन को पिंजरे में डलवा दिया तो ये संसार से विरक्त हो मुनि बने थे।

जिस समय मुनि आहार-भिक्षार्थ राजमहलों में पधारे उस समय जीवयशा प्रसन्नतातिरेक में वारुणी-पान का अतिरेक कर बैठी थी। वह देवकी के साथ नाच रही थी, गा रही थी, झूम रही थी, खिलखिला रही थी। मुनि महल में भारी राग-रंग और जीवयशा को इस तरह

मदान्ध देख उल्टे पाँव लौटने ही लगे थे कि जीवयशा ने उन्हें देखा मद तो चढ़ा हुआ था, खुमारी में ही बोल उठी—“अरे देवर जी ! कितने दिनों बाद तो आये और यूँ वापस कैसे जा रहे हो ? देखते नहीं महलों के चप्पे-चप्पे में आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है। तुम भी तो इस आनन्द में हिस्सा लो। आओ मेरे संग। मैं नाचूँ, तुम गाओ। तुम नाचो, मैं गाऊँ। आओ हम दोनों झूमें, गायें, नाचें।

इम जीवयशा हांसो कियो ॥

देवर जी भल आविया, इण अवसर के मांहि हो।  
थें तो म्हाने लजाविया, लियो माथो थें मूंडाय हो लाल ॥ १ ॥

थें घर-घर टुकड़ा मांगता, लाजो नहीं तिल मात हो।  
थारा भाई री देखो साहिबी, वे छे करोड़ां नरा रा नाथ हो ॥ २ ॥

देखो पुण्यायी एक थारी, थाने देख्यां आवे म्हाने लाज हो।  
आवो रहो नी म्हारा राज में, तो सुधरे सगला थारा काज हो ॥ ३ ॥

ननद बाई रो म्हारे ब्याव छे, लख मण पिस्ता दिया भांग हो।  
और वस्तु को लेखो नहीं, पण भूंडो दीसे छे थाणों सांग हो ॥ ४ ॥

गीत गावो तो आवो पांत में, कूड़ा मत भाखो निमित्त हो।  
क्यूं भिड़काओ भोला लोगां ने, थारी दोन्यूं ही लोकां फजीत हो ॥ ५ ॥

सुनकर अतिमुक्तक कुमार ने कहा—

थारी थोड़ा दिना री साहिबी ॥.....

भावज साधपणो तो चक्री धारियो, म्हें लियो जनम सुधार हो।  
यूं तड़की ने ऋषिवर बोलिया, तूं काई गर्वी गिंवार हो ॥.....

नणदल बाई रो गर्भ सातवों, करसी कंस रो नाश हो।  
और जनक ने भाई तणो, तो ही दीजे शाबास हो ॥.....



एम कही ऋषि पांगुरिया, सुण्या वचनज कान हो।  
मुनि वचन नहीं अन्यथा, निरर्थक कियो एह गुमान हो ॥.....



बात कही निज कंथ ने, बोल्यो कंस महाराय हो।  
क्यूं छेड्या थे मुनि भणी, पिण हूं करस्यूं कोई उपाय हो ॥

बंधुओं! जीवयशा द्वारा इस तरह मुनि की हँसी उड़ाना उसके लिए महंगा सिद्ध हुआ। रंग में भंग पड़ गया। आनन्द से प्रसन्नचित्त हो खिलखिलाने वाले चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। कंस किसी भी तरह कोई ऐसा आसान रास्ता खोज रहा था कि जिससे देवकी व वसुदेव के सात गर्भ उसे मिल जायें और वह उन्हें मृत्यु के मुँह में पहुँचा दे।

#### □ बहन देवकी के सात गर्भ माँगे : कुटिलता की हद

मौत का कैसा भय? अपनी मृत्यु से अपने को बचाने के लिए सात अन्य नवोद्भूत प्राणियों की हत्या करना तो स्वीकार पर स्वयं पर आँच नहीं आनी चाहिए। स्वार्थ की पराकाष्ठा। यह है इस संसार की रीत। अपने हाथ सेंकने के लिए, अपना शीत दूर करने के लिए पराई झोंपड़ियों को जला डालना। यही किया कंस ने। एक दिन वसुदेव के साथ बैठे हुए कंस बड़े मृदु स्वर में उनके उपकारों को गिना-गिनाकर उनका अहसान प्रकट करने लगा पर यह सब मुख में राम बगल में छुरी की भाँति हो रहा था। राजिया का एक दूहा है—

मुख ऊपर मिठियास, घट मांही खोटा घड़े।

इसड़ा सूं इखलास, राखीजे नहीं राजिया ॥

कितनी सटीक शिक्षा कि घट के अन्दर जो खोटा घड़ते हैं, वे कभी उसे बाहर नहीं आने देते। वसुदेव जी तो वैसे ही सरल हृदय थे, कंस के हृदय की खोट को वे पहचान नहीं पाये, बस कंस के मुख की मिठास अर्थात् मधुर वचनों से रीझते रहे और कंस कितनी ही देर तक उनको फुलाता रहा। जब देखा कि अब लोहा गर्म है, चोट दी जा सकती है अर्थात् वसुदेव जी इतने अधिक प्रसन्न हैं कि इस समय इनसे किसी भी बात की स्वीकृति ली जा

सकती है, तो बोला—“आपने मुझ पर अत्यन्त उपकार किया है, मैं आपके उपकारों का बदला किसी भी तरह नहीं चुका सकता। जीवयशा जैसी पत्नी, त्रिखण्डाधिपति जैसा श्वसुर, मथुरा का राज्य-सब आप ही की कृपा का फल है। मैं चाहता हूँ कि मैं भी आपके प्रति अपना कर्तव्य निभाऊँ। देवकी से विवाह कर आपने एक और अहसान मुझ पर लाद दिया है। अब एक कृपा और कर दीजिये।”

वसुदेव जी अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे अतः बोले—“कहो, क्या चाहते हो मुझसे?”

कंस कुटिलतापूर्वक बोला—“मैं जानता हूँ कि मैं आपके उपकारों के बोझ से दबा हूँ, चाहूँ तो भी उन्हें नहीं उतार सकता पर कुछ भार तो हल्का हो। मैं बहन देवकी की सात सन्तानों को राजसी ठाट-बाट से, अपना पूरा प्यार-दुलार देकर पालना चाहता हूँ। आप देवकी के सात गर्भ मुझे देने का वचन देकर मेरी कामना पूरी करिये।”

वसुदेव जी के मन में किसी प्रकार का बहम, कोई शंका नहीं थी। उनका मन तो कंस के मधुर वचनों और उसके कपटपूर्ण-प्रेम की सुशान्त वायु में पेंगें ले रहा था। उन्होंने उसी प्रसन्नता में बात के मर्म को समझे बिना ही स्वीकृति दे दी।

#### □ वसुदेव जी ने भी जाना पर बुना जा चुका था ताना-बाना

वचन में बँधने के पश्चात् जब वसुदेव प्रथम बार अपनी नवविवाहिता पत्नी देवकी से मिले तो उसने पूछा—“आपसे कंस ने कुछ कहा तो नहीं।” वसुदेव जी ने कहा—“इस कथन से तुम्हारा उद्देश्य क्या है?” तब देवकी ने अपने विवाह प्रसंग पर घटा मुनि अतिमुक्तक वाला प्रसंग सुनाया। वसुदेव जी आकाश से जैसे धरती पर गिरे। कंस की कुटिलता का अब उन्हें भान हुआ पर तीर तो निकल चुका था। वचन दिया जा चुका था और वसुदेव जी ऐसे कि भले सूर्य पश्चिम में उग जाये, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे पर उनके वचन अटल!

#### □ हेरा-फेरी पुत्रों की : कंस-कुपित

उधर वसुदेव जी के वचन अटल तो इधर कर्मों की लीला बड़ी विचित्र, बड़ा अद्भुत इन कर्मों का खेल। देवकी के गर्भ से तो उत्पन्न हुए थे चरमशरीरी, दीर्घायु वाले, अतिसुन्दर पुत्र पर कंस के पास ले जाये गये मृत-पुत्र जो भद्रिलपुर की सुलसा नामक गाथा-पत्नी के थे। वह मृत-बन्ध्या थी। यह बात किसी निमित्तज्ञ से सुन वह बचपन से ही हरिणगमेषी

देव की आराधना, उपासना, सेवा करने लगी थी। देव प्रसन्न हुआ तो सुलसा ने पुत्रों का जीवन माँगा। देव ने ज्ञान लगाया और कहा—“मृत कभी जीवित नहीं हो सकते पर मैं किसी अन्य जगह से छह नवजात पुत्र लाकर तुझे लाभान्वित कर दूँगा।”

देवकी व नाग गाथापति की पत्नी सुलसा के गर्भ धारण साथ-साथ हुए। देव ने हेराफेरी की, इधर के उधर, उधर के इधर। जानता था देव कि वसुदेव जी के वचन-बंधन में इन्हें तो कंस के हाथों मरना ही है अतः मृत ही रखें तो भला ही होगा। देवकी के पुत्र जीवित रह जायेंगे और सुलसा को दिये वचन की पूर्ति भी हो जायेगी।

इस तरह क्रोधित कंस के हाथ सदैव मृत-पुत्र लगे और वह मरे हुएों को ही पछाड़कर मारता रहा। इसी क्रोध में उसने देवकी व वसुदेव जी के महलों पर गुप्त पहरा बिठा उन्हें नजर-कैद बना लिया था।

#### □ जेल में कृष्ण-जन्म

बंधुओं! उग्रसेन पिंजरे में थे और वसुदेव-देवकी थे नजर-कैद। इन्हीं अवस्थाओं में हमारे नवम् बलदेव बलभद्र के भ्राता कृष्ण-वासुदेव का देवकी के गर्भ से जन्म होता है। सातवें पुत्र के रूप में कृष्ण महाशुक्र देवलोक से च्यवकर जब देवकी के गर्भ में आये तो माता देवकी ने सात महाशुभ स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर उस महनीया माता ने भाद्रपद की कृष्ण पक्षी अष्टमी की अर्द्ध-रात्रि में श्यामवर्णी पुत्र कृष्ण को जन्म दिया।

भादव की अष्टमी आई,  
देवकी धणमन हरखाई,  
प्राण-पति को तब चेताई,  
जसोदा गोकुल में स्हेली।  
वचन मुझ आप्यो थो पेली ॥ १ ॥

गाफिल मत रह रे  
मेरी जान, गाफिल मत रह रे।  
मती रह गाफिल गलताणा,  
चले गए बड़े-बड़े राणा  
लिखा क्या अम्मर परवाना  
गाफिल मत रह रे ॥ टेरे ॥



गगन में इन्द्र देव गाजै,  
 नगारा-नौपत ही बाजै,  
 बौछारां शहनाई छाजै,  
 करो अब गोकुल की त्यारी।  
 मथुरा में जन्म्यो मुरारी ॥ २ ॥ गाफिल .....

इन्द्र जब बरस रह्यो जबरो,  
 जलामल हो गयो जग सगरो,  
 भेद नहीं लाधे है मग रो,  
 गगन में बिजुरियां जब दमके।  
 पला-पल पल-पल में चमके ॥ ३ ॥ गाफिल.....

कंस री धरती धूजाणी,  
 सिंह री दाढ़ां बंधाणी,  
 जेल रा ताला खुल जाणी,  
 जन्मे जब श्री सारंगपाणि।  
 अजब उण औसर री कहाणि ॥ ४ ॥ गाफिल.....

#### □ जेल से गोकुल तक की यात्रा

घनी काली अँधेरी रात। अर्द्ध-चन्द्र घटाटोप बादलों में रश्मि-रथियों को विकीर्ण करने में सर्वथा असमर्थ। चारों तरफ बरस रहे मूसलाधार पानी की आवाजों के अतिरिक्त शून्यता। रह-रहकर मेघ-गर्जन, तड़ित-तर्जन और दामिनी-दमक। हाथ से हाथ नहीं दिखता तो ग्राम-नगर का पथ भला कैसे दिखे? इस पर भी जब देवकी ने वसुदेव को सावधान किया और कहा कि इस बालक को किसी भी तरह गोकुल पहुँचा दो तो वसुदेव का मन हर्ष से नर्तन करने लगा। उन्हें लगा कि गगन में हो रही मेघ-गर्जना इस बालक के जन्म की खुशी में नगारा-नौपत वादन की तरह हैं, मूसलाधार बौछार की आवाज शहनाई की आवाज है और साक्षात् इन्द्र-देव इस रूप में पुत्र-जन्मोत्सव मना रहे हैं।

वसुदेव ने जेल बिल्डिंग के एक ओर कूड़ा-कचरा एकत्रित कर बाहर डालने के लिए रखी हुई सूपडी उठाई। बालक को उसमें लिटाया और उसे लेकर चलने को तैयार हुए तो

देखा सभी पहरेदार निद्रामग्न हैं, जेल के ताले टूटे हुए हैं। प्रकृति भी जैसे वसुदेव-देवकी-नन्दन की सहायक बन गई है।

हरखधर वसुदेव चाल्या,  
 किसन ने हाथां में झाल्या,  
 विघ्न पथ का सगरा टाल्या,  
 धन्य वो बालो गोविन्दो ।  
 सूरत लख लाजे देविन्दो ॥ ५ ॥ गाफिल .....

बिजुरी मानूं अपछरा मुलके,  
 गरज-घन ढोलक ज्यूं ढमके,  
 पवन भी देख रह्यो थमके,  
 धरण-दल नव गज है वधियो ।  
 निवाणे नीर-ही चढियो ॥ ६ ॥ गाफिल .....

पूर जद जमना में जाणी,  
 होठां में बाल-हंसी आणी,  
 अंगूठा फरस्यो जद पाणी,  
 नदी दो भागां में बंटगी ।  
 राह वसुदेव ने मिलगी ॥ ७ ॥ गाफिल.....

गोविन्द जी गोकुल में आये,  
 नन्द घर अति आनन्द छाये,  
 जसोमति को जस बढवाये,  
 गोप मिल मोद सूं नाचे ।  
 गोपियां गोविन्द रंग राचे ॥ ८ ॥ गाफिल.....

□ पुत्र दिया : पुत्री को लिया : कंस ने क्या किया ?

वसुदेव जी गोकुल पहुँचे। कृष्ण को नन्द-यशोदा के हाथ सौंपा। उनकी उसी रात्रि में उत्पन्न पुत्री को साथ में लिया और उल्टे पाँव मथुरा लौट आये। ज्यों ही उन्होंने जेल में अपने लिए निर्धारित कक्ष में प्रवेश किया, प्रकृति धीरे-धीरे शान्त होने लगी। ताले स्वतः पुनः

लग गये, पहरेदार सभी निद्रा से जग गये, बालिका इस तरह रोने लगी जैसे अभी-अभी उसका जन्म हुआ हो। पहरेदारों ने उसे उठाया और ले जाकर कंस को दे दिया। कंस ने देखा—‘कन्या’ है! सोचा—‘मुनि वाणी मिथ्या हुई, निमित्तज्ञ भी फेल हुआ। कन्या मेरा क्या बिगाड़ लेगी।’ उसने कन्या का नाक काटकर उसे वापस देवकी के पास भेज दिया। जैनेतर मत में कहते हैं कि उस बालिका को शिला पर पछाड़ दिया। जो बिजली बनकर आकाश में लुप्त होती हुई बोली कि तुम्हारा संहारक पैदा हो चुका है।

#### □ कहो कुण जग में है ऐसो, (क) मुझने मार लेवे जैसो

कंस सोचता था—‘इस समय मेरी शक्ति के समक्ष भला किसी अन्य की क्या बिसात है? कौन नृप है जो मेरे सुभटों का सामना कर सके? वस्तुतः इस पृथ्वी पर पुण्य, पाप, ईश्वर, धर्म आदि कुछ नहीं है। जो है सो ताकत है। जिसके पास लाठी, वही पालेगा भैंस। मेरे पास सत्ता है, शक्ति है, बुद्धि है। मैं चाहे कुछ भी कर दूँ, कोई मुझे कुछ कह नहीं सकता, मेरा कुछ बिगाड़ पाना तो सपना ही है।’

एक दिन कंस बहन देवकी के महलों में गया। वहाँ उस कन्या को भी देखा, जिसकी उसने नाक काटी थी। उसे हँसी आ गई। बहन से बोला—“उस मुनि ने कहा था—तेरा सातवाँ गर्भ मुझे मारेगा और सातवाँ गर्भ है तेरी यह कन्या। यह नकटी भला मुझे क्या मारेगी? मुनि ने जो कुछ भी कहा था, सरासर असत्य ही कहा था।”

इस तरह के अनेक वचन कहकर बहन व शिशु-कन्या की हँसी उड़ाते हुए वह वहाँ से चला तो आया पर मन में उसने निर्णय ले लिया कि मालूम करना चाहिए—मुनि-वचन मिथ्या है या कोई अन्य बात है?

वह राजसभा में आया, सिंहासन पर बैठा। सभा में अनेक पण्डित, ज्ञानी, धुरन्धर विद्वान्, निमित्तज्ञ, ज्योतिष आदि सभी बैठे थे। कंस ने अपने मन का प्रश्न उनके सामने रख दिया। इस प्रसंग का एक पद्यबद्ध रूप प्रस्तुत है—

सभा में कंस-राज राजे,  
सत्ता के गर्व में गाजे,  
इन्द्र भी देख सभा लाजे।  
कहो कुण जग में है ऐसो।

(क) मुझने मार लेवे जैसो ॥ १ ॥ गाफिल.....

### □ भूपत ! सो तुझको मारेगा

कंस के इस प्रश्न का चाटुकार सभासद भला क्या जवाब देते पर सभा में एक ज्योतिष-ज्ञान का गूढ़-ज्ञाता निमित्तज्ञ भी बैठा। स्पष्ट वक्ता व निर्भीक था, मृत्यु की भी जिसे परवाह नहीं थी, क्योंकि वह मानता था—मौत तभी आयेगी, जब उसे आना है। उससे पूर्व वह आ नहीं सकती।

बैठो तिहां एक ज्योतिष नाणी,  
बात तिहि ज्ञान सूं जानी,  
वदे वो निर्भय हो वाणी-  
राजाजी गरब मती आणो।  
माधव रे हाथां है जाणो ॥ २ ॥ गाफिल.....

कौन है यह माधव? कहाँ मिलेगा? किसके घर पैदा होगा? इन सब प्रश्नों का सीधा उत्तर न देते हुए उसने कहा—

अरि-घर रोवणो होसी,  
दुर्जन को तेज हर लेसी,  
सुजन घर सम्प ही रहसी,  
जनमता मथुरा धुजावेगा।  
(क) भूपत सो तुझ मारेगा ॥ ३ ॥ गाफिल.....

गोकुल में दाण जो लेसी,  
कांधे पर काम्बली रखसी,  
हाथ में बांसुरी रहसी,  
जमुना-तट रास रचावेला।  
(क) भूपत सो तुझ मारेगा ॥ ४ ॥ गाफिल.....

नाम से तुम आसन डोले,  
वर्ष जब व्है पूरा सोले,  
भरोसे मती रह तूं भोले,  
जो सत्भामा परणोगा।  
(क) भूपत सो तुझ मारेगा ॥ ५ ॥ गाफिल.....

गोवरधन निज कर धारेला,  
दूत तव सगला मारेला,  
पूतना राक्षसी झारेला,  
कालिये नाथ डारेगा।

(क) भूपत सो तुझ मारेगा ॥ ६ ॥ गाफिल.....

बैर्यां घट धाका पड़ जासी,  
नींद में जचका व्है खासी,  
सुतोड़ा सपना में आसी,  
सारंगधर चाप ही धारेगा।

(क) भूपत सो तुझ मारेगा ॥ ७ ॥ गाफिल.....

#### □ कंस-वध प्रसंग

निमित्तज्ञ की बातें सुनकर कंस घबराया। उसने मन ही मन निर्णय लिया कि वह येन-केन-प्रकारेण उस बालक को ढूँढ़कर उसे मृत्यु के मुँह में धकेल देगा। उसने अपने शक्तिशाली, प्रशिक्षित, चपलगति, क्रूर स्वभावी अश्व को उत्पात मचाने के लिए मथुरा के बाहर खुला छोड़ दिया। कंस का अश्व जान, सभी उससे बचकर रहते, हानि सहते। वह अश्व गोकुल भी पहुँचा। उसके उत्पात से गोकुलवासी दुःखी हो गये। कृष्ण ने तब अश्व पर विद्युत् की तरह चढ़कर उसे इतना घुमाया, इतना दौड़ाया कि वह हाँफ-हाँफकर मर गया।

कंस ने मेष व वृषभ भी भेजे पर कृष्ण ने उनका भी वही हाल बनाया और मौत के मुँह में उन्हें पहुँचा दिया।

खेल ही खेल में एक दिन कृष्ण एवं अन्य अनेक ग्वाल-बाल गोवर्धन-पर्वत की तलहटी में पहुँचे। वहाँ कौतुक ही कौतुक में कृष्ण ने गोवर्धन को अपने हाथों उठा लिया।

गेंद लेकर खेलने गये सभी एक दिन। गेंद पड़ गई यमुना नदी के जामुनी जल में। कृष्ण गेंद निकालने के लिए जमुना में कूद पड़े। वहीं उन्होंने भयंकर फणिधर कालिया-नाग को नाथ डाला।

वसुदेव ने सुना तो चिन्तित हुए कि ऐसी करतूतों से तो वह बालक प्रत्यक्ष में आ जायेगा अतः बलराम को बुलाया। उसे सारी बातें समझाई और शिक्षक के रूप में कृष्ण के पास भेज दिया।

भावी बलदेव और वासुदेव। महावीरों की यह युगल जोड़ी गोकुल में नित्य नये कौतुक करने लगी। बलराम ने कृष्ण को भाँति-भाँति की युद्ध-विद्याएँ सिखा दीं और कृष्ण ने अभ्यास कर उन सभी में पारंगता प्राप्त कर ली।

कृष्ण की लीलाओं के कारण गोप-बाल और गोप-बालिकाएँ उनकी दीवानी बन गईं। गोकुल की गायें भी उनसे प्रेम करने लगीं। उनकी बाँसुरी मानव, पशु, पक्षी सभी को भाने लगी।

कृष्ण की बढ़ती-चढ़ती यश-शक्ति से कंस घबरा रहा था। उसने कृष्ण को प्राणरहित करने के लिए पूरी तैयारी कर मल्ल-युद्ध उत्सव-आयोजन की घोषणा करवा दी। मथुरा में किसी बड़े महोत्सव की बात सुन कृष्ण ने बलदेव से कहा—“भैया! मथुरा में बहुत बड़ा उत्सव हो रहा है। हम भी चलें।”

बलराम ने स्वीकार कर लिया। दोनों तैयार होने लगे। कृष्ण ने माता यशोदा से स्नान के लिए गर्म पानी माँगा। यशोदा ने मातृ स्नेहवश सोचा—‘गर्म पानी मिलते ही स्नान कर चल देंगे ये दोनों भाई।’ वह आनाकानी कर ही रही थी कि बलराम आवेश में आ गए। कटुक शब्दों में यशोदा की भर्त्सना करते हुए नीच, अधम, गूजरी आदि शब्दों का प्रयोग किया। कृष्ण इस पर रुष्ट हो गये कि मेरी माता का अपमान किया जा रहा है। कृष्ण को रुष्ट देख बलराम ने कह दिया कि न यह तुम्हारी माता है, न तुम ग्वाले हो। तुम तो सिंह-शावक, मेरे भ्राता हो। महाराज वसुदेव के पुत्र हो। पूर्व में जो कुछ घटा उसका पूरा विवरण देते हुए बोले बलराम कि तुम्हें तो निश्चित रूप से अपने छह सहोदरों की हत्या का बदला लेना है, जिन्हें कंस ने जन्म होते ही पछाड़कर मार डाला।

दोनों चले मथुरा। नगरी के परकोटे में बने द्वार पर ही कंस के दो मदमस्त गजराज पद्मोत्तर व चम्पक खड़े थे। महावतों के प्रेरित करने पर वे चिंघाड़कर बलराम व कृष्ण की ओर दौड़ पड़े। दोनों वीरों ने अपने बाहुबल से इन दोनों का मद उतारा और प्राणहीन कर दिया।

महोत्सव में दोनों भाई पहुँचे तो वहाँ मल्ल-युद्ध हो रहा था। अनेक वीर हारे-जीते। अन्त में कंस की प्रेरणा से पर्वत से डीलडौल वाला, वर्षों तक अखाड़ों में मल्ल-विद्या सिखाने वाला चाणूर पहलवान उतरा। सभी को युद्ध के लिए उसने ललकारा पर कोई भी उसके समक्ष नहीं आया। चाणूर ने जब यह कहा कि क्या यहाँ उपस्थित सभी लोग कायर हैं? तब कृष्ण से नहीं रहा गया और अखाड़े में कूद पड़े।

वहाँ बैठे सभी चकित। एक ओर पहाड़-सा चाणूर और दूसरी तरफ एक दुधमुँहा बालक। सभी ने इस जोड़ी को असमान बताकर इस युद्ध को अनुचित ठहराया पर जब कृष्ण ने कहा कि गायों को दूध पीने वाले गोकुल के बालक का आप सभी कमाल देखें। 'गोकुलवासी' शब्द सुनते ही कंस के कान खड़े हो गये। उसने किसी की बात नहीं सुनी। उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय की बातें उसे वृथा लगनीं। शत्रु का पराभव होना ही चाहिए, भले ही वह अनीति से हो। अंग्रेजी कहावत—'Every thing is fair in love and war.' के अनुसार ही कंस के विचार थे। उसने युद्ध प्रारम्भ का संकेत ही नहीं किया, अपितु अनीति का सहारा लेते हुए अपने दूसरे महान् मल्ल-योद्धा—मुष्टिक को भी संकेत दिया। बलराम कंस का संकेत समझ गये। मुष्टिक अखाड़े में आया उसी के साथ अपने स्थान से उछलकर बलराम भी अखाड़े में आ गये।

बड़ी देर तक यह मल्ल-युद्ध चला। अन्त में दोनों ही कंस के धुरंधर मल्ल-योद्धा कृष्ण-बलराम के हाथों मारे गये। इस पर क्रुद्ध बन कंस ने अनुचरों को आज्ञा दी—“इन दोनों बालकों को मार डालो।”

कृष्ण ने सुना तो इतने कुपित हुए कि अखाड़े से उछलकर सीधे कंस के सिंहासन के निकट आ पहुँचे। उन्होंने कंस का मुकुट एक झटके में गिरा दिया, उसके केश पकड़कर उसे सिंहासन से नीचे खींचा और भूमि पर पटककर बोले—“पापी! याद कर अपने पापों को, हत्याओं को, गर्भ-हत्याओं को और तैयार हो जा उन सभी का फल भोगने के लिए।” कंस हाथी के समान भूमि पर पड़ा था और कृष्ण केशरीसिंह-शावक के समान उसके पास खड़े थे। अनुचर दौड़े कंस की सहायतार्थ पर बलराम ने एक स्तम्भ उखाड़ लिया और उसी के प्रहारों से सभी अनुचरों की उस फौज को भगा दिया।

कृष्ण ने कंस के मस्तक पर पदाघात कर उसे उसी शिला पर लाकर पछाड़ा जिस पर कंस ने कृष्ण के छह सहोदरों को पछाड़ा था। कंस काल के गाल में समा गया।

कंस भयभीत तो पहले ही था। उसने जरासंध को समाचार भेजकर उसकी सेना को बुला लिया था। मथुरा की भूमि मल्ल-युद्ध के स्थान पर जरासंध के सैनिकों के आक्रमण से रणभूमि में बदल गई।

कंस की कुटिलता से वसुदेव परिचित थे। अतः मल्ल-युद्ध की बात सुनते ही उन्हें दाल में काला स्पष्ट नजर आने लगा। उन्होंने अपने समुद्रविजय आदि सभी ज्येष्ठ बंधुओं तथा अक्रूर आदि पुत्रों को भी मथुरा बुला लिया था।

दो निहत्थे भाइयों पर जरासंध के हजारों सैनिकों का सशस्त्र टूट पड़ना—यह समुद्रविजय आदि दस दशार्ह को सहन नहीं हुआ। वे आगे आये तो जरासंध के सैनिक भाग गये। अब समुद्रविजय आदि एकत्र हो भ्राता वसुदेव से मिले। वहीं ज्ञात हुआ कि कृष्ण वसुदेव का ही पुत्र है। महाराज उग्रसेन को पिंजरे से मुक्त किया गया। कंस के शव का अग्नि-संस्कार हुआ। कंस-पत्नी जीवयशा अपना रोना-धोना लेकर जरासंध के पास पहुँची। महाराज उग्रसेन को पुनः मथुराधीश बना दिया गया। उग्रसेन ने अपनी सुन्दरी कन्या सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण से कर दिया।

#### □ द्वारिका का निर्माण : यादव वहीं बसे

अपने दामाद के वध तथा जीवयशा की दुर्दशा का बदला तो जरासंध को लेना ही था। युद्ध हो उससे पूर्व कृष्ण ने अपनी शक्ति बढ़ाने हेतु महाराज उग्रसेन व समुद्रविजय के साथ अठारह कुल कोटि यादवों को लेकर मथुरा छोड़ दी। विन्ध्याचल, सौराष्ट्र आदि को पार कर यह दल रैवतक पर्वत पहुँचा। पर्वत की वायव्य दिशा में लवणसमुद्र के स्वामी सुस्थित की आराधना कर कृष्ण ने सुस्थित व कुबेर की सहायता से बारह योजन लम्बी और नौ योजन विस्तार वाली स्वर्ण निर्मित, रत्नजटित, हय एवं गयशालाओं वाली अनेक महलों, उपवनों, वाटिकाओं, उपत्यकाओं, वाणिकाओं, सरोवरों वाली, विशाल राजपथों वाली अलकापुरी के समान समृद्धिशाली नगरी का निर्माण किया, नाम था उसका द्वारिका।

समस्त यादवों ने कृष्ण को शत्रु-संहारक मान उनका राज्याभिषेक किया। बलराम व कृष्ण के सुशासन में सभी यादव-वंशी वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

कृष्ण ने यहाँ शासन सँभालने के पश्चात् कृण्डनपुर के भीष्मक राजा की पुत्री और रुक्मिणी की बहन रुक्मिणी से विवाह किया। रुक्मिणी ने कालांतर में कृष्ण के समान ही एक



अद्वितीय वीर-पुत्र, प्रद्युम्न को जन्म दिया। कृष्ण की एक अन्य पत्नी जांबवती ने भी एक महावली पुत्र शांब को उत्पन्न किया। सत्यभामा से जो संतान उत्पन्न हुई वह कायर स्वभाव की थी, नाम भी उसका भीरुक था।

### □ कृष्ण बने-‘वासुदेव’

वर्षों बाद जरासंध को द्वारिका की समृद्धि सुनने को मिली। यह भी ज्ञात हुआ कि वहाँ का शासक वसुदेव-पुत्र श्रीकृष्ण है। बस! जरासंध युद्ध की तैयारियों में जुट गया। एक दिन उसने युद्ध के लिए प्रयाण कर दिया। अनेक अशुभ सकुन हुए पर उन्हें अनदेखा कर वह द्वारिका के निकट पहुँच गया।

घमासान युद्ध हुआ। कई दिनों तक युद्ध चला। अनेक योद्धा मारे गये। रक्त से कई योजन तक धरती लाल हुई। हजारों गिद्ध, चील, कौए, शृंगाल आदि ने महीनों तक भोजन पाया। समुद्रविजय जी के पुत्र तीर्थकर अर्हत् अरिष्टनेमि, वसुदेव-पुत्र बलदेव बलराम व वासुदेव कृष्ण का युद्ध-कौशल देख देवता भी हैरान थे।

अटल सिद्धान्त (नियम) के अनुसार वासुदेव कृष्ण के हाथों प्रतिवासुदेव जरासंध की हार हुई। जरासंध ने कुपित चक्र-रत्न का प्रयोग किया पर वह कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व में, स्कंद से कुछ ऊपर स्थित हो गया जिसे कृष्ण ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर धारण कर लिया। कृष्ण ने जरासंध को तब भी सावधान किया पर जरासंध नहीं माना और उसी के चक्र का प्रयोग कर कृष्ण ने उसका शिरच्छेद कर डाला। देव घोषणा हुई—“नवमें वासुदेव का उदय हो गया है।” कृष्ण ने तब तीन खण्ड को जीतने का अभियान प्रारम्भ किया जो छह माह के अनन्तर पूरा हुआ।

लौटने पर बलदेव बलराम तथा वासुदेव श्रीकृष्ण बहुत समय तक शासन संचालित करते हुए प्रजा-पालन करते रहे। बंधुओं! आज जन्माष्टमी है और कृष्ण-कथा बहुत विशाल है पर हमें मुख्यतया बलदेव बलराम की कथा का विचार करना है।

### □ द्वारिका का नाश—यादव कुल का विनाश

महाराज समुद्रविजय एवं महारानी शिवादेवी के अंगजात तीर्थकर अर्हत् अरिष्टनेमि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अनेक ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते द्वारिका नगरी में पधारे और सहस्रांशु वन में विराजमान हुए। प्रभु के दर्शन एवं वन्दन के लिए बलराम, श्रीकृष्ण

एवं समस्त राज-परिवार वहाँ गया। देवरचित समवशरण में प्रभु की अमोघ अमृतमय धर्मदेशना चल रही थी। सभी यथास्थान बैठकर देशना करने लगे।

कृष्ण के मन में विचार उत्पन्न हुआ—ये जालि, मयालि, उवयालि आदि यादव कुमार धन्य हैं जिन्होंने युवावस्था में संयम ग्रहण करके आत्म-कल्याण का पथ ग्रहण किया है। मैं तो राजसुखों में मगन हूँ, काम-भोगों में उलझा हुआ हूँ, संसार से विरक्त नहीं हो पा रहा हूँ। कहने को मैं अर्द्ध-चक्री हूँ पर कितनी असमर्थता, अशक्यता कि मैं प्रव्रज्या ग्रहण नहीं कर सकता। प्रभु-सर्वज्ञ हैं, पूछूँ इनसे कि क्या मैं दीक्षा अंगीकार कर सकता हूँ?

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त अरिष्टनेमि ने वासुदेव कृष्ण के मन में उत्पन्न भावों को जानकर कहा—“कृष्ण! सभी वासुदेव कृत-निदान होते हैं अतः उन्हें दीक्षा नहीं आती।”

इस पर कृष्ण ने पूछा—“भगवन्! यदि ऐसा है तो मेरा मरण किस प्रकार होगा?”

प्रभु ने कहा—“तुम्हारे भ्राता जराकुमार के द्वारा।”

कृष्ण ने फिर पूछा—“क्या द्वारिका में ही?”

प्रभु बोले—“नहीं, द्वारिका तो पहले ही नष्ट हो जायेगी।”

कृष्ण सुनते ही सकते में आ गये। सँभलकर पूछा—“द्वारिका के नाश का कारण क्या बनेगा?”

इस पर प्रभु ने बताया कि “द्वीपायन ऋषि, मदिरा और अग्नि—ये तीन तत्त्व द्वारिका विनाश के हेतु बनेंगे।” चिन्हित कृष्ण ने तब पूछ लिया—“प्रभु! द्वीपायन ऋषि का द्वारिका पर ऐसा अनिष्टभाव क्यों?”

भगवान ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया—“कृष्ण! किसी समय शाम्ब आदि यादव-कुमार मदिरापान कर नशे की अधिकता में बेभान हो घोर तपस्वी द्वीपायन ऋषि को निर्दयता से पीटेंगे। क्रुद्ध ऋषि तब सम्पूर्ण यादवों के साथ पूरी द्वारिका नगरी को जलाने का निदान करेंगे। मरणोपरान्त देव बनकर द्वीपायन ऋषि का जीव द्वारिका को जलाकर राख बना देगा। केवल तुम और बलराम बचकर निकल सकोगे। तब पाण्डु मथुरा जाते हुए तुम्हारी मृत्यु कौशाम्बी वन में तुम्हारे ही भाई जराकुमार के हाथों से होगी। मरकर तुम तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी में उत्पन्न होओगे।”

सुनकर कृष्ण के चेहरे पर खेद के भाव उभर आये तब तीर्थकर भगवन्त ने कहा—“खेद क्यों करते हो कृष्ण? वहाँ से निकलकर तुम जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में अमम नाम के बारहवें तीर्थकर बनोगे।”

महामहिमामय तीर्थकर जैसे पद-प्राप्ति की बात सुनते ही कृष्ण का खेदभाव विलुप्त हो, चेहरे पर हर्ष की रेखाएँ खिंच आईं।

बलदेव बलराम के पूछने पर प्रभु ने बताया कि वे यहाँ से ब्रह्म देवलोक में जायेंगे। वहाँ से च्यवकर मानव होंगे फिर मानव-भव की प्राप्ति कर अमम तीर्थकर के शासनकाल में मोक्षगति प्राप्त करेंगे।

समवशरण में जराकुमार भी था। प्रभु के मुँह से यह सारा विवरण सुन जराकुमार ने विचार किया—‘मेरे हाथों से भ्राता की मौत, यह तो महापाप है।’ वे केवल अपना धनुष-बाण अपने साथ ले द्वारिका को छोड़कर चले गये। मन में उनके संकल्प था कि इतनी दूर चला जाऊँगा कि पुनः यहाँ आ ही न सकूँ।

द्वीपायन तापस ने कई दिन पश्चात् लोगों के मुँह से यह सारी बात सुनी तो वह भी द्वारिका से दूर बहुत दूर जंगलों में चला गया, जिससे उसके द्वारा द्वारिका का अहित न हो सके।

इधर कृष्ण ने यादवों व द्वारिका की रक्षार्थ पूरे नगर में कठोर मद्य-निषेधाज्ञा करवा दी। द्वारिका के समस्त मद्य-पात्रों व मद्य-भण्डारों को अनर्थमूलक जानकर द्वारिका से दूर कदम्ब वन में फिंकवा दिया।

द्वारिका-विनाश से पूर्व जो दीक्षा लेना चाहें उनके लिए सभी तरह के सहयोग की कृष्ण ने घोषणा करवाई, इससे उत्साहित अनेक राजाओं, रानियों, राजकुमारों व नागरिकों ने मुनि धर्म स्वीकार कर लिया।

वैशाख मास की तन-बदन में अग्नि-सी दहकाती गर्मी पड़ रही थी। यादव-कुमार तपन से व्यथित हो कदम्ब वन की ओर घूमने चल पड़े। चलते-चलते प्यास लगी। कदम्ब वन में जो शराब फिंकवाई गई थी, वह शिलाखण्डों से होती हुई कादम्बरी गुफा के किसी शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। पड़े-पड़े कितने ही दिन बीत गये अतः वह मदिरा

अधिक नशीली, अधिक स्वादिष्ट हो गई। प्यासे यादव-कुमारों ने प्यास बुझाने के लिए उसे पीया। स्वादिष्ट लगी तो और पीया। अधिक पीने से नशा हो आया। नशे में वे सभी झूमते हुए घूमते फिरे। घूमते-घूमते उनकी नजर द्वीपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर, बेभान उन राजकुमारों को कौतुक सूझा। पहले तापस की अवहेलना की, मजाक उड़ाई, एक-दो हाथ लगाये फिर पीटने लगे। खूब मारा द्वीपायन तापस को। पहले तो तापस ने सहन किया फिर अधिक पीड़ा होने लगी। असह्य हो उठी पीड़ा तो निदान कर लिया कि मैं इन कुमारों और सम्पूर्ण द्वारिका को भस्मीभूत करूँ।

बात कब तक छिपती। कृष्ण को ज्ञात हुआ। वे बलराम भ्राता को लेकर ऋषि से क्षमायाचना करने गये तो ऋषि और भड़क गये, बोले—“दण्ड तो उन्हें मिलेगा। उनको भस्म करके यह पूरी द्वारिका जलाऊँगा।”

द्वीपायन ऋषि मरकर अग्निकुमार देव बने। उधर कृष्ण को बताया गया कि जब तक नगर में आयंबिल तप होते रहेंगे, देव नगर का नाश नहीं कर सकेगा। नगरवासी आयंबिल आदि तप करने लगे। प्रतिदिन क्रम बनाकर घरदीठ एक आयंबिल तो करना निश्चित ही कर लिया गया। ग्यारह वर्ष तक द्वीपायन ऋषि का अग्निकुमार देव बना जीव पूर्वभव के निदान के कारण द्वारिका जलाने के लिए अवसर ढूँढ़ता रहा पर नगर में चल रहे धर्म-अनुष्ठान के कारण उसका जोर नहीं चल पाया।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत हुआ, धर्मानुष्ठानों में शिथिलता आने लगी। एक दिन जिस घर में आयंबिल होना था, इस विश्वास से कि अब द्वीपायन क्या बिगाड़ करेगा? आयंबिल नहीं हुआ।

अग्निकुमार द्वीपायन को वह अवसर मिल गया जिसकी उसे प्रतीक्षा थी। संवर्त वायु के प्रयोग से उसने वन के घास-फूस, काष्ठ आदि द्वारिका में एकत्रित कर दिये और तब अंगारे बरसाने प्रारम्भ किये, द्वारिका जलने लगी। कोई भी बाहर नहीं निकल सका। जिसने प्रयत्न किया, देव ने उसे उठाकर आग में झोंक दिया। कृष्ण-बलराम दोनों भ्राताओं ने वसुदेव-देवकी को बचाना चाहा। रथ में बिठाकर चल पड़े। पर द्वीपायन अग्निकुमार ने रथ स्थंभित कर दिया। स्वयं बलदेव-वासुदेव अश्वों के स्थान पर जुटे तो रथ भग्न कर दिया। केवल दोनों भाई किसी तरह बचकर निकल सके।

### □ कृष्ण वासुदेव का अन्त

दोनों भाइयों ने अपनी बुआ कुन्ती तथा पाँच पाण्डवों के पास जाने का विचार किया। चले वे वहाँ से और चलते हुए पहुँच गये कौशाम्बी वन। कृष्ण को प्यास लगी तो बलराम पानी की खोज में उन्हें बिठाकर इधर-उधर घूमने लगे। काफी देर हो गई तो कृष्ण थके-से, तृष्णा-व्यथित पीताम्बर ओढ़कर एक वृक्ष की छाया में शिला पर लेटे और निद्रालीन हो गये। संयोग से भाई की रक्षार्थ द्वारिका त्यागकर वन-वन में फिर रहे जराकुमार उधर आ निकले। पीताम्बर और पदकमल-चिह्न को हरिण की आँख के भ्रम से उसने हरिण समझ शिकार के लिए तीर-संधान कर चला दिया।

प्रभु वाणी सत्य सिद्ध हुई। कृष्ण वासुदेव का अपने भाई के हाथों ही अन्त हुआ। बलराम के आने से पूर्व ही कृष्ण अपनी एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवन-लीला समाप्त कर तीसरी पृथ्वी के अधिकारी बने।

### □ बलदेव बलराम का प्रबल मोहोदय

बलदेव पत्तों के दौनों में जल लेकर आये। निद्राधीन समझ वे उनके जगने की प्रतीक्षा करने लगे। निष्प्राण भाई के शरीर को सप्राण समझ मोह-वश छह माह तक बलराम उसे कंधे पर उठाए-उठाए फिरे। छह माह पश्चात् जब ज्ञात हुआ कि यह तो भाई का पार्थिव शरीर है, इसमें से प्राण-पखेरू उड़ चुके हैं तब बहुत रोए, अत्यन्त विलापात किया।

### □ मोहटूटा तो संयम-पथ पर अग्रसर

अन्त में देवरूप मित्रों के समझाने पर उन्होंने उस मृत देह का अग्नि-संस्कार किया। संसार को असार, क्षण-भंगुर और जीवन को नश्वर जान विरक्त हुए, दीक्षा अंगीकार करके तुंगिया पर्वत पर कठोर तप द्वारा कर्मक्षय करने लगे।

### □ नगर-ग्राम से आहार लेने का त्याग

बलराम अपार सौन्दर्य के स्वामी थे। एक बार जब वे मासक्षमण-तप के पारणार्थ गोचरी के लिए निकले तो पनघट पर जल भरने आयी पणिहारियों में से एक स्त्री ने उन्हें देखा। वह कुँएँ पर पानी भरने आई थी। बलराम के सौन्दर्य से ऐसी मुग्ध बनी कि रस्सी का फंदा घड़े में डालने की जगह अपने बच्चे के गले में डाल दिया और कुँएँ में उतारने

लगी। मुनि ने देखा, स्त्री को सावधान किया और स्वयं ने नियम लिया कि आज के बाद वे कभी नगर में आहार के लिए नहीं जायेंगे। अब वे वन में ही साधना करते, वन में आते-जाते राहगीरों से प्रासुक आहार-पानी मिलता तो ग्रहण कर लेते।

#### □ बड़ई का दान, हरिण की उत्कृष्ट भावना

एक बार एक बड़ई लकड़ी के लिए जंगल में गया। भोजन उसके साथ था। मुनि को देखा तो उत्कृष्ट परिणामों के साथ भावना भाई। बलभद्र मुनि भी उसकी भावना और प्रासुक आहार जानकर ग्रहण करने लगे। बड़ई को आहार देते एक हरिण भी देख रहा था और मन ही मन बड़ई के भाग्य की सराहना करता हुआ विचार कर रहा था कि इसकी जगह मैं होता तो मुनिवर को आहार देकर जीवन सफल कर लेता।

#### □ बलराम, बड़ई, हरिण तीनों देव बने

इसी समय बड़ी तेज हवा चलने के कारण ऊपर से वृक्ष की एक शाखा टूटकर गिरी। बलभद्र मुनि, श्रद्धावनत बड़ई व शुभ परिणामी हरिण तीनों ही उसके नीचे दबकर मरण-धर्म को प्राप्त हुए। बलभद्र मुनि सौ वर्ष का श्रमण-पर्याय पालन कर ब्रह्मदेवलोक में पद्मत्तर विमान में देव बने। बड़ई व हरिण भी उच्च देवगति के अधिकारी बने।

#### □ जीतना है मोह को!

बंधुओं! मोह आठों ही कर्मों में सबसे प्रबल है। राजा है मोहनीय कर्म! राजा हार जाता है तो सम्पूर्ण राज्य हार जाता है। मोह को हराना है, मोहनीय कर्म को जीतना है। अतः आसक्तिभाव को कम करते हुए उन महापुरुषों का निरन्तर गुणगान करते रहिए, जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है तभी आत्म-कल्याण संभव है।

आनन्द ही आनन्द!



## मान करी मुगति गया : धन दशार्णभद्र राजा ए !

आत्म-बंधुओं !

परम कल्याणी, अमृतोपम जिनवाणी का गणधरों ने आगमों में सूत्र रूप में ग्रंथन किया है और उनके बाद आचार्यों, उपाध्यायों, संत-मुनिराजों, श्रमणोपासकों द्वारा उनका सतत चिन्तन और मनन होता रहा है, हो रहा है, होता रहेगा। विचार का विषय यह है कि आगम-विषय-वस्तु का चिन्तन-मनन क्यों? क्या उद्देश्य है इनके सीखने-पढ़ने-सुनने का?

□ नमो लोए सव्व साहूणं!

मानव का चरम और परम लक्ष्य एक ही है और वह है मुक्ति! किससे मुक्ति? भव-बंधन, भव-भ्रमण से, अष्ट-कर्म-कारा से! सभी चाहते हैं मोक्ष मिले, अव्याबाध-सुखों की प्राप्ति हो। कर्मबंधन एवं भव-भ्रमण काटने की पहली सीढ़ी है—चारित्र या संयम या मुनिधर्म। इस पहली सीढ़ी को नमस्कार महामंत्र के पाँचवें पद में रखकर उन्हें नमस्कार करते हुए कहा गया—“नमो लोए सव्व साहूणं।” अर्थात् इस लोक में जितने भी साधु (निर्ग्रन्थ) हैं, उन्हें नमस्कार हो।

साधु से ही उपाध्याय और आचार्य। साधु से ही अरिहंत और सिद्ध। सिद्ध तक पहुँचना है तो पहले साधु को भावपूर्वक, विनययुत नमन करना होगा। यह सब हम सीखते हैं आगम ज्ञान से। ज्ञान ही हमें यह बताता है कि पाप के पथों को त्यागकर, आस्रवों को छोड़कर संवर द्वारा नवीन कर्मबंध रोकते हुए निर्जरा-तपश्चरण द्वारा कर्म-निर्जरण कर मोक्ष की ओर अग्रसर होना है। इस तरह करते हुए ही वैराग्यभाव आएगा। साधु बन सकोगे, उपाध्याय-आचार्य बन अरिहंत-सिद्ध पद पा सकोगे। आत्म-विकास का यही क्रमिक पथ है।

पूर्व में अनेक भव्य आत्माएँ मुनिधर्म अंगीकार कर अणगार बनीं। ज्ञानाराधन कर उपाध्याय-आचार्य बनीं। निरतिचार संयम पालन कर उग्र तपश्चरण करते हुए 'स्व' स्वरूप प्राप्त कर मोक्ष में विराजमान हुईं। ऐसी आत्माओं को नमन, भाव-वन्दन कर उनका गुण-कीर्तन करने से हमारे भीतर भी गुण प्रकट हो सकेंगे, वे गुण जो हमारे भीतर में छुपे हैं, जो हमारे अपने, हमारी आत्मा के गुण हैं।

#### □ साधना के साथ आत्म-गुणों का प्रकाश हो

गुणों को भीतर में प्रकट करने से ही सिद्धि का मार्ग प्रशस्त बनता है। ज्ञानी, ध्यानी, योगी, तपस्वी अनेकों मिलेंगे पर आवश्यक नहीं कि उन्हें सिद्धि मिले ही। ऐसे-ऐसे उत्कृष्ट तपस्वी साधकों के वर्णन मिलते हैं, जो मासक्षमण के पारणे मासक्षमण तप करते थे। पारणे में वे क्या ग्रहण करते थे, जानते हैं आप? वे तृण के अग्र भाग पर आ सके उतना मात्र ही आहार-पानी ग्रहण करते थे। छह-छह माह तक वनों में पेड़ों की डालियों से उल्टे लटकते हुए और बारह-बारह वर्ष तक एक पाँव पर खड़े रहकर साधना करने वाले साधकों का भी वर्णन मिलता है। केवल पैर के एक अँगूठे पर खड़े रहकर तपःसाधना के उल्लेख भी आए हैं पर केवलज्ञान क्या इन साधनाओं से मिल पाया? नहीं, वह तो तब मिला, जब साधना के साथ सम्यग्दर्शनरूप आत्म-गुणों का भी प्रगटीकरण हुआ।

तप करना एक अलग बात है और सम्यक्-साधना करना एक अलग बात। एक सम्यक्-श्रमण या सम्यक्त्वी-श्रावक के साधारण तप की जैसी कर्म-निर्जरा होती है, वैसी कर्म-निर्जरा उत्कृष्ट अज्ञान-तप या बाल-तप की नहीं होती। सम्यग्दर्शन की धारणा नहीं तो मतिज्ञान भी मतिअज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान श्रुतअज्ञानरूप।

#### □ समर्पणभाव और शुभ अध्यवसाय

प्रभु महावीर के समय में तीन महातपस्वी तापस थे—कौण्डिन्य, दत्त और शैवाल। कौण्डिन्य उपवास के पारणे उपवास करते। एकान्तर तपाराधन में पारणे के दिन वे केवल कुछ कन्दमूल ग्रहण करते।

दत्त बेले-बेले पारणा करते और पारणे में पेड़ों से भूमि पर गिरे कुछ सूखे पत्ते मात्र खाते।



शैवाल तापस तेले-तेले की तपस्या करते और पारणे के दिन सूखी काई, सरोवर या समुद्री घास यदि सूखी मिले तो खाते। इन तीनों के ५००-५०० शिष्य थे। वे इसी भाँति तपस्या करते थे।

इन तीनों तापसों को तपस्या करते हुए एक लम्बी अवधि बीत गई पर केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। कारण क्या था, क्या आप बता सकते हैं? कारण था—सम्यक्त्व का नहीं होना। जिस दिन सम्यक्त्व प्राप्त होता है इन तपस्वी तापसों को, उसी दिन उनकी तपस्या कर्मों को नष्ट करने वाली बन जाती है और जिन श्री गौतम गणधर के कारण उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, उनसे भी पहले वे तापस और उनके पाँच-पाँच सौ अर्थात् कुल पन्द्रह सौ शिष्य केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन जाते हैं। कथा साहित्य में प्रसंग इस प्रकार है—

#### □ तीन तापस

श्री गौतम गणधर किसी समय अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। वे अष्टापद जी पर चढ़ने लगे। जब अष्टापद जी की पहली शृंखला पार की उन्होंने तो वहाँ कौण्डिन्य तापस को देखा। वह पूर्ण पुरुषार्थ करके भी यहीं तक चढ़ पाया था। उसने भी श्री गौतम गणधर को देखा तो सोचा—‘मैं इतना बड़ा तपस्वी जब इस पर्वत की पहली शृंखला से आगे नहीं बढ़ पाया तो यह स्थूलशरीरी भला क्या आगे बढ़ पाएगा? तापस तप से प्राप्त लब्धि के बल पर सूक्ष्मशरीर धारण कर सकते थे।

गौतम को तो बढ़ना था अतः वे आगे बढ़ गए। दूसरी शृंखला पर पहुँचे तो वहाँ दत्त तापस को देखा। उसने भी कौण्डिन्य की ही भाँति चिन्तन किया पर गौतम फिर आगे बढ़ गए। तीसरी शृंखला पर शैवाल था, उनका भी यही चिन्तन था पर गौतम को तो शिखर पर पहुँचना था, वे बढ़ते रहे और शिखर तक पहुँच गए।

#### □ समर्पित श्रद्धाभाव से सम्यक्त्व मिला

पुनः जब लौटे तो पहले शैवाल, फिर दत्त और तब कौण्डिन्य तापस—उनसे बहुत प्रभावित हुए। इन तापसों ने गौतम का, उनकी साधना का गुणगान किया और इस तरह सम्यक्त्व रूप रत्न को प्राप्त कर लिया। अब तक उनका तप अकामनिर्जरा करने वाला था पर सम्यक्त्व आते ही वह सकामनिर्जरा करने वाला सम्यक्-तप बन उन कर्मों का

नाशक बन गया, जिनके नष्ट होने पर साधक के लिए मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं। वे गौतम के प्रति मन ही मन समर्पित हो चुके थे। बंधुओं! जो साधक जिस आदर्श महापुरुष के प्रति समर्पण का भाव रखते हुए पूर्णतः अपने आप को समर्पित कर देता है, अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठता है, ऐसा समर्पणभाव समर्पित व्यक्ति को उस महापुरुष के गुणों में ही रँगकर एकमेक बना देता है।

#### □ तापस दीक्षित गौतम से

तीनों तापस इस तरह प्रभावित हुए गौतम से कि समर्पित हो उन्हीं के शिष्य बन गए, उनके सभी शिष्य भी गौतम के शिष्य बने। सभी को दीक्षा मंत्र दे, गौतम वहाँ से उन्हें साथ लेकर चल पड़े। तापस मुनियों ने पूछा—“भगवन्! आप कहाँ जा रहे हैं?”

#### □ प्रभु महावीर के पास, जो जगद्गुरु हैं

इस पर गणधर श्री गौतम ने कहा—“जिनका मैं शिष्य हूँ, हम सभी उन्हीं के चरणों में जा रहे हैं। मेरे गुरु हैं वे, मेरे ही क्यों वे तो जगद्गुरु हैं, जग-वंदनीय हैं।” नंदीसूत्र में आया है—

जयइ जग-जीव-जोणी-वियाणओ, जग-गुरु जगाणंदो ।

जग-णाहो जग-बंधू, जयइ जगप्पियामहो भयवं ॥

ऐसी विशेषताओं से युक्त, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी उन महाप्रभु की चरण-शरण में आप सभी चलोगे तो अनुपम आत्मानंद की प्राप्ति होगी।

वर्तमान युग में कभी ऐसा प्रसंग बने तो क्या होगा? शिष्य कहेंगे—“आ ! मेरा शिष्य बन। मैं तुझे देता हूँ दीक्षा मंत्र !”

गुरु के पास जाकर बैठ गया कोई भक्त-श्रद्धालु! शिष्य के दर्शन करने पर—“गुरुजी के पास क्या बातें कीं इतनी देर? लड्डू मिल गए क्या वहाँ? मेरे पास आकर बैठना चाहिए।”

बंधुओं! गुरु के प्रति मन में भी इस तरह की विचारधारा आ जाए तो शिष्यत्व को धिक्कार है। ईर्ष्या और द्वेषाग्नि यदि मन में है तो वह शिष्य क्या काम का? स्वयं डूबने वाला है वह और साथ में दूसरों को भी डुबो सकता है।

गुरु के प्रति चाहिए समर्पणभाव। यदि नहीं है मन में अटूट समर्पण तो साधक की साधना, जप, तप सभी व्यर्थ हैं, निष्फल हैं। वह कितना ही उत्कृष्ट तप कर ले, संयम धर्म का पालन कर ले पर मोक्ष-हेतुक कर्मनिर्जरा का कारण न तो वह तप है, न वह संयम। वह तो अकामनिर्जरा की श्रेणी में ही माना जायेगा। समर्पण और विनय देखिए गौतम का! कहते हैं—मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। देवेन्द्रों, महेन्द्रों, नरेन्द्रों द्वारा पूजित, वंदित, नमित ज्ञातपुत्र श्रमण भगवंत महावीर प्रभु ही जगत् के सभी प्राणियों के गुरु हैं।

#### □ गुरु गौतम से पहले शिष्य तापस केवली

गौतम का गुरु के प्रति ऐसा उत्कृष्ट विनयभाव देख तापस एवं उनके शिष्य और अधिक प्रभावित हो जाते हैं। गौतम विहार-पथ के मध्य विश्राम-स्थल पर सभी तापस शिष्यों को बताते हैं—प्रभु के समवशरण के विषय में। विस्तार से वर्णन करने के बाद कहते हैं—वहाँ बारह प्रकार की परिषदा होगी। आप सभी जहाँ संत-मुनि-निर्ग्रन्थ बैठते हैं, उस भाग में बैठना। बैठने से पूर्व प्रभु को विधियुक्त वन्दन करना, उनकी स्तुति करना।

तीनों तापस सुनते हैं, मन ही मन उन महाभगवंत का स्मरण, वंदन, गुणकीर्तन प्रारम्भ कर देते हैं। पहुँचते हैं समवशरण के पास, देखते हैं प्रभु का अतिशय और मन में शुभ अध्यवसायों की चढ़ती श्रेणी चढ़ती ही चली जाती है। ऐसी चढ़ती है कि समवशरण में गौतम के साथ चलते-चलते ही वे पन्द्रह सौ तीन मुनि शुभ से शुक्ल में पहुँच कैवल्य के अधिकारी बन जाते हैं।

चलते हुए मुनियों के बैठने की परिषदा आती है पर वे वहाँ नहीं ठहरते, चले जाते हैं और आगे। गौतम विचार करते हैं—‘कितना समझाया, कितना कहा पर इन्हें तो बात समझ में ही नहीं आई। बैठना जहाँ था, वहाँ बैठे नहीं और आगे चले जा रहे हैं।’

इधर वे सभी चलते हुए आगे जाकर प्रभु की प्रदक्षिणा करके केवलियों की परिषद में बैठ गए, तभी उधर प्रभु महावीर ने गौतम को सम्बोधित किया—“क्या सोच रहे हो गौतम! ऐसा सोचना त्यागो क्योंकि इस तरह के चिन्तन से केवलियों की असातना होती है।”

#### □ कैसी-कैसी लब्धियाँ गौतम के पास पर.....

गौतम ने यह नहीं सोचा कि यह कैसा अन्याय? मैंने उपदेश दिया, शिष्य बनाया, अभी इनकी क्या तो दीक्षा-पर्याय हुई और सम्पूर्ण ज्ञानी भी बन गए जबकि मैं इतना दीर्घ संयम-पालक, इतना ज्ञानी-ध्यानी अब तक छद्मस्थ साधक ही हूँ।

कैसी-कैसी लब्धियों के भंडार थे गौतम पर केवलज्ञान-केवलदर्शन अटका हुआ था। कहाँ? प्रभु के प्रति, अपने गुरुदेव के प्रति गौतम का प्रशस्त रागभाव ही बाधक बन रहा था। अन्यथा तो उनकी साधना-शक्तियाँ अत्यन्त चमत्कारी थीं।

### □ रास्ते में घटना

यही तीनों तापस, जिनकी कथा मैंने अभी आपसे कही है मुनि धर्म अंगीकार करने के बाद तपस्या-लीन थे। पारणे का दिन आया। तीनों तापस और उनके पन्द्रह सौ शिष्यों को स्वयं गणधर गौतम ने पारणा करवाया। सभी पन्द्रह सौ तीन मुनि बैठ गए पारणक के लिए। गणधर गौतम स्वामी ने अपनी झोली में से काष्ठ का पात्र निकाला। उस पात्र में थोड़ी-सी खीर थी। क्या उतनी-सी खीर से सभी पारणा कर पायेंगे? तभी गणधर गौतम ने अपना अंगुष्ठ का स्पर्श दिया उस खीर को। परोसते रहे बार-बार, सभी तृप्त हुए पर खीर ज्यों की त्यों थी। इसी घटना को लेकर यह दोहा बना—

अंगुष्ठे अमृत बसे, लब्धितणा भंडार।  
श्री गुरु गौतम समरिए, मन-वांछित फल दातार ॥

किस सीढ़ी पर पहुँचा दिया गौतम ने उन तापसों को। अब न शैवाल मुनि को शैवाल की आवश्यकता पड़ती थी, न दत्त को सूखे पत्तों की और न कौण्डिन्य को कंद-मूल की।

### □ एक ही चाह बने-सिद्धासिद्धिं मम दिसन्तु !

बंधुओं! जिनवाणी और उसके आराधक-साधक यदि उत्कृष्ट जिन-पालक हैं तो वे मनवांछित कामनाओं की पूर्ति करने वाले कल्पतरु, चिन्तामणि और कामधेनु तुल्य होते हैं। धन की चाह करिए उनसे, धन मिलेगा और मुक्ति की चाह करिए, मुक्ति मिल जायेगी। मुक्ति के लिए भोग और धन चाहा तो कर्म भार बढ़ जायेगा, मुक्ति के लिए चाहना की तो कर्मबंध टूट जायेंगे। अब यह आप पर निर्भर करता है कि आप अपनी चाह कैसी बनाते हैं? मुझे पूछें तो हर पल, हर क्षण एक ही चाह होनी चाहिए—“सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।” ऐसी सिद्धि जो कभी पुनः असिद्धि में परिणत न हो।

गौतम भी एक मात्र मुक्ति के इच्छुक थे। उन्होंने उन तापसों के कैवल्य-प्राप्ति पर केवल यही चिन्तन था कि मैं भारी कर्मा हूँ, मेरी करणी में अभी भी कुछ कसर है तभी तो...

### □ गौतम ! गुरु के प्रति प्रशस्त राग को भी मिटाओ

प्रभु बोले—“गौतम! प्रशस्त राग को, शुभ राग को भी अपने से दूर कर दो तभी केवलज्ञान, केवलदर्शन मिल पाएगा। प्रशस्त राग यथाख्यात चारित्र का बाधक है। जब तक यथाख्यात नहीं, तब तक केवलज्ञान भी नहीं।”

सांसारिक पदार्थों में आसक्ति, ममत्व, मोह, अप्रशस्त राग है। आपमें इस अप्रशस्त राग की बहुलता है। अब समय आ गया है कि आप अपने इस अप्रशस्त राग को प्रशस्त में परिवर्तित करें। सांसारिक पदार्थों एवं जीवों के प्रति लगाव को मोड़कर देव-गुरु-धर्म में अनुरक्त बनें। आपमें राग है, अनुराग है, कहने को भक्ति और उपासना भी बहुत है पर चिन्तन करें कि क्या आपका यह अनुराग, आपकी यह भक्ति और उपासना सच्ची है?

### □ क्या यह सच्ची उपासना है?—एक कथा प्रसंग

स्वामी विवेकानन्द एक बार अमेरिका गए। उनके आध्यात्मिक ज्ञान और उसे सहज में अभिव्यक्त करने का ढंग वहाँ के लोगों को भा गया। नित्य उनके भाषण होने लगे। स्थान-स्थान पर उन्होंने भाषण दिये। अमेरिका में वे जितने काल तक रहे, प्रतिदिन प्रातःकाल भ्रमणार्थ आया करते थे। भ्रमण उनकी दैनिकचर्या का एक अंग था।

एक दिन वे अपनी नियमित दिनचर्या के अनुसार प्रातः भ्रमण के लिए निकले। घूमते-घूमते वे एक कब्रिस्तान के निकट पहुँच गए। वहाँ जो दृश्य उन्होंने देखा तो चकित रह गए। विचार करने लगे कि मैं भारत में हूँ या यह नारी भारत की है? पर ऐसा कुछ भी न था। नारी सूरत-शक्ल से ही विदेशी लगती थी और वे निश्चित रूप से अमेरिका में ही थे फिर यह कैसी अजीब बात, कैसा अनोखा दृश्य?

उन्होंने देखा—कब्रिस्तान में बनी हुई एक कब्र पर इबादत करती हुई एक भद्र महिला। वह वहाँ अत्यन्त शान्ति और धैर्य के साथ कब्र के एक ओर बैठी थी। कब्र ताजा लग रही थी। ये सारी बातें तो साधारण थीं, इनमें आश्चर्य जैसी कोई बात थी नहीं। आश्चर्य की बात तो यह थी कि अमेरिका जैसे प्रगतिशील, घोर भौतिकवादी राष्ट्र में जन्मी, विदेशी संस्कृति में पली हुई, बड़ी हुई वह औरत उस कब्र पर हाथ में पंखा लिए हवा कर रही थी।

विवेकानन्द ने सोचा—‘आज सारी दुनियाँ कहती है कि विदेशी संस्कृति आध्यात्मिक संस्कारों से दूर शरीर, भोग और फैशन तक ही सिमटकर रह गई है। लगता है अभी यहाँ

बीजरूप में ही सही, पूर्वी देशों के ये संस्कार शेष हैं।' उन्हें कुतूहल हुआ। बड़ी देर तक वे उसे देखते रहे और सोचते रहे। अंत में जब भीतर के कुतूहल को सहन न कर सके तो उस कब्रिस्तान में, कब्र के निकट पहुँच उस नारी की ओर उन्मुख हुए और बोले—“बहन! यह किसकी कब्र है, जिस पर तुम इतनी श्रद्धा से पंखा कर रही हो।”

युवती ने ढीले-ढाले भगवा चोगे, दुपट्टे में उस पुरुष को एक नजर देखा। उसकी नजरों में कुछ विचित्र से भाव उभर आए। उसने कहा—“मिस्टर! यह मेरे पति की कब्र है, जिनकी आज ही आकस्मिक डेथ (मृत्यु) हुई है?”

अब विवेकानन्द ने कहा—“बहन! धन्य है तुम्हारी पति के प्रति यह श्रद्धा, यह सेवा! क्या तुम्हारे पति तुम्हें बहुत चाहते थे?”

विदेशी युवती ने तब कहा—“हे साधु पुरुष! ऐसा कुछ नहीं है, जैसा तुम सोचते हो। वस्तुतः मेरे पति ने अपनी वसीयत में लिखा है कि मैं जानता हूँ तुम मेरे मरने के बाद दूसरा पति अवश्य बनाओगी। यह तुम्हारा अधिकार है पर मेरी अंतिम इच्छा है कि मेरी कब्र की मिट्टी के सूखने तक तुम किसी अन्य से पुनर्विवाह मत रचाना, घर मत बसाना, किसी दूसरे पुरुष की पत्नी मत बनना। मेरा यहाँ आकर पंखा करने का उद्देश्य इस कब्र की मिट्टी को जल्दी से जल्दी सुखाना है जिससे मैं शीघ्र कोई दूसरा पुरुष अपने पति के रूप में चुन सकूँ?”

बंधुओं! क्या समझा था विवेकानन्द ने और वास्तविकता क्या निकली? क्या उस विदेशी महिला को पति-भक्त कहा जाए? क्या उसकी सेवा, सेवा है? क्या उसमें पति के प्रति श्रद्धाभाव है? स्पष्ट है कि ऐसा नहीं है। वह तो यह सब अपने स्वार्थपूर्ति के लिए कर रही है। जहाँ स्वार्थभाव है, वहाँ न श्रद्धा टिक सकती है, न उसमें सेवाभाव आ सकता है। यही बात यहाँ पर भी है। जो साधक स्वार्थभाव से, सांसारिक कामनाओं की पूर्ति हो-इस भावना से, लोभ के वश होकर लाभ के लिए प्रभु की सेवा, उपासना, गुणकीर्तन करता है तो उसकी ऐसी सेवा सच्ची सेवा नहीं, उसकी उपासना, उपासना नहीं, उसके सभी धर्मानुष्ठान आध्यात्मिक दृष्टिकोण से निरर्थक हैं, निष्फल हैं। मोक्ष का लक्ष्य बनाकर कर्म की निर्जरा का एक मात्र ध्येय रखते हुए जो साधक जप-तप-सेवा-उपासना-गुणकीर्तन करते हैं, वे निश्चय ही अपनी साधना, अपनी सेवा-उपासना को सफल बनाते हैं।

□ राजा दशार्णभद्र : मान करि मुगति गया

चल रहा है आपके समक्ष 'बड़ी साधु वन्दना' में उन्हीं महापुरुषों का गुणकीर्तन, जिन्होंने क्रोध-मान-माया-लोभ को एक ही क्षण में त्यागकर गौतम की तरह विनय को जीवन में अपनाया और निष्कामभाव से साधना के पथ पर चलते हुए मुक्ति की ओर बढ़ गए।

दशार्णभद्र राजा वीर वांछा धरि मान।

पछि इन्द्र हटायो दियो छः काय-अभयदान ॥२१॥

मान किसी भी मानी का रहा नहीं। समर्थ से समर्थ, शक्तिवान, ऐश्वर्य-वैभव का जिनके पार नहीं, ऐसे सम्राटों, चक्रवर्तियों, श्रीमन्त-सेठों का मान भी खंड-खंड हो बिखर गया। जैसे राज्य, वैभव, सौन्दर्य अस्थायी व नश्वर होते हैं, ठीक वैसे ही इन पर गर्व कर मद-मस्त बनने वाला व्यक्ति भी एक दिन उस स्थिति को प्राप्त हो जाता है, जब वह ठोकर खा जाता है। यह अवश्य है कि कोई ठोकर खाकर सँभल जाता है और कोई ठोकर खाकर गिर जाता है।

राजा दशार्णभद्र ने मान किया, उसका मान चकनाचूर हुआ पर वह गिरा नहीं बल्कि सँभल गया और मान करके मुक्ति जाने वालों में नाम पा गया।

भारत देश के दशार्णपुर नगर का राजा था दशार्णभद्र। वह जिनधर्मानुयायी था एवं अपने धर्म के प्रति उसके हृदय में अटूट श्रद्धा थी। एक बार भगवान महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते, भविजनों को प्रतिबोधित करते हुए दशार्णपुर नगर के बाहर उद्यान में पधारे। राजा दशार्णभद्र के पास सन्देश पहुँचा तो वह जिनानुयायी अत्यन्त हर्षित, प्रफुल्लित हुआ। उसने प्रभु की चरण-शरण में वन्दन करने, उनके दर्शन करने, उनकी देशना सुनने का विचार किया और अपने राज-चिह्नोचित आभूषणों के अतिरिक्त अपने पहने हुए सभी आभूषणों को उतारकर उन्हें उद्यानपालक-सन्देशवाहक को पुरस्कारस्वरूप दे दिये।

□ गुरु-दर्शन धर्म-प्रभावना है

धर्माचार्यों, आध्यात्मिक महापुरुषों, सज्जनों और गुणीजनों के पास जाना अपने जीवन को सद्गुणमय बनाता है। प्रभावशाली व्यक्तियों का समारोहपूर्वक अड़ोस-पड़ोस के श्रद्धालुओं के साथ धर्म-गुरु के दर्शनार्थ जाना धर्म-प्रभावना का रूप है। अन्यान्य लोगों में

इसका विशेष प्रभाव पड़ता है, वे भी जिज्ञासु और उत्सुक बन दर्शन की चाहना करने लगते हैं। इस पर भी एक बात ध्यान रखनी चाहिए। दर्शन-वन्दन समारोहपूर्वक हों पर भाव में विनय गुण हो। मान का अहंकारयुक्त विकारभाव नहीं हो।

वर्तमान में स्थिति बिल्कुल विपरीत है। यदि आपको गुरु-भगवन्तों के नगर-ग्राम में पदार्पण का, स्थानक में विराजमान होने का सन्देश देते हैं तो आप तिजोरियों पर एक के स्थान पर दो-दो ताले लगा देते हैं। आपके रोम-रोम में हर्ष की जगह चिन्ता व्याप्त हो जाती है। लोक लज्जा से व्याख्यान में जाना पड़ेगा। ग्राहकी अस्त-व्यस्त हो जायेगी, जिसमें अभी सीजन भी चल रहा है। आगे भी आप सोचते हैं मुनिजनों के पदार्पण से अनेकानेक बाहर के भक्तगण दर्शनार्थ, सेवार्थ, धर्म-क्रियार्थ यहाँ आएँगे, उनके भोजन, आवास आदि की व्यवस्था में लगना होगा, खैर लगने वाले लगेंगे सेवा में उनकी, लेकिन धन तो खर्च होगा, ओली लिखवानी पड़ेगी तब क्या बहाना बनाया जाए?

बंधुओं! अन्य बहाना न बन पाने पर इस प्रकार के प्रसंग को आडम्बर का बाना पहना दिया जाता है।

दशार्णभद्र ने प्रभु-दर्शन-यात्रा समारोह में अति की। उसने मन में विचार किया—‘मैं शक्ति-सम्पन्न हूँ, सत्ता-सम्पन्न हूँ, वैभव-सम्पन्न हूँ। प्रभु-दर्शनार्थ इस बार पूरे ठाट-बाट से जाऊँ। अपने समस्त राजसी ठाट-बाट, वैभव-सहित इस प्रकार से प्रभु के पास जाऊँ, जिस तरह से आज तक पूर्व में कोई भी न गया हो। सत्ताधीशों को सत्ता और वैभव का गर्व होना स्वाभाविक बात है। उसे भी गर्व था अपने अपार वैभव पर। मन में गर्व ने सिर उठाया और प्रभु-दर्शन में भी सम्पूर्ण वैभव प्रदर्शन का भाव आ गया।

उस दशार्णभद्र राजा ने अपनी भावनाओं के अनुरूप सम्पूर्ण नगरी में घोषणा करवा दी-सारे नगर को नव-वधू की तरह सजाने-सँवारने की। स्थान-स्थान पर मणि-माणिक्य के विशाल तोरण बँधवाए, ध्वज-पट्टिकाओं से राज-पथों को भर दिया, विशाल स्वागत-द्वार तैयार कराए। कलावंत लोगों को विशेष चौराहों पर अपनी-अपनी कला के प्रदर्शन का आदेश दिया।

स्वयं दशार्णभद्र ने सुगंधित इत्रादि मिले जल से स्नान किया। सुगन्धित द्रव्य का शरीर पर विलेपन किया। सर्वोत्तम वस्त्राभूषण धारण किए, रत्नजटित बहुमूल्य मुकुट धारण



किया, गजशाला से श्रेष्ठ गज मँगवाकर उस पर आरूढ़ हो वे प्रभु-वन्दन को चले। हाथी की पीठ पर स्वर्ण-आसन, स्वर्ण-छत्र। सेवक चँवर ढुला रहे थे, अनेक सेवक, भद्रजन, सामन्त राजा की जयकार कर रहे थे। अन्तःपुर से सभी रानियाँ, राज-परिवार, अनेक अन्य राजा-महाराजा, मंत्रीगण, सरदार, राजपुरुष एवं सम्मानित नागरिकगण भी राजा की उस सवारी के साथ बड़ी शान से चले। गज, अश्व, रथ एवं पैदल-चतुरंगिनी सेना भी उस शोभा-यात्रा में साथ चल रही थी।

राजा राजपथों से निकला। नगारा-निशान, ढोल-थाली, बेंड-बाजे आदि बज रहे थे अतः राजपथों की अट्टालिकाओं और जनपथ की वीथियों का दृश्य देखने लायक था। सहस्रों नारियाँ व बाल-युवा-वृद्धजन उस शोभा-यात्रा को देखने वहाँ एकत्रित थे। दशार्णभद्र नरेश उस समय साक्षात् इन्द्र के समान शोभित हो रहे थे।

#### □ चातुर्मासकाल में सन्त-दर्शनार्थ जाना : एक ज्वलन्त प्रश्न पर चर्चा

वर्तमान में स्थान-स्थान पर गुरु-दर्शन के लिए विभिन्न ग्राम-नगरों की यात्राएँ आयोजित की जाती हैं। आयोजक, आयोजन में भाग लेने वाले दर्शनार्थी-यात्री एवं दर्शनीय-वन्दनीय सन्त-मुनिराज सभी इन यात्राओं पर कभी न कभी चर्चा करते देखे जा सकते हैं। प्रश्न यह है कि क्या गुरु-दर्शन एवं मुनि-दर्शनों के लिए यात्राएँ करना उचित है? यह प्रश्न तब और भी जटिलता पैदा करता है जब आप श्रावक-श्राविकाएँ बसें लेकर चातुर्मास में संत-दर्शनार्थ निकलते हैं।

आगम विचार से सन्त-दर्शन व उसके लिए यात्रा-आयोजन उतना बुरा नहीं है, जितना समझा जा रहा है। यह ठीक है कि आज की इन यात्रा-आयोजनों में अनेक विकृतियाँ घुस गई हैं पर विकृतियों के कारण प्रवृत्ति को ही अधर्म या पाप मान लेना उचित नहीं जँचता। आवश्यकता इस बात की है कि चतुर्विध संघ उस पर ध्यान देकर उन विकृतियों को दूर करने में लगे पर इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। मूल तत्त्व को सुरक्षित रखकर विकृतियों को हटा दीजिए फिर देखिए उस धर्मचर्या को तो लगेगा वह बुरी नहीं है। जिन लोगों ने धर्म-संघ निकालने में विकृतियों को जन्म दिया, पनपाया, बढ़ाया-उन कुछेक लोगों के कारण सारा समाज क्यों चर्चा का विषय बने और उपालंभ सुने? ऐसे गिनती के लोगों के कारण ही यदि दृष्टि एकांतवादी बन जाती है तो इसे क्या कहा जाए? आज तो

उत्साह-उमंग से दर्शनार्थ बाहर से आए श्रद्धालुओं को कुछ संत स्वयं अपने मुँह से प्रताड़ित कर देते हैं—“क्यों कीड़े-मकोड़े आदि जीवों की हिंसा करते फिरते हो?” या फिर “आपके ग्राम या नगर में भी संत-सती का चातुर्मास है फिर यहाँ किसलिए आए हो?”

बंधुओं! संत, संत होता है, आत्म-कल्याणी होता है, ‘तिन्नाणं-तारयाणं’ के पथ का पथिक होता है। उसे न ऊधो से कुछ लेना है, न माधो को कुछ देना। संत यदि दर्शनार्थ जाने को कहते हैं तो भी प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं, वे दर्शनार्थ जाते हुआँ को रोकते हैं तो भी प्रायश्चित्त के हकदार होते हैं, दर्शनार्थ आए हुआँ का प्रताड़ित करना तो और भी अधिक प्रायश्चित्त का कारण है।

हाँ ! आने वाले सामायिक न करें, धर्मध्यान न करें, धर्मचर्चा न करें तो उसके लिए जप-तप के लिए प्रेरित करना साधक का कर्तव्य है और यही उसे करना है प्राथमिकता के आधार पर।

**न जाना खराब है, न आना खराब है।  
मेरी जो मानो बंधुओं ! केवल विकृतियाँ खराब हैं॥**

माउंट आबू क्षेत्र में विहार धर्म-प्रचार का एक प्रसंग है। हम संत अचलगढ़ में तपाराधना कर देलवाड़ा जा रहे थे। विहार में कुछ मिल गये संत। मेरा उनसे वार्त्तालाप हुआ। वार्त्तालाप के बीच संत कह उठे—“मैं तो जहाँ-जहाँ भी चातुर्मासार्थ जाता हूँ, वहाँ के लोगों को ऐसा बाँध देता हूँ कि वे पूरे चातुर्मास कहीं बाहर जाते ही नहीं।”

मैंने उनसे कह दिया—“शायद आपके प्रवचन इतने प्रभावशाली होते होंगे कि लोग स्वतः उस रसानुभूति को छोड़ कहीं बाहर जाना पसन्द ही नहीं करते होंगे।”

संत ने कहा—“ऐसी कोई बात नहीं है। प्रवचन जैसे होते हैं, वैसे ही होते हैं पर फिर भी अपनी-अपनी कला है।”

मैंने कहा—“अच्छ ! तब तो बड़े जोरदार कलाकार हैं आप?”

संत हँसे और बोले—“जहाँ भी हमारा चातुर्मास होता है, मैं वहाँ पर बाहर से आने वाले दर्शनार्थियों को कड़ी फटकार लगाता हूँ कि वे इस तरह क्यों चातुर्मास से बाहर भटककर जीव-विराधना करते हैं? क्यों नहीं वे अपने ही ग्राम-नगर में रहकर धर्मध्यान करते? तब स्थानीय श्रावक भी सुनते हैं और सोचते हैं—‘देखो महाराज कितने स्पष्टवादी, सत्यवक्ता,

निस्पृह हैं। बात तो महाराज की सच्ची ही है अतः हम भी पूरे चातुर्मास अब कहीं बाहर नहीं जाएँगे।” इस तरह मैं उन्हें सम्पूर्ण चातुर्मास तक बाँधकर रखता हूँ।”

बंधुओं ! मुनि-महात्मा ने जो कुछ कहा और उस कहने के प्रतिफल में जो भी चाहा, इस सब में एक बात उभरकर सामने आ गई कि अपने गृहस्थ भक्तों, श्रमणोपासकों के प्रति इनमें आसक्ति है, रागभाव है। प्रश्न केवल यही नहीं है कि इन यात्राओं में यात्रियों को क्रिया लगी या नहीं पर प्रश्न यह भी है कि आने के लिए मना करने वाले या जाने से रोकने में संत क्रिया के भागी बने या नहीं ?

#### □ आगमों में सन्त-दर्शन-प्रसंग

आगम उठाकर देखिए, पढ़िए और उनके अर्थ को हृदयंगम करिये। मैं क्या कहता हूँ, केवल उसी पर भले ही ध्यान दें या न दें पर आगम की मान्यता पर तो आपको भी मेरे साथ सहमत होना ही पड़ेगा। मैं कहता हूँ, वैसा मत करें पर आगम जैसा कहते हैं, वैसा तो करें।

#### □ वासुदेव कृष्ण का नेमि-दर्शन

आगमों में अनेक स्थानों पर राजा, महाराजा, सम्राट्, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के तीर्थंकर अर्हत प्रभु के दर्शनार्थ जाने का वर्णन आया है। ज्ञाताधर्मकथांग के पाँचवें ‘सेलए’ अर्थात् ‘शैलक’ नामक अध्ययन में अर्हत अरिष्टनेमि के द्वारिका आकर गिरनार पर्वत के निकट नन्दन वन उद्यान में ठहरने पर कृष्ण वासुदेव के उनकी सेवा में दर्शनार्थ जाने का वर्णन आया है। लिखा है—

तए णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लब्ध्ठे समाणे कोडुंबियपुरिसे सद्वावेइ, सद्वावेत्ता एवं वयासी—“खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! सभाए सुहम्माए मेघोघरसियं गंभीरं महुरसद्दं कोमदियं भेरिं तालेह।”

तात्पर्य यह है कि प्रभु के दर्शनार्थ जाने की कामना से वासुदेव कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुषों को शीघ्र कौमुदी भेरी बजाने को कहा।

उस कौमुदी भेरी की आवाज उस समय के भेरी-वाद्य बजाने वालों की सामर्थ्य एवं भेरी की दिव्यता को प्रकट करती है। वह आवाज नौ योजन चौड़ी और बारह योजन लम्बी द्वारिका नगरी के राजपथों, तिराहों, चौराहों, कंदराओं, गुफाओं, गिरिशिखरों, नगर के प्रासाद,

भवन, गोकुल, देवकुल आदि सभी स्थानों में लाखों प्रतिध्वनियों से युक्त होकर भीतरी एवं बाहरी भागों में समान शब्दायमान हो चारों ओर फैल गई।

क्यों बजवाई कृष्ण ने भेरी? क्या परिणाम हुआ उस भेरी के बजने का? आगम में उल्लेख मिलता है—

तए णं बारवईए नयरीए नवजोयणवित्थिण्णए बारसजोयणयामाए समुद्रविजयपामोक्खा दस दसारा, बलदेवपामोक्खा पंच महावीर, उगसेणपामोक्खा सोलस्स राईसहस्साइ, पज्जुणपामोक्खा अब्हुट्टा कुमारा, संबपामोक्खा सट्टु दुइंतसहस्साइं, वीरसेणपामोक्खा एक्कवीस वीरसाहस्साइं। अणंगसेणापामोक्खा अणेग गणिया सहस्साइं कौमुईयाए भेरीए सहं सोच्चा णि सम्महट्टुट्टा जावणहाया आविद्धबगघारियमल्लदामकलावा अहतवत्थचंदणोक्किन्नगायसरीरा अप्पेगइया ह्यगया एवं गयगया रह-सीया-संदमाणीया, अप्पेगइया पायविहारचारेणं पुरिसवग्गुरापेरिक्खत्ता कणहस्स वासुदेवस्स अंतियं पाउब्भवित्था।

तात्पर्य यह है कि उस कौमुदी भेरी का शब्द सुनकर द्वारिका के समुद्रविजय आदि दसों दशार्ण, बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त योद्धा, वीरसेन आदि इक्कीस हजार महान् पुरुषार्थी, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान, रुक्मिणी आदि बत्तीस हजार रानियाँ, अनंगसेन आदि अनेक सहस्र गणिकाएँ प्रसन्न हो, स्नान कर, नवीन वस्त्र धारणकर, चंदनादि लेपन कर कोई अश्वारूढ़ हो, कोई गजारूढ़ हो, कोई रथ पर तो कोई पालकी पर, कोई-कोई पैदल ही कृष्ण वासुदेव के पास आए।

कृष्ण ने इन सभी को साथ लिया, चतुरंगिणी सेना सजाई, विजय नामक गंधहस्ती पर सवार हो द्वारिका नगरी के बीचोंबीच होकर बाहर निकले और जहाँ गिरनार पर्वत तथा नन्दन वन था वहाँ गये।

#### □ महाराजा श्रेणिक का महावीर-दर्शन

बंधुओं! विवेकपूर्वक कार्य हो और भावना उत्तम हो तो द्रव्य से क्रिया लग सकती है और भाव से निर्जरा हो सकती है। ज्ञातासूत्र के साथ ही तेरहवें 'दहुणायं' अर्थात् 'दर्दुरज्ञात' नामक अध्ययन में महाराज श्रेणिक का प्रभु महावीर के दर्शनार्थ जाने का वर्णन है।

महाराजा श्रेणिक भी सुभटों, सैनिकों, रानियों, परिवार आदि के साथ सज-धजकर जाते हैं। इसी अध्ययन में गौतम के पूछने पर नन्दन-मणियार का जीवन-वृत्त सुनाकर प्रभु बताते हैं कि वही मेंढक बना, नन्दन पुष्करिणी में रहता था। लोग जो पुष्करिणी में नहाने, पानी भरने, पानी पीने आते, वे बातें करते कि श्रमण भगवान महावीर यहीं गुणशील उद्यान में समवसृत हुए हैं अतः हम भी वहाँ चलकर उन्हें वन्दन करें, नमस्कार करें, सत्कार-सम्मान करें, उपासना करें, देशना सुनें।

मेंढक ने ये सारी बातें सुनकर विचार किया—‘मैं भी जाऊँ और प्रभु महावीर को वन्दना करूँ।’ यह विचारकर वह नन्दन-पुष्करिणी से बाहर निकला, राजमार्ग पर आया। हे गौतम! मेरे दर्शन व मुझे वन्दन करने के तीव्र संकल्प के साथ वह दर्दुर राजपथ पर तीव्र गति से (मेंढक के योग्य तीव्र चाल से) चल रहा था कि श्रेणिक राजा के एक अश्व किशोर के बाएँ पैर से कुचला गया। अंतिम समय जानकर उसने वहीं एक ओर स्थित हो मुझे भाव-वन्दन किया प्राणातिपात विरमण आदि धारण किए हुए व्रतों के अतिचारों का चिन्तन, आलोचना कर जीवन पर्यन्त के लिए चारों आहार का प्रत्याख्यान लिया, काया के प्रति ममत्व का त्याग किया और मृत्यु के समय काल करके सौधर्मकल्प में दर्दुरदेव हुआ।

बंधुओं! राजा श्रेणिक प्रभु के दर्शनार्थ पहुँचे तो सर्वज्ञ प्रभु दर्दुर के काल-कवलित होने का सारा वृत्तान्त जानते थे पर उन्होंने नहीं कहा कि तुम्हारे यहाँ आने का क्या लाभ? मेंढक को मारकर, उसकी हिंसा करके आने में तुम्हें तो पाप ही लगा है। क्या वे श्रेणिक को या अन्य राजाओं को रोक नहीं सकते थे? कैसी है हमारी मान्यता? कैसा है हमारा ज्ञान? इस अधूरे, थोथे ज्ञान को आदर्श का जामा पहनाकर प्रस्तुत कर देने का आखिर क्या परिणाम होगा? कहाँ जाएगा यह जैन समाज, इस तरह के चिन्तन से? पीछे वाली पीढी भटक नहीं जायेगी?

भगवान महावीर के निर्वाण के अवसर पर—नौ मल्ली, नौ लिच्छवि १८ गणराज्यों के राजा तथा इन सभी गणों के राजाध्यक्ष महाराज चेटक भी उपस्थित थे। ये सभी पौषध व्रत में रत थे।

राजा कूणिक ने तो एक विभाग खोल रखा था—प्रभु महावीर के सुख-शांति, विहार आदि के समाचारों की प्राप्ति का। जब तक समाचार नहीं मिलते प्रभु के, तब तक वह शय्या से नीचे भी नहीं उतरता था।

हम राजा दशार्णभद्र के प्रभु-दर्शनार्थ जाने की बात पुनः प्रारंभ करते हैं। जा रहे हैं दशार्णभद्र नगर के राजपथों से होते हुए। सम्पूर्ण शोभा-यात्रा के ताम-झाम को, ठाट-बाट को, वैभव व नर-समूह को देख राजा मन ही मन फूला नहीं समा रहा है। उसके हृदय में 'मैं' खड़ा है सिर उठाए और विचारों की धारा में 'मेरा अपूर्व वैभव' जैसे शब्द ही बार-बार आ-जा रहे हैं।

‘मध्यम साधु वंदना’ में वर्णन आता है—

दशार्णभद्र राजा नीसस्या, कीनो महोच्छव भारी ए।  
 रथ सिणगास्या बाजणा, साथे पांच सौ नारी ए॥ नित...  
 मो सम किणं ही न वांदिया, मन में एक विचारी ए।  
 शक्रेन्द्र तिहां आय ने, दिया मान उतारी ए॥ नित...

□ शक्रेन्द्र द्वारा राजा दशार्णभद्र का मान भंग

राजा के मन में उत्पन्न इस वैभव के प्रति गर्व को अवधिज्ञान के बल से शक्रेन्द्र ने जाना। उसने विचार किया—‘वीतराग प्रभु की भक्ति, आराधना, उपासना में ऐसा गर्व, यह मान उचित नहीं है। उसे कुछ ऐसा सबक मिलना चाहिए कि उसका गर्व भंग हो जाए।’

आज्ञा ऐरावत ने दिवी, हाथी (वैक्रिय) साठ हजारो ए।  
 एक-एक हाथी तणा, मूण्डा पांच सौ बारो ए॥ नित...

इन्द्र ने ऐरावत नामक अपने देव को बुलाकर ‘उसे क्या करना है?’ बता दिया। आदेश पाकर देव ने अपनी माया का इन्द्रजाल प्रारम्भ किया। उस माया के फलस्वरूप गगन-मण्डल में साठ हजार हाथी उत्तम विधि से सुसज्जित एवं सभी प्रकार के गजाभूषणों से सुश्रृंगारित दिखाई देने लगे। प्रत्येक हाथी की ऊँचाई का मान कैलाश पर्वत की तरह जान पड़ता था। प्रत्येक हाथी के पाँच सौ सूँड़ थे। एक-एक सूँड़ में आठ-आठ तीखे लम्बे-श्वेत गज-दंत थे। एक-एक गज-दंत पर एक सौ आठ बावड़ी और एक-एक बावड़ी में एक सौ आठ खिले हुए कमल शोभायमान थे। हर कमल के एक सौ आठ पंखुड़ियाँ थीं और प्रत्येक पंखुड़ी पर देव-देवी गण बत्तीस-बत्तीस प्रकार के मन मुग्ध करने वाले नाटक कर रहे थे।

□ इहां तो मान रहे नहीं, हूं लेऊं संजम भारो ए

राजा दशार्णभद्र ने उस महावैभव को प्रभु समवशरण में उतरते हुए देखा तो उसका मन उदास, नयन-निर्जीव और मस्तिष्क सुन्न हो गया। ऐसा प्रदीप्त वैभव! मेरा वैभव तो इसके आगे पावें के नख-तुल्य भी नहीं है। कहाँ सूर्य और कहाँ नन्हा-सा टिमटिमाता दीप! उसका अपने वैभव के प्रति समस्त गर्व चूर-चूर हो गया। दर्प खंडित था, मान भंग था। अन्तःकरण में चिन्तन चला-मेरा मान व्यर्थ था, वैभव-प्रदर्शन व्यर्थ था। इस इन्द्र-वैभव की समता भला मेरे वैभव से कैसे हो? तभी विचारधारा ने मोड़ खाया और चिन्तन में अध्यात्म का रंग आ मिला।

देखी ऋद्धि इन्द्र तणी, चित्त पाम्यो चमत्कारो ए।

इहां तो मान रहे नहीं, हूं लेऊं संजम भारो ए॥ नित...

□ राजा दशार्णभद्र बने मुनि दशार्णभद्र

दशार्णभद्र ने सोचा—‘कोई ऐसा वैभव होना चाहिए, जिसके समक्ष यह वैभव भी फीका लगे। इन्द्र ने सारा वैभव धर्म-आराधना कर उसी से अर्जित पुण्य-प्रभाव से प्राप्त किया है। मैं यदि धर्म-साधना अपना लूँ तो मेरा मान करना सफल हो जाए। यह वैभव और इसका दर्प साधना के मार्ग के बाधक तत्त्व हैं, मुझे इसे त्याग देना चाहिए।’

दसण्णरज्जं मुइयं, चइत्ताण मुणीचरे।

दसण्णभदो निक्खन्तो, सक्खं सक्केणं चोइओ ॥

इस तरह मान को मिटाकर, शक्रेन्द्र के वैभव से प्रेरणा पाकर दशार्णभद्र नरेश संसार से विरक्त बन गए। मान को साथ लेकर राजमहलों से चलने वाले दशार्णभद्र राजा ने वहीं, उसी क्षण, समवशरण में प्रभु महावीर से दीक्षा देने की प्रार्थना की। अपने हाथों से सुकोमल, स्निग्ध, काले केशों का लुञ्चन किया। विश्वबंधु, जगदोद्धारक, परम कृपालु प्रभु वीर ने अपने पावन मुखारविन्द से उन्हें श्री जैन-भागवती दीक्षा-मंत्र प्रदान किया।

दशार्णभद्र ने इन्द्र को आव्हान किया—“वैभव के क्षेत्र मुझसे आगे निकलने वाले देवेन्द्र आओ! अब संयम अंगीकार करने में समानता कर लो तो जानूँगा कि मुझे यथार्थ चुनौती दे रहे हो।

### □ इन्द्र चरणों में झुका, मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया

स्वयं शक्रेन्द्र ने तब उन्हें वन्दन करते हुए कहा—“महामुने! ऋद्धि, सिद्धि, वैभव, ऐश्वर्य में यद्यपि मेरी शक्ति आपसे बहुत बढ़कर है पर जिस अपार वैभव एवं देवोपम भोगों को त्यागकर आपने तीर्थंकर प्रभु के चरणों में पंचमहाव्रतरूप संयम को अंगीकार किया है, वैसा करने की शक्ति मुझमें नहीं है। मैं आपके त्याग एवं वैराग्य का अभिनन्दन, प्रशंसा करता हुआ वन्दन करता हूँ। इस उत्कृष्ट मान में आपकी विजय हुई है।”

इन्द्र आय वन्दन करी, धन दशारणभद्र राजा ए।

थें तो संजम आदर्यो, थारां अधिका गुण गाजा ए॥ नित...

### □ भीतर में उतर जाए एक किरण

राजर्षि दशार्णभद्र ने जीवन के अंतिम समय तक निर्दोष दृढ़ संयम का पालन करते हुए संयमकाल में विविध उग्र तपश्चरण कर उत्कृष्ट भावों से सर्वकर्म क्षय किए और मोक्षगति के अधिकारी बने।

बंधुओं! न भोग का त्याग सरल है, न वैराग्य का उद्भव सरल है पर जिनवाणी का श्रवण करते, मुक्तात्मा महापुरुष की जीवन-गाथा पढ़ते एवं उनके गुण कीर्तन करते उत्कृष्ट रसायन यदि आ जाता है तो तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन निश्चित है। हम सूत्रार्थ कथनकर्ता और आप सूत्रार्थ श्रवणकर्ता, दोनों ही गुणियों के, मुक्तात्माओं के, त्यागी-विरागी-वीतरागी महानात्माओं के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए मन में चिन्तन बनाएँ कि उनके दिव्य जीवनादर्शों की कोई एक किरण हमारे भीतर में उतर जाए। जिस दिन ऐसा हो गया, मुक्ति का पथ हमारे सामने होगा।

आनन्द ही आनन्द!

